प्रकाशक का वक्तव्य

गत वर्ष साधु महासम्मेलन अजमेर के पश्चात् विहार करते हुए भारतभूषण, पण्डितरत्न, शतावधानी श्री रत्नचन्द्र जी महाराज ने आचार्यवर (उस समय युवाचार्य्य) श्री काशीराम जी महाराज के साथ जब पञ्जाब मे प्रवेश किया तो वह अपने साथ यह विचार लिये हुए पधारे थे कि जैन-धर्म के विशेष प्रचार के लिए अध्यापक और उपदेशक तय्यार करने के हेतु एक विद्यालय का प्रारम्भ किया जाय। समय समय पर श्री शतावधानी जी अपने इस विचार को विहारान्तर मे लोगो पर प्रकट भी करते रहे। जब आप का शुभागमन अमृतसर नगर में हुआ, और स्वर्गीय पूज्य शिरोमणि आचार्यवर श्री मोहनलाल जी महाराज से भेंट हुई और अमृतसर श्रीसंघ ने आपसे—विनती की कि उस वर्ष का चतुर्मास आप यहीं ही करें तो आप ने यह शर्त लगाई कि हमारी उपरोक्त स्कीम मे जिस स्थान के श्रीसघ की ओर से यदि पूर्ण नहीं, तो न्यून से न्यून आधी मासिक सहायता तीन वर्ष के लिए प्राप्त हो जायगी, वहीं पर प्रगामी चतुर्मास करने के विचार हैं। उस समय आपका विचार था कि अधिक से अधिक ४००) मासिक व्यय की आवश्यकता होगी। परन्तु विचार परिवर्तन से यह ज्ञात हुआ कि इससे द्विगुण व्यय होगा। अमृतसर श्रीसघ ने एक असाधारण मीटिंग बुलाकर यह निश्चय किया कि ४००) मासिक का व्यय वह अपने जिम्मे ले लेंगे। अत श्री शतावधानी जी का उस वर्ष का चतुर्मास श्री अमृतसर में ही निश्चित् होगया।

इस घटना के उपरान्त चतुर्मास मे अभी काफ़ी समय होने के कारण, और अन्य क्षेत्रो के श्रीसघों की विनती से प्रेरित होकर श्री शतावधानी जी पूज्य श्री काशीराम जी महाराज के साथ (जिन के बिना वह कहीं भी जाना नहीं चाहते) पसरूर, स्यालकोट,

जम्मू, गुजरावाला से होकर लाहौर पधारे। वहाँ आकर उपदेशक विद्यालय के विचार मे यह और परिवर्तन हुआ कि मासिक धन लेने के बदले एक मुश्त लेना अत्युचित होगा। इससे स्थिर कोष बन जायगा और उससे प्राप्त आय से कार्य-सचालन किया जाय, और जैन धर्म सम्बन्धी ग्रन्थो का प्रकाशन कार्य भी किया जाय।

इसी बीच पूज्य श्री मोहनलाल जी महाराज का देहावसान हो गया। और यह विचार उपस्थित हुआ कि स्कीम को स्वर्गीय पूज्य श्री के स्मारक रूप मे चलाया जाय। अत चतुर्मासान्तर मे श्री शतावधानी महाराज की प्रेरणा से २५०००) हजार से ऊपर की रकम अमृतसर निवासी भाइयो ने जमा कर इम्पीरियल बैंक मे खजाचियो के नाम से जमा करा दी। इसके अतिरिक्त और अनेक वादे प्राप्त हुए जिनका पूरा विवरण अलग रिपोर्ट मे दिया जायगा। इस प्रकार श्री सोहनलाल जैन-धर्म प्रचारक समिति का उदय हुआ है। इस समय नकद और वादे मिलाकर समिति के पास पचास हजार रुपये के अनुमान की सम्पत्ति होगई है। कार्य करने के इच्छुको के लिए सुवर्ण अवसर है कि इस अवसर से धर्म के कार्य को करने का लाभ उठावे।

समिति के उद्देश्य—

१—जैन धर्म के विशेष प्रचार के लिए उपदेशक तथा शिक्षक तय्यार करना और उनसे प्रचार करवाना।

२—३२ आगमो तथा अन्यान्य प्राचीन जैनग्रन्थो का शुद्धरूप में सम्पादन और प्रकाशन करना।

३—साधारण जनता तथा विद्वानो के लिए आधुनिक (भारतीय तथा यूरोपीय) भाषाओ मे जैन ग्रन्थ तैयार कराना।

उद्देश्यो की पूर्ति के क्रम मे यह प्रथम पुष्प 'भावनाशतक' नाम से आपकी सेवा मे उपस्थित हो रहा है। इसमें बारह भावनाओ का

स्वरूप सविस्तार और मनोरंजक विधि मे वर्णन किया गया है। आशा है, सर्व साधारण इससे उचित लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे।

इस पुस्तक के छपाने और प्रकाशन मे सर्व कार्य लाला बरकत राम साहिब, मालिक फर्म लाला इन्द्रपाल बरकत राम फरीद कोट निवासी ने अपने पास से किया है। इस के लिए समिति आप का अनेकश धन्यवाद करती है। इन पुस्तकों के विक्रय से जो धन प्राप्त होगा, वह इसी खाते मे जमा किया जायगा ताकि भविष्य मे इसी पुस्तक के अन्य संस्करण और अन्य भाषाओं मे प्रकाशित करने की सुविधा भी बनी रहे।

सेवक—

हरजसराय जैन बी० ए० आनर्ज,

अमृतसर] मन्त्री

श्री मोहनलाल जैन-धर्म-प्रचारक समिति
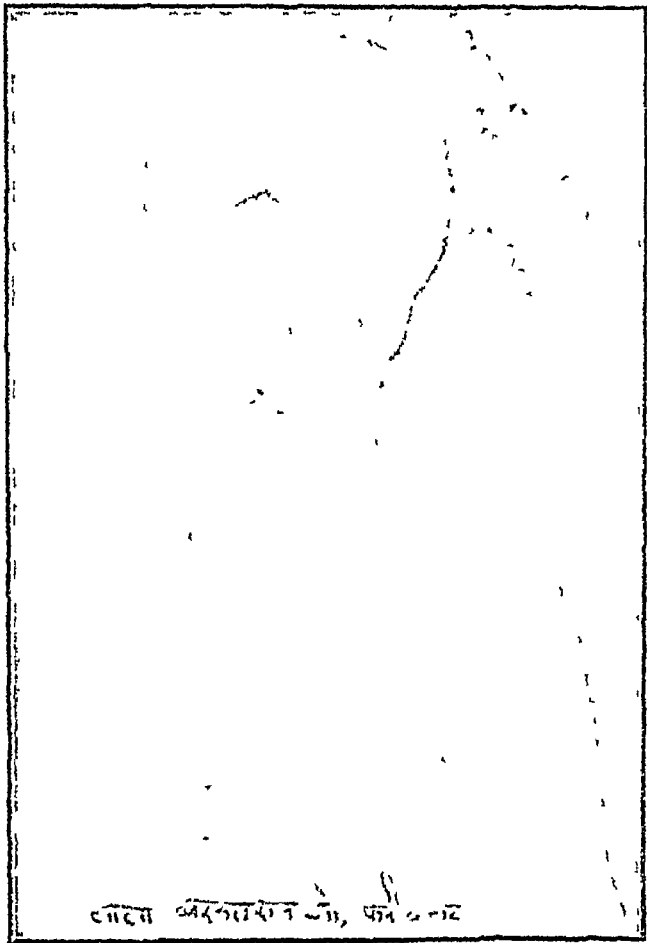
शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	८	सद्भावना	सद्‌भावना
८	६	वधिरयंति	वधिरयति
१६	१०	काचिद्रजा	काच्चिद्रजा
१६	१२	प्रशिनाम	प्राणिना
१६	१६	पोषितम्	पोषितं
३५	६	जातीहि	जानीहि
६५	४	पुष्पसि	पुष्यसि
७१	२०	भागभाजाम्त्वया	भागभाजस्त्वया
७३	१८	करले देह्	कर देह
८७	१६	हतुं	हृता
६६	१०	जननिमृति	जनिमृति
११४	२१	असो	अगात सो
१२१	४	इहो	इहं
१२१	५	चेपगा	चेयगा
१२१	१४	चेपगा	चेयगा
१४७	१६	भाग	भारा
१४७	१७	भा०	गा०
१५१	१७	दारिद्र्य	दारिद्र्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५२	१७	त्या तंरे	त्या तेग
१७४	१२	सग्वाम	मखाय:
१७४	१३	वमन्ता	वसन्तो
१७४	१४	क्रिर	किं
१७६ अ	५	तवास्थि	तत्रास्ति
१७६ अ	१०	सञ्चित्त	सञ्चित्
१८२ अ	२१	किञ्चि०	किञ्चित्०
१८२ अ	२१	चानुच्छे	चानुगच्छेत्
१९१	२	मेऽह्माप	मेऽह्मपि
१९२	१०	अयांतसद्यो	अयांत सो
१९७ अ	७	प्रतिदिवमा	प्रतिदिवम
१९७ अ	६	म्त्रागतिमपि	स्वगतिमपि
२०२ अ	१०	सुजिष्य	सुजिष्या
२०२ अ	१३	म्तत्व	म्तत्व
२०२ अ	१३	पञ्च	पञ्चम
२२०	८	माहिं	माहि
२३०	१६	पदार्थाचित्कार्य	पदार्थाचितकार्यं
२३१	१६	पया	पड्या
२३२	१६	विमुह्मन	विमुह्य
२५५	१४	शाक्तं	शक्ति
२५६	१६	पुराण्भवस्सा	पुराण्भवस्स

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८७	१०	द्वादशथाऽव्य	द्वादशथाऽव
३१८	१३	वद्य	वय
३१८	१४	गेतै	मेतै
३२१	४	लोमेव	लोमेन
३३०	८	द्रतं	द्रतं
३३३	७	वाह्नर्विनापो	वह्निर्विनापां
३३६	५	नाग्ग	नाग्गा
३४६	८	उच्चैना०	उच्चैर्नां०
३६७	७	श्चित	श्चिन्
३६७	६	मुक्त्य	मुक्त्यै
३६२	६	विधेया	विधेहि
३६५	११	माहं	माडं
३६५	११	दुक्खाह	दुक्खाड
३६५	१२	आणिच्चं	अणिच्चं
३६७	१	सम्बद्ध	मन्नथ
३७४	६	मंवमे	संवमे
३७६	१३	प्रवरकीरणा	प्रवरकरिणा
३७६	१५	दुष्प्राय	दुष्प्राप
३८०	१	वयन्ति	वप्रन्ति
३८१	१७	दहुया	द्रमुया
३८४	५	वीरवाक	वीरवाक्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३८६	५	चित्तापहारका	चित्तापहारक
३८६	१५	तुलमी तेनो	तुलसी तिनो
३८६	१८	तुलसी तेनो	तुलसी तिनो
३८६	१७	गयां	गये
३८७	१०	उत्तमधाम्म	उत्तधम्म
३८७	२०	ससा	ससार
३८८	६	श्रद्धा	सद्धा
३६८	६	विपदो	विशदो
४१३	११	स्वर्गापिवर्ग	स्वर्गापवर्ग
४१६ क	११	जयॉगी	जॉयगी

नोट:—२१० पृष्ठ से लेकर आखिर तक श्लोक संख्या मे सात सात अंक का फरक है। जैसे २१० पृष्ठ में २६वें श्लोक की अंकसख्या ३६ चाहिए। ऐसे ही ६०वें अक तक जो श्लोक हैं, उन्हे सात बढा कर समझें ।

: नमो वीतरागाय :

भावना-शतक

हिन्दी-अनुवाद-सहित

मंगलाचरण

श्रीवृन्दारकवृन्दवल्लभतरं कल्पद्रुतुल्यं सदा।
नत्वाऽऽखण्डलमण्डलार्चितपदं श्रीवर्धमानं जिनम् ॥
स्मृत्वा हृद्यजरामरं गुरुगुरुं निर्मीयते बोधदम्।
भव्यानां भवनाशनाय शतकं सद्भावनानामिदम् ॥ १ ॥

अर्थ—देवों के समुदाय को अत्यन्त प्रिय, आश्रित जनों को इष्ट फल देने में सदा कल्पवृक्ष के समान, इन्द्रों के समूह द्वारा आदर सहित पूजित तथा राग द्वेष को जीतनेवाले श्रीवीर भगवान् को हृदय में स्मरण करके भव्य जीवों के भवभ्रमण के नाशक बोध को देनेवाले 'भावना-शतक' नामक इस ग्रन्थ का निर्माण किया जाता है।

विवेचन—ग्रन्थ के आरंभ में इष्टदेव नमस्कार आदि रूप मंगलाचरण करने की परम्परा शिष्टाचार का अनुसरण करनेवाली होने के अतिरिक्त 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' इस नियम के अनुसार ग्रन्थ की समाप्ति

रूप श्रेय-कार्य में आनेवाले विघ्नों को हटानेवाली भी मानी जाती है; इसलिए ग्रन्थकार का लक्ष्य, मंगलाचरण में नमस्कार करने योग्य किसी इष्ट व्यक्ति की ओर खिंचता है। यों तो नमस्कार करने योग्य अनन्त व्यक्ति साधारणतया उपस्थित होते हैं परन्तु जिस व्यक्ति का ग्रन्थ-कर्त्ता और ग्रन्थ-वाचक पर विशेष उपकार है, जिसके वचन-विलास से वर्तमान काल में भी विशिष्ट बोध की प्राप्ति हो सकती है, उन निकट-उपकारी शासन के स्वामी अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी को ग्रंथकार ने प्रथम नमस्कार किया है। यहाँ मूल-श्लोक में सर्वत्र प्रसिद्ध 'महावीर' पद का प्रयोग न करके 'श्रीवर्द्धमानम्' पद का प्रयोग किया गया है। इसका हेतु यह है कि ज्ञान-सम्पत्ति, चारित्र-संपत्ति और मोक्ष-सम्पत्ति की सिद्धि के लिए भावना की वृद्धि किस मार्ग से हो सकती है, इस प्रकार का विचार ग्रंथकार के मन में रम रहा है। ग्रंथकार के इस विचार के साथ 'वर्द्धमान' शब्द के अर्थ का मेल बैठता है। 'वर्द्धमान' पद वृद्धि अर्थवाले 'वृध' धातु से निष्पन्न हुआ है और वह सहेतुक है। वीर भगवान् के समागम, दर्शन और स्मरण मात्र से भी प्रत्येक उत्कृष्ट वस्तु की वृद्धि होना संभव है, अतएव इस जगह 'वर्द्धमान' पद का प्रयोग करना ही सर्वथा उचित है।

यहाँ वर्द्धमान पद के चार विशेषण हैं। पहला 'जिन' (राग-द्वेष को जीतनेवाले) यह विशेषण वीतराग अवस्था-दर्शक है। दूसरा 'कल्पद्रुतुल्य' (इष्ट मनोरथों को सफल करने में कल्पवृक्ष के

समान) यह विशेषण वीतराग अवस्था के कार्यरूप ज्ञान-सम्पत्ति को प्रदर्शित करता है। 'देवो को अत्यन्त प्रिय' और 'इन्द्र-द्वारा पूजित' यह दोनों विशेषण वीतराग अवस्था की सहज विभूति या पूजातिशय को प्रकट करते हैं। नमस्करणीय वीर प्रभु की वीतराग अवस्था और उस अवस्था की सपत्ति को यहाँ स्मरण करने का कारण यह है कि इस ससार मे यदि कोई शान्ति का स्थान हो सकता है, तो वह वीतराग अवस्था ही है। कहा भी है—

न वि सुही देवता देवलोए, न वि सुही पुढवीवई राया।
न वि सुही सेट्ठि सेणावई य, एगंत सुही मुणी वीयरागी॥

जो अवस्था परम शान्ति को देनेवाली है, वही अवस्था शान्ति के अभिलाषी पुरुषों के लिए साध्य और वाञ्छनीय है। ग्रन्थकार भी नमस्कार करते हुए उक्त विशेषणों-द्वारा प्रार्थना के रूप में अपनी यही भीतरी इच्छा प्रकट करते हैं कि जिस भावना के बल से वर्द्धमान भगवान् ने वीतराग अवस्था की, ज्ञान आदि विभूति प्राप्त की है, उसी भावना का उच्च बल मुझ में भी प्रकट हो। पूर्वार्द्ध मे इष्टदेव को नमस्कार करने के पश्चात् उत्तरार्द्ध में एक शासन-प्रभावक उपकारी महापुरुष का स्मरण किया गया है। वे महापुरुष ग्रथकार के गुरु के भी गुरु, लींबडी सम्प्रदाय को नया जीवन देनेवाले और अपने समय में ज्ञान का प्रकाश फैलानेवाले पूज्य श्री अजरामर स्वामी हैं।

नमस्कार और स्मरण की क्रिया के अनन्तर, ग्रन्थ का विषय क्या है, और ग्रन्थ की रचना का प्रयोजन क्या है, इन बातों को बताने की

आवश्यकता होने से श्लोक के चौथे चरण में ग्रन्थकार ने ग्रंथ का विषय और प्रयोजन बतलाया है। अनित्य-भावना, अशरण-भावना, संसार-भावना, एकत्व-भावना, अन्यत्व-भावना, अशुचि भावना, आस्रव-भावना, संवर-भावना, निर्जरा-भावना, लोक-भावना, बोध-भावना और धर्म-भावना; इन बारह भावनाओं का इस ग्रंथ में वर्णन किया जायगा, एक-एक भावना का आठ-आठ पद्यों में निरूपण होने पर लगभग एक सौ पद्यों में भावनाओं का वर्णन हो जायगा, ऐसी संभावना है। अतएव ग्रंथ का नाम 'भावना-शतक' रखा गया है। तात्पर्य यह है कि बारह भावनाएँ इस ग्रन्थ का विषय हैं। इन भावनाओं के स्वरूप को बाँचने और विचारने से भव्य-जीवों के भव-बन्धन का नाश हो जाता है। यह इस ग्रंथ का प्रयोजन है। संसार से भयभीत, प्रवृत्ति तथा भवभ्रमण से थके हुए जिज्ञासु जीव इस ग्रन्थ के अधिकारी हैं।

(१) अनित्य-भावना

[भावनाओं का आरंभ अनित्य-भावना से होता है। अनित्य पदार्थों में सबसे अधिक ललचानेवाली और दुःखदाई माया है; अतएव सबसे पहले लक्ष्मी की अनित्यता का वर्णन आगे के तीन श्लोकों में किया जाता है।]

अनित्य-भावना

वातोद्वेल्लितदीपकाङ्कुरसमां, लक्ष्मीं जगन्मोहिनीम्।
दृष्ट्वा किं हृदि मोदसे हतमते, मत्वा मम श्रीरिति॥
पुण्यानां विगमेऽथवा मृतिपथं, प्राप्तेऽप्रियं तत्क्षणा—
दस्मिन्नेव भवे भवत्युभयथा तस्यावियोगः परम्॥ २॥

अर्थ—हे भद्र! लक्ष्मी जगत् को मोहित करनेवाली है, यही नहीं; बल्कि हवा से काँपनेवाली दीपक की लौ की तरह अस्थिर और नष्ट हो जानेवाली है। यह तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है, फिर भी 'यह मेरी लक्ष्मी है' ऐसा तू जो मान बैठता है, सो क्या यह तेरी मूढ़ता नहीं है? हे मूढ़! लक्ष्मी की प्राप्ति होना पुण्य के अधीन है। पुण्य की सीमा होती

है । उस सीमा की समाप्ति हो जाने पर पुण्य का अन्त हो जाता है । उस समय, अथवा आयु-पूर्ण होने पर जब परलोक जाना पडेगा, तब मिली हुई लक्ष्मी का वियोग अवश्यभावी है । विश्वास रख, या तो लक्ष्मी को छोडकर तुझे जाना पडेगा, या लक्ष्मी तुझे छोड़कर चली जायेगी । दूसरे भव मे नहीं , वरन् इसी भव मे इन दोनों में से किसी भी प्रकार लक्ष्मी का वियोग अवश्य होगा ॥ २ ॥

विवेचन—जो मनुष्य प्राप्त हुई लक्ष्मी का अभिमान करते हैं, लक्ष्मी की सत्ता से दूसरों को दबाते या सताते हैं, अप्राप्त लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिए इधर-उधर भटकते फिरते और अनर्थ करते हैं तथा पाप के प्रवाह मे बहे जाते हैं, ऐसे मनुष्यों मे से एक को लक्ष्य करके दिया हुआ यह उपदेश, सिर्फ एक ही मनुष्य को लागू नहीं पडता , बल्कि प्रत्येक धन लोलुप को लागू पडता है । 'हतमते' इस सबोधन से उन तमाम का ग्रहण होता है, जो लक्ष्मी के मद में या लोभ मे अपनी बुद्धि को खो बैठे हैं । चाहे कोई लखपती हो या करोड़पती , किन्तु जो धनी होने के कारण अभिमान करता है, छैला बना फिरता हैं, आँखों को माथे पर चढा लेता है, उसे क्या 'हतमति'—मूढमति नहीं कहना चाहिए ? प्राप्त हुए धन को नित्य मानकर ज़मीन में गाडकर जो धनही का सचय करता है, क्या वह मूढमति नहीं है ? जो वस्तु अल्प समय ही रहनेवाली है, उसके लिए लाखो-करोड़ों वर्षों तक स्व-पर को दु:ख देनेवाले पाप-कर्मों को बाँधकर अनर्थ करनेवाला व्यक्ति क्या मूढमति नहीं कहलायेगा ? अवश्य कहलायेगा । हे मदमते ! लक्ष्मी प्राप्त

होने पर तुझे जो गर्व आ जाता है, सो यह तेरा दोष नहीं है। यह प्राय. उसी लक्ष्मी का दोष है। मदिरा मे जैसे नशा चढाने का गुण है, उसी प्रकार माया में भी नशा चढाने का गुण है। अनुभवी पुरुषों का कथन है कि एक सेर शराब मे जितना नशा होता है, उतना नशा सौ रुपयों मे होता है। शराब पीने के बाद चतुर आदमी भी पागल बन जाता है, उसी भाँति लक्ष्मी प्राप्त होने पर अजान मनुष्य गर्व से यदि पागल हो जाता है, तो इसमे नवीनता की बात ही क्या है? हाँ, इतना भेद अवश्य है कि मदिरा का नशा चाहे जैसे सयाने आदमी को भी चढता है, जब कि माया का नशा केवल अज्ञ-मूढ मनुष्यों को ही चढ़ता है। जिसके हृदय मे कुछ समझ हो, जिसमें अच्छाई-बुराई को विचार करने की शक्ति हो, उसे लक्ष्मी का नशा नहीं चढता। परन्तु ऐसे मनुष्य विरले ही होते हैं। हे भद्र! लक्ष्मी के आने पर आँख रहते भी नजर नहीं आना, कान होने पर भी सुन नहीं पड़ता, जीभ होने पर भी बोला नहीं जाता, ऐसा एक रोग उत्पन्न हो जाता है। यह भी तेरा दोष नहीं, बल्कि लक्ष्मी का ही दोष है। नशा चढने के बाद जैसे मनुष्य भान भूल जाता है, वैसे ही धन मिलने के बाद गरीबी का दु:ख भूल जाता है। गरीब सगे-सबन्धी घर आवे, तो भी उनसे आँखें चुराई जाती हैं। वे बेचारे धन-सबधी सहायता पाने की आशा से श्रीमान् के सामने अपना दुखडा रोते हैं, पर उनकी ओर कौन ध्यान देता है? ऐसी बातें सुनने के लिए श्रीमान् के कानों मे बहिरापन आ जाता है, अतएव कान होने पर भी वह सुनता नहीं है।

कदाचित् बारम्बार अनुनय-विनय करने पर थोड़ा-बहुत सुन भी लिया तो गरीबों को क्या हाँ नहीं का उत्तर मिलता है ? कदापि नहीं। गरीबों के साथ बात-चीत करने में श्रीमानों की जीभ में मूकता का रोग हो आता है। अतएव वह ज़बान होने पर भी बोल नहीं सकता। किसी सुभाषितकार ने ठीक ही कहा है—

वधिरयति कर्णविवरं, वाचं मूकयति नयनमन्धयति।
विकृतयति गात्रयष्टिं, सम्पद्रोगोऽयमद्भुतो राजन् ॥

हे भद्र ! सम्पत्ति का तीसरा रोग यह है कि सम्पत्ति जिसके पास जाती है, उसे मजा-मौज में डाल देती है, व्यसनी बना देती है, काम-काज में आलसी और लापरवाह बना देती है। धार्मिक क्रियाओं में, व्रत-नियमों में शिथिल कर देती है। लोभ की वृद्धि करती है। ऐसे अनेक दोषों से घिरी हुई लक्ष्मी को देखकर तू मन में फूला नहीं समाता। इतने दोष होने पर भी यह लक्ष्मी स्थिर नहीं रहती। इसमें बड़े-से-बड़ा दोष तो व्यभिचार का है। यह जीवन-पर्यन्त एक स्वामी के पास नहीं रहती। एक को परित्याग कर यह दूसरे के पास जा पहुँचती है और फिर कुछ ही समय में उसे भी त्याग कर तीसरे की हो जाती है। इसी कारण इसका नाम चंचला—चपला रखा गया है। लक्ष्मी इतनी अधिक अस्थिर है कि उसे यदि हवा से काँपती हुई दीपक की शिखा की उपमा दी जाय, तो वह उपमा ठीक घटती है। मैदान में रखे हुए दीपक की, जिसे चारों ओर से वायु के झोंके लग सकते हों, शिखा हवा के झोंकों में कितनी देर स्थिर रह सकती है ? ऐसी ही या इससे

भी अधिक अस्थिर यह लक्ष्मी है। वृक्ष की छाया साधारणतया स्थिर दिखलाई पड़ती है, पर वह वास्तव में एक भी क्षण स्थिर नहीं रहती। क्षण-क्षण में वह अपना स्थान छोड़कर आगे-पीछे—इधर-उधर जाती रहती है। प्रातःकाल एक ओर होती है, तो साँझ समय दूसरी ओर चली जाती है। ठीक इसी प्रकार लक्ष्मी—माया—भी ऊपर से स्थिर-सी जान पड़ती है, पर वह पल-पल में गति करती रहती है; यही नहीं वरन् ज्यों-ज्यों वह गति करती जाती है, त्यों-त्यों पूर्व के पुण्य को खपाती जाती है। आश्चर्य की बात तो यह है कि थोड़ा-थोड़ा क्षीण होते-होते जब पुण्य का सर्वथा क्षय हो जाता है, तो लक्ष्मी का एकदम विनाश हो जाता है। फिर भी मूर्ख मनुष्य उससे कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते! वे सत्कार्य में या अच्छी वस्था में उसे व्यय करके पुण्य की नवीन ज्योति नहीं प्रकट कर सकते। उन्हें यह विश्वास होता है कि यह लक्ष्मी बाद में हमारे काम आयेगी, किन्तु इस विश्वास से वे ठगाये जाते हैं। अन्त में उन्हें पश्चात्ताप करना पड़ता है, क्योंकि वर्त्तमान भव में ही लक्ष्मी का वियोग अवश्य हो जाता है। वियोग दो प्रकार से होता है—एक तो मनुष्य की जीवित दशा में ही लक्ष्मी उसे छोड़कर चली जाती है और दूसरे आयु पूर्ण होने पर मनुष्य ही लक्ष्मी को एक किनारे छोड़ खाली हाथ परलोक की ओर प्रयाण करता है। अतएव दोनों प्रकारों में से किसी भी प्रकार लक्ष्मी का वियोग हो जाने पर यदि उसका सदुपयोग न किया गया हो, तो अन्त में अफसोस ही लक्ष्मी पति के पल्ले पड़ता है ॥ २ ॥

लक्ष्मी-जन्य सुख-दुःख की तुलना

त्यक्त्वा बन्धुजनं प्रियां च पितरं मुक्त्वा च जन्मावनि—
मुल्लंघ्याम्बुनिधिं कठोरवचनं सोढ्वा धनं सञ्चितम् ॥
हा कष्टं ! न तथापि तिष्ठति चिरं कामं प्रयत्ने कृते ।
दुःखं सागरतुल्यमर्जितमभून्नो बिन्दुमात्रं सुखम् ॥३॥

लक्ष्मी को उपालंभ—

हा मातः कमले धनी तव सदा वृद्धयै करोति श्रमं ।
शीतादिव्यसनं प्रसह्य सततं त्वां पेटके न्यस्यति ॥
चौरेभ्यः परिरक्षणाय लभते निद्रासुखं नो क्वचित् ।
ध्रौव्यं नो भजसे तथापि चपले त्वं निर्दया कीदृशी ॥४॥

अर्थ—माँ-बाप, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब को छोडकर, जन्मभूमि का त्यागकर, समुद्र को लाँघ कर, दुष्ट अधिकारी के कठोर वचनों को सहन कर, बडे-बडे कष्टों को झेलकर धन सचय किया गया हो , यही नही किन्तु, उसकी रक्षा करने के लिए सैकड़ों उपाय किये गये हों, तो भी सचित धन बहुत समय तक नहीं टिकता है । खेद है कि धन को प्राप्त करने एव उसकी रक्षा करने में समुद्र के बराबर दुःखों को सहन करना पड़ता है , किन्तु सुख एक बूँद के बराबर भी नहीं मिलता , अर्थात्—लक्ष्मी की रखवाली करने पर भी अन्त में वह अपने वियोग की व्यथा देकर चली ही जाती है ॥ ३ ॥

लक्ष्मी, तेरा स्वामी सदैव कैसी तेरी सेवा करता रहता है ? चाहे जैसी सर्दी हो, कैसा ही सख्त ताप हो, फिर भी गर्मी-सर्दी की परवाह न कर वह गाँव-गाँव भटकता फिरता है। तुझे पेटी-पिटारे में, तिजोरी में सुरक्षित रखता है, वह स्वयं भले ही कहीं इधर-उधर पड़ा रहे। चोर और डकैतों से बचाने के लिए वह नींद को हराम कर देता है। आवश्यकता होने पर तेरे लिए वह अपने प्राणों का भी बलिदान कर देता है। तेरा स्वामी, तेरे लिए इतनी अधिक मुसीबतें झेलता है, तो भी हे चपले लक्ष्मी ! तू स्थिर नहीं रहती और अपने धनी के काम नहीं आती। इस निर्दयता का कोई ठिकाना है ? क्या उपकार का बदला तू अपकार में चुकाती है ? ॥ ४ ॥

विवेचन—वही पदार्थ उपादेय गिना जा सकता है, जिसके आदि में कुछ सुख प्राप्त हो, या जो सुख-पूर्वक प्राप्त किया जा सकता हो। कदाचित् किसी पदार्थ को प्राप्त करने में सुख न मिले, किन्तु कष्ट-पूर्वक उसका उपार्जन किया जाय, मगर प्राप्त होने के पश्चात् उससे थोड़ा बहुत सुख मिल सकता हो, तो भी वह पदार्थ वाञ्छनीय माना जा सकता है। बीच में भी कदाचित् सुख न मिलता हो, तो अन्त में सुख की अभिलाषा से भी बीच का दुःख सहन किया जा सकता है और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न उचित कहा जा सकता है, किन्तु जिसमें पहले भी दुःख हो, बीच में भी दुःख हो, और अन्त में भी दुःख हो, ऐसे पदार्थ को प्राप्त करने में जो मनुष्य अपना समस्त जीवन गँवा देते हैं, वे कितनी भारी भूल करते

है ? धन के लिए मारे-मारे फिरनेवाले लोग भी इसी श्रेणी मे गिने जा सकते हैं। धन के आदि में, मध्य में या अंत मे क्या कुछ सुख प्राप्त हो सकता है ? कदापि नहीं। प्रथम तो धन उपार्जन करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पडता है। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' अर्थात्—जन्मभूमि में निवास करके, जननी की सेवा करना स्वर्ग के सुखों की अपेक्षा कहीं अधिक सुखकारक है। धनोपार्जन की इच्छा करनेवालों को सबसे पहले इस स्वर्गीय सुख को तिलांजलि देनी पडती है। यही नहीं, वरन् जिनके साथ खेले कूदे, जिनके साथ शाला मे अध्ययन किया, उन दिली दोस्तों और भाइयों की आनन्ददायक वातों से एव सहवास से प्राप्त होनेवाले आनन्द को भी धन-प्राप्ति के लिए त्याग देना पडता है। जिन माता-पिता ने पाल-पोस कर बड़ा किया, पढा-लिखा कर होशियार किया, उनकी वृद्धावस्था मे प्रत्युपकार के तौर पर करने योग्य सेवा का भी परित्याग कर देना पडता है। पति को ही प्रभु के समान समझनेवाली पतिव्रता पत्नी के हार्दिक प्रेम को भी धनोपार्जन करने के लिए पाताल-लोक में प्रवेश कराना पडता है। इस प्रकार जन्मभूमि, जन्मदाता, मित्र और जीवन-सहचारिणी—इन सबका वियोग सहन करके द्रव्य कमाने के लिए परदेश—दूर देश—की ओर प्रयाण करना पडता है। मार्ग में, जल या स्थल के रास्ते अनेक आपत्तियाँ आ पड़ती हैं। बबई, कराची, मालाबार, जगबार, एडन या अफगानिस्तान की सफर करने के लिए जहाज या स्टीमर आदि मे बैठने के बाद कितनों को वमन होने लगता है, दिमाग में चक्कर आने

लगते हैं ; इस प्रकार खाना-पीना हराम हो जाता है और सिकुडकर या लम्बा होकर सो रहना पडता है। जब वमन होता है, तो दिन में ही आकाश के तारे नजर आने लगते हैं, बिना बीमारी अधमरा-सा हो जाता है। इतने में ही कहीं नदी में तूफान आ धमका, तो फिर मुसीबतों का ठिकाना नहीं रहता। द्रव्य रहा द्रव्य की जगह, कुटुम्ब रहा कुटुम्ब के ठिकाने, और धन का उम्मेदवार जल और आकाश के बीच दोलायमान होने लगता है। उसके होश-हवास उड जाते हैं। वह पश्चात्ताप करता है कि—'इस सबकी अपेक्षा देश में ही दरिद्र बनकर रहता तो क्या बुरा था ?' आयु प्रबल हुआ और सही-सलामत कदाचित् गन्तव्य स्थान पर जा पहुँचा, तो भी जाते ही तो धन मिल नहीं जाता। पहले तो अनजान देश में जान-पहचान न होने के कारण इधर-उधर भटकना पडता है। श्रीमानों की मुलाकात के लिए धक्के खाने पडते हैं। 'सेठजी सो गये हैं, अभी जगल गये हैं, अभी आराम मे हैं, अभी मिल नहीं सकते, फिर आना' इस प्रकार के सेठजी के नौकर-चाकरों के वचन सुनकर वापस लौटना पडता है। ऐसी-ऐसी टक्करें खाने के पश्चात् यदि सेठजी से मिलाप हुआ, तो 'तुम्हे कौन पहचानता है ? तुम्हारे-सरीखे घुमक्कड तो बहुत आते हैं। तुम चोरी करके चलते न बनोगे, इस बात का भरोसा क्या ? कौन तुम्हारी जमानत देता है ?' ऐसे अनेक अटपटे और अपमान-भरे प्रश्नों को शान्ति से सुनकर नम्रता के साथ उनका उत्तर देना पड़ता है। सेठजी के निम्न कर्मचारियों की खुशामद करनी पडती है, अन्त में नौकरी मिली तो बस

इतनी कि उससे उदर-पूर्ति मात्र हो गई। कपड़े और घर के किराये के लिए कर्ज लेना पड़ता है और उसके लिए अनेक कठोर गाली-गलौज सहन करना पड़ता है। दुर्भाग्य से बीच में अगर एकाध बार बीमारी हो गई, तो कौन बैठा है वहाँ सुश्रूषा करनेवाला और कौन है पानी पिलानेवाला! इस प्रकार तरह तरह की मुसीबतें झेलकर पड़ा रहा, तो कुछ वर्षों बाद धीरे-धीरे कुछ वेतन बढ़ता है और तब ऋण-मुक्त होकर मस्तक ऊँचा उठा सकता है। कदाचित् अवसर पाकर व्यापार-क्षेत्र में प्रवेश किया, तो प्राण सदा मुट्ठी में रहते हैं। माल खरीद लिया और भाव उतर गया, तो रात-दिन चिन्ता, चिन्ता और चिन्ता! 'हाय रे! इतना कर्ज हो जायगा तो कैसे चुकाऊँगा? इज्जत कैसे बचेगी?' ऐसी चिन्ताओं और घबराहटों में नींद नहीं आती, खाना-पीना नहीं सुहाता, चित्तभ्रम हो जाता है और कभी-कभी तो आत्मघात करने तक की इच्छा हो उठती है। कदाचित् पुण्ययोग से आफत टल गई और धन मिल भी गया तो, भी कितने कष्टों से? कितनी मुसीबतों से? इतनी कठिनाइयाँ सहन करने के बाद लक्ष्मी मिली तो भी कुछ दुःखों का अन्त नहीं हो जाता। दुःखों की परम्परा तो चालू ही रहती है। प्राप्त लक्ष्मी की रक्षा किस प्रकार हो सकती है, यह चिंता शुरू हो जाती है। मनुष्य समझता है कि जो धन कमाया सो अपना हो गया, मगर ऐसा होता नहीं है। उसके ऊपर सात प्रकार के उपद्रव चालू रहते हैं। निकट-संबंधी और भाई-बन्द की भावना रहती है कि यह श्रीमान् निर्वंश मर जाय, तो तुरन्त उसकी लक्ष्मी

को बाँट लें। चोरों, लुटेरों और ठगों की नजर भी सदा उधर ही रहती है कि कब मौका हाथ लगे और कब इसका घर-द्वार लूट लें। राजा या अधिकारी की दृष्टि भी ऐसी ही हुई, तो उनकी ओर से भी उपद्रव आरम्भ हो जाते हैं। इसके सिवाय अग्नि, जल, भूकम्प, दुष्टदेव और कुव्यसनी सन्तान की ओर से भी प्राप्त लक्ष्मी को ठिकाने लगाने के लिए प्रयत्न होने लगते हैं। इन तमाम उपद्रवों से धन की रक्षा करने के लिए धनवान् को रात-दिन चिन्ता करनी पड़ती है। दरिद्र आदमी जब सब प्रकार की चिन्ताओं से छुटकारा पाकर निश्चिन्त नींद में सोता है, उस समय भी श्रीमान् का हृदय धड़कता ही रहता है। अरे! यह कुत्ता क्यों भूँकता है? छप्पर में यह खड़खड़ाहट क्यों हो रही है? कोई चोर तो नहीं आ गया? ऐसे-ऐसे विचारों में ही उसे रात्रि व्यतीत करनी पड़ती है। पलग या रूईदार गद्दे पर नींद आ जाती है, अतएव उस पर न सो कर श्रीमान् को धन की पेटी पर टाट बिछाकर सोना पड़ता है। गरीब आदमी को केवल अपने ही हिसाब-किताब की चिन्ता करनी पड़ती है, जब कि श्रीमान् को अपने हिसाब-किताब के अतिरिक्त उनके हिसाब-किताब की भी फिक्र करनी पड़ती है, जिन्हें ब्याज पर पैसा दे रखा है, अन्यथा असामी बिगड़ते ही पैसे की बर्बादी हो जाती है। इतना सब कुछ करने पर भी यदि किसी असामी या बैंक में रुपया डूब जाय या व्यापार में घाटा हो जाय, तो खाना-पीना जहर-सा लगता है, होश-हवास ठिकाने नहीं रहते और कभी-कभी तो पागल होने तक की नौबत आ पहुँचती है। इस प्रकार एक ओर धन

की रक्षा का दुःख चालू रहता है और दूसरी ओर बड़प्पन पाने की भूख जाग उठती है। अमुक के पास मेरी अपेक्षा अधिक धन है, उसे मुझसे कहीं अधिक मान-पान मिलता है। मेरे पास उससे भी अधिक धन किस प्रकार हो सकता है, या दूसरे का धन किस तरह नष्ट हो सकता है, इस प्रकार की ईर्ष्याबुद्धि जाग्रत् हो जाती है। इस ईर्ष्या की आग मे उसे सदैव जलना पड़ता है। यदि अपने पास धन अधिक न हुआ और उसका धन नष्ट न हुआ,तो अपनी श्रीमन्ताई तुच्छ—अकिंचित्कर प्रतीत होती है। तृष्णा एकदम बढ जाती है, लोभ वृद्धिगत होता चला जाता है और उदारता नष्ट होने लगती है। धन की वृद्धि करने के लिए वह इधर-उधर मारा-मारा फिरता है और प्राप्त धन से रत्ती-भर भी सुख नहीं भोग सकता। परमार्थ और पुण्योपार्जन की तो बात ही दूर रही, अतएव यह स्पष्ट है कि धन की मध्यम-अवस्था भी न कुछ के बराबर (थोडा-सा) सुख और तरह-तरह के दुःख देकर नष्ट हो जाती है।

अस्तु। धन की अन्तिम अवस्था यदि कुछ सुख दे सकती होती, तो पहले की दो अवस्थाओं का दुःख विस्मरण किया जा सकता था, मगर यहाँ तो मामला ही उलटा है। यह अवस्था तो पहले की दोनो अवस्थाओं से भी अधिक भयकर है। तीसरी अवस्था का नाम है नाश! स्वाहा! पहली दोनों अवस्थाओं के दुःख को तो लोग किसी प्रकार सुख-रूप मान लेते हैं; पर इस अवस्था का दुःख तो, आह! असह्य है, काँटे की तरह चुभनेवाला है। अनेक दुःखों के प्रवाह को पार करके धन

संचय किया मगर वह स्थिर नहीं रहता। अनेकों प्रयत्न करने पर भी, जब वह जाने को होता है तो न जाने किधर से मार्ग बनाकर अपने स्वामी की आँखों में धूल झोंककर चला जाता है। धन प्राप्त करने वाले की मौजूदगी तक यदि धन कायम रहे तो बेचारे को दुःख न देखना पड़े, पर यह तो चार दिन की चमक बताकर बादलों की छाया, संध्या के अनुराग और कुश की नोंक पर लटकने वाले पानी के बूँद के समान सहसा विलीन हो जाता है। सचमुच दौलत—दुलत्ती मारने वाली हुई। जब आई तो गर्दन में लात मारी कि जिससे छाती बाहर निकल आई और मस्तक अनमनीय हो गया, पर जाते समय तो कमर में ऐसी लात जमायी जाती है कि बेचारे की कमर टेढ़ी हो जाती है और छाती फट जाती है। उसका पिछला जीवन मिट्टी में मिल जाता है। घोड़ागाड़ी और मोटर में बैठकर घूमने वाले और गद्दी-तकिया के सहारे रहनेवाले को जब पीठ पर बोझ उठाकर चलने का मौका आ पहुँचता है, तो बेचारे की क्या दुर्दशा होती होगी? यह तो भुक्त-भोगी ही जान सकते हैं। दूसरे इसका अनुमान नहीं लगा सकते। लक्ष्मी के वियोग का शोक जिंदगी-भर उसका पीछा नहीं छोड़ता और अन्त में आर्त्तध्यान होने पर इस भव के साथ-ही-साथ पर भव भी बिगड़ जाता है। आर्त्तध्यान से दुर्गति का बन्ध होता है और इससे मनुष्य-भव हार कर नरक तथा तिर्यञ्च गति में गोते लगाने पड़ते हैं। इन समस्त दुःखों का विचार करके कहा गया है कि 'दुःख सागर तुल्यम्' अर्थात्—धन में सुख तो एक बूँद बराबर भी नहीं है, जो कि दुःखों का

समुद्र लहराता है। कुछ लोगों का कथन है कि लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिए श्रीकृष्ण को समुद्र मथना पड़ा था। इसका आलंकारिक अर्थ यदि यह माना जाय कि लक्ष्मी—द्रव्य—प्राप्त करने के लिए दुःखों का समुद्र मथना पड़ता है, तो कुछ भी अनुचित न होगा।

इतने-इतने दुःखों को झेलने पर भी लक्ष्मी आखिर अपने स्वामी को सुख नहीं देती, इसी से यहाँ उसे यह उपालम्भ दिया गया है कि 'त्व निर्दया कीदृशी' हे लक्ष्मी! लोग तुझे माता के समान मानते हैं, अतएव माता के समान पुत्रों पर वात्सल्य रखना तेरे लिए उचित है। तुझमें यह गुण नहीं है तो न सही, परन्तु तेरा रक्षक, तेरी रक्षा करने के लिए कितने कष्ट उठाता है, समय आने पर वह तेरे लिए अपने प्राणों का भी उत्सर्ग कर देता है, यह तेरे ध्यान में नहीं आता और उपकार का बदला चुकाकर तू प्रत्युपकार नहीं करती, अतएव कृतज्ञता के गुण को भी तूने कृतघ्नता के दोष से दबा दिया है। इसे भी जाने दिया जाय तो भी तेरा स्वामी अन्तिम समय में दया की आशा तो तुझसे रख सकता है न? पर कौन जाने तुझमें कितनी निर्दयता भरी पड़ी है कि यहाँ भी तू वैसी ही निर्दय दिखाई पड़ती है। अपने स्वामी को दुःखी अवस्था में छोड़कर तू लम्पट स्त्री की भाँति चल देती है और दूसरा स्वामी बना लेती है। इस उपालम्भ या व्याज-निन्दा से लक्ष्मी की अनित्यता का भान कराया गया है। लक्ष्मी का स्वभाव ही अनित्य है, इस तथ्य को जानते-बूझते भी लोग लक्ष्मी का सद्भोग नहीं कर सकते, यह लक्ष्मी का नहीं, किन्तु उन्हीं मनुष्यों का दोष है। अतएव उपर्युक्त

उलहना वस्तुतः लक्ष्मी पर नहीं, वरन् लक्ष्मी-पति पर घटित होता है। विचारशील मनुष्यों को लक्ष्मी के दोष, लक्ष्मी की तीनों अवस्थाओं के दुःख और उसकी अस्थिरता का खयाल करके, अनित्य-भावना की गहराई में उतरकर, लोभ, तृष्णा, गर्व और उद्धतता को दूर करना चाहिए। यही लक्ष्मी की अनित्य-भावना का फल है ॥ ३-४ ॥

[शरीर पर मोह रखने से कितने ही कर्त्तव्य कार्य रह जाते हैं, अतएव शरीर का वास्तविक स्वरूप समझाने के लिए नीचे के दो काव्यों में शरीर की अनित्यता का वर्णन करते हैं]—

शरीर की अनित्यता

देहे नास्ति च रोम तादृगपि यन्मूले न काचिद्रुजा,
लब्ध्वा ते सहकारिकारणमनु प्रादुर्भवन्ति क्षणात्।
आयुश्छिन्न घटाम्बुवत् प्रतिपलं संक्षीयते प्राणिनाम्,
तद्देहे क्षणभङ्गुरेऽशुचिमये मोहस्य किं कारणम् ॥५॥
यस्य ग्लानि भयेन नोपशमनं नायम्बिलं सेवितम्,
नो सामायिकमात्म शुद्धिजनकं नैकासनं शुद्धितः।
स्वादिष्टाशनपानयान विभवैर्नक्तं दिवं पोषितम्,
हा नष्टं तदपि क्षणेन जरया मृत्या शरीरं रुजा ॥६॥

अर्थ—मनुष्य के शरीर में एक भी रोम ऐसा नहीं है, जिसके मूल में रोग की सत्ता न हो। एक-एक रोम में पौने दो-दो रोगों का अस्तित्व शास्त्रकारों ने बतलाया है। सत्ता में रहनेवाले वे रोग विषय-भोग

विलास और रोगोत्पादक कीट आदि किसी सहकारी कारण के मिलने पर एकदम उभर आते हैं, दूसरी ओर पानी की लहरों की तरह क्षण-विनश्वर आयु फूटे घडे के पानी के समान निरन्तर क्षीण होती जाती है। रोगों के उपद्रव और आयु की क्षीणता, इन दो कारणों से यह शरीर अनित्य—नश्वर और क्षणभंगुर दिखाई देता है। हे भद्र! इसलिए तुच्छ, नश्वर और कुटिल शरीर में क्यों तू इतना अधिक मोहित हो रहा है? ॥५॥

शरीर दुर्बल हो जायगा, इस भय से कभी उपवास या आयंबिल न किया, आत्मा को शुद्ध करनेवाला और शान्तिदायक सामायिक-प्रतिक्रमण आदि आवश्यक कर्त्तव्य न किया, भूख लगने से शारीरिक ग्लानि होने के डर से एकाशन या चौविहार भी शुद्ध भाव से न किया, रात-दिन स्वादिष्ट खान-पान, चाय, नाश्ता, मेवा, फल, फूल आदि खाकर जितना हो सका शरीर का पोषण किया, पैदल चलने से पैर में ठोकर लग जायगी, ऐसा समझकर ऊँट, घोडा आदि सवारियों पर सवार होकर यात्रा की, शरीर की खूब सार-सँभाल की, परन्तु खेद है कि इतना करने पर भी अन्त में शरीर टिक न सका और रोग, जरा तथा मृत्यु के पंजे में फँसकर नष्ट हो गया ॥६॥

विवेचन—मनुष्य ने जिन-जिन वस्तुओं को अपना समझ रखा है उनमें सबसे निकट की वस्तु शरीर है। कितने ही अंशों में शरीर की रक्षा करने के लिए ही लक्ष्मी प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। एक बीमार व्यक्ति हजारों-लाखों रुपये खर्च करके भी शरीर को बचाने

की अभिलाषा रखता है, इनसे यह भलीभांति जाना जा सकता है कि शरीर लक्ष्मी की अपेक्षा अधिक उपयोगी होने के कारण मनुष्य उसमें अधिक प्रीति रखता है, मगर दूसरी ओर देखा जाय तो जैसे लक्ष्मी चपला—अस्थिर नज़र आती है, उसी प्रकार यह शरीर भी बिलकुल निराश्रय-क्षण भंगुर प्रतीत होता है। एक इमारत, पेड़ या तिनके के बराबर भी शरीर के टिकाव की आशा नहीं रखी जा सकती, क्योंकि इमारत की नींव जमीन में गहरी डाली जाती है, पेड़ की जड़ें भी ज़मीन में गहरी घुसकर पेड़ को मजबूत बनाकर उसका पोषण करती रहती हैं, तुच्छ तिनके भी ज़मीन में जड़ें फैलाकर रहते हैं, तब हमारा शरीर तो एकदम ही निर्मूल होता है। उसे रोग-रूपी पवन का एक झपाटा लगा कि फिर धराशायी होने में कितना विलम्ब लग सकता है?

रोगों को बाहर से बुलाने नहीं जाना पड़ता। वे तो शरीर में भरे पड़े हैं। शरीर में उत्पन्न होने वाले रोम, रोग की सूचना करनेवाले निशान या उनकी ध्वजाएँ हैं। एक-एक रोम अपने मूल में पौने दो-दो रोगों की सत्ता का स्वामित्व भोग रहा है। जिस नौका का तल निर्बल हो गया हो या नीचे के पटिया में बड़े-बड़े छेद हो गये हों, उस नौका में बैठकर समुद्र की यात्रा करनेवाला मनुष्य अपने जीवन के अस्तित्व का विश्वास कितनी देर तक रख सकता है? पर छिद्रों से भरपूर और रोगों से युक्त इस शरीर के अस्तित्व पर तो उतना भी विश्वास नहीं रखा जा सकता। शरीर से बाहरी वातावरण में भी रोग उत्पन्न करने वाले निमित्तों की कुछ कमी नहीं है। हवा जरा ठंडी हुई कि तत्काल

फेफडों में सर्दी लग गई और फिर शरीर के अन्यान्य अवयव भी गड़-बड़ी मचाने लगे। चौमासे मे नमी वाले प्रदेशों मे मच्छरों की अधिक उत्पत्ति हुई कि मैलेरिया ज्वर का मौसिम शुरू हो गया और मनुष्य धड़ाधड उसके शिकार होने लगे। अधिक वर्षा से जमीन मे गीलापन शुरू होने पर 'मरडा' रोग लागू हो जाता है। अधिक गर्मी होने से हैज़ा फट पड़ता है। पानी के विकारों से जलोदर आदि अनेकानेक रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। रोगोत्पादक सूक्ष्म जन्तुओं की वृद्धि होने से प्लेग, धनुर्वा, क्षय आदि बीमारियाँ फैल जाती हैं। इस प्रकार के अनेक निमित्त पाकर शरीर के अन्दर सत्ता में रहनेवाले रोग एकदम बाहर फूट पडते हैं। ये रोग शरीर को शिथिल कर डालते हैं अथवा मृत्यु के हवाले कर देते हैं। भले ही वह बालक हो या जवान, स्त्री हो या पुरुष, राजा हो या रक, पर रोग का उपद्रव होने पर पल-भर में वह शरीर बेकाम हो जाता है। एक ओर रोग शरीर को शिथिल बनाने का काम जारी रखते हैं और दूसरी ओर जरा और मृत्यु शरीर मे प्रवेश करने की ताक मे रहते हैं। 'जरा' है तो स्त्री-जाति, पर उसके घातक प्रहार इतने गहरे होते हैं कि मनुष्य का मजबूत से-मजबूत शरीर भी घायल होकर जर्जरित हो जाता है। जरा अवस्था का विषैला बाण मुँह मे लगता है, तो दाँतों की बत्तीसी का सत्यानाश हो जाता है, आँख को धक्का लगता है, तो आँख का तेज मारा जाता है, आँख अधी हो जाती है। कान में लगता है, तो कान के पर्दे टूट जाते हैं और सुनने की शक्ति नहीं रहती। कमर में लगता है, तो कमर टेढी-मेढी हो जाती

है। मस्तक काँपता रहता है, हाथ थरथराते रहते हैं, शरीर का रक्त सूख जाता है। त्वचा में सल पड़ जाते हैं, बल सर्वथा क्षीण हो जाता है, चेहरे का ओज मंद हो जाता है और बाल सफेद हो जाते हैं। पुण्य क्षीण हो जाने के कारण वृद्ध पुरुष का मुख और वचन किसी को सुहाते नहीं हैं, इस प्रकार जरा का झपाटा लगते ही मौत की सामग्री प्रस्तुत हो जाती है।

जिसके सहारे यह जीवन-रूपी लता टिकी हुई है, वह आयु रूप शाखा प्रतिपल कटती जाती है। दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष और युग रूपी चूहे आयु रूप वृक्ष की शाखा को कुतर रहे हैं, जिसके तल में छेद हो उस घड़े में भरा हुआ पानी प्रतिक्षण झरता रहता है और कुछ ही समय में घड़ा खाली हो जाता है, ठीक इसी तरह आयु भी प्रतिक्षण झर रहा है—क्षीण होता चला जा रहा है। आयु क्षीण हो जाने पर यह शरीर टिक नहीं सकता। एक सुभाषितकार ने कहा है—

> व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती,
> रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहं।
> आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवांभो,
> हा हा! तथापि विषयान् न परित्यजन्ति ॥१॥

अर्थात्—जरा अवस्था वाघिन की तरह शरीर को बेहाल बना देती है, रोग शत्रुओं की भाँति प्रहार किया करते हैं, फूटे घड़े में से पानी की नाई आयु प्रतिक्षण झर रहा है, फिर भी आह! मनुष्य विषयासक्ति का परित्याग नहीं करते!

संसार मे पद-पद पर शरीर को नष्ट करनेवाली वस्तुएँ भरी हुई हैं। भूकम्प होने से कितनी ही बार हजारों मनुष्य जमीन में धँस जाते हैं। नदी में बाढ आने से, तालाबों के फट जाने से, समुद्र मे तूफान आने से, हजारों मनुष्यों का विनाश हो जाता है, युद्ध होने से लाखों मनुष्यो के प्राणों का संहार हो जाता है। रेलवे सम्बन्धी दुर्घटनाओं एव अन्यान्य उपद्रवों से जरा और रोग के बिना भी बहुत लोग पाय-माल हो जाते हैं। ठेस लगने से, कफ आने से, श्लेष्म के अटक जाने से या हृदय का स्पन्दन बन्द होने से बहुत-सी मृत्युएँ हो जाती हैं। जीवित रहने मे सैकड़ों विघ्न बाधायें हैं जबकि मृत्यु एकदम सरल है। ऐसी स्थिति में इस शरीर की आबादी पर विश्वास रखना कितनी बडी मूर्खता है यह स्पष्ट समझा जा सकता है। बेचारे कितने ही पामर प्राणी परमार्थ या धर्मानुष्ठान करने मे शरीर के घिस जाने का भय करते हैं। उन्हे उपवास, एकाशन, आयम्बिल आदि तपस्या करने के लिए कहा जाय तो वे कहते हैं—हम भूख सहन नहीं कर सकते। भूख से हमारा शरीर सूख जायगा। उन्हे यदि परमार्थ सम्बन्धी स्वय परिश्रम करने का कार्य बताया जाय, तो परिश्रम करने से शरीर को हानि पहुँचेगी, ऐसा मानकर वे उससे दूर ही रहते हैं। आत्मा को निर्मल बनानेवाले सामयिक प्रतिक्रमण आदि धार्मिक अनुष्ठान करने में भी शरीर को कष्ट होने के भय से वे उसे नहीं करते। तरह-तरह के स्वादु भोजन करना, बढिया-बढिया वस्त्र एव आभूषण पहनना, घोडा गाडी में बैठे फिरना, खेलना, नहाना, सोना और शरीर का पोषण

करना , इन कार्यों में मस्त रहकर जिन्होंने शरीर को खूब सँभाल रखा है, उनके शरीर को रोग, जरा और मृत्यु क्या छोड देंगे ? कदापि नहीं। बल्कि सर्वप्रथम उन्हीं के शरीर को रोग आदि का उपद्रव सताता है। 'भोगे रोगभय' , अर्थात्—जहाँ अधिक भोग वहाँ अधिक रोग, यह एक अनुभवसिद्ध नियम है। शरीर पर अत्यधिक ममता रखनेवाले और अत्यधिक सार-सँभाल करनेवाले को जरा-सा दु ख भी मेरु के समान प्रतीत होता है। कहीं लाचार होकर थोडा-सा परिश्रम करना पडा, तो वह उन्हे महाभारत-सा दिखता है। जरा-सा उत्पात उन्हें भयकर जान पड़ता है और ऐसे अवसरों पर वे बिना मौत मर जाते हैं।

दृष्टान्त—किसी समय दो मित्र विदेश-यात्रा के लिए निकले। दोनों में से एक मिहनती था। दो-चार कोस का सफर होता तो वह गाडी आदि की सुविधा होने पर भी पैदल ही चलता था। पर्व तिथियों में वह उपवास आदि भी करता था, समय पर रूखा-सूखा, ठडा-गर्म, जैसा भी भोजन मिलता, उसी पर वह सतोष कर लेता था , पर दूसरा आदमी शरीर की बडी सार-सँभाल रखता था। अपने हाथ से छोटा-मोटा काम भी कभी न करता था। थोडी देर भी वह भूख सहन नहीं कर सकता था। सफर में खाने-पीने को कभी देर से मिलता, तो कभी मिलता ही न था, सोने के लिए कहीं बिछौना मिलता, कहीं न भी मिलता , इससे वह दूसरा मित्र घबडाने लगा। जो कुछ कसर रह गई थी वह भी अब पूरी हो गई। एक जगह एक घटना हो गई। जहाँ ये दोनों मित्र ठहरे हुए थे, वहाँ किसी की चोरी हो गई। चोरी का अभियोग इन

दोनों पर लगाया गया। दोनों को आठ-आठ दिन की कैद की सजा मिली। कैदियों को बहुत तुच्छ खुराक मिलता था। दोनों में जो सहन-शील था, वह उसी खुराक पर सतोष कर किसी तरह निर्वाह करने लगा; परन्तु दूसरा, जिसे जरा-भी ठडा-बासी भोजन न सुहाता था, किस प्रकार कैदी का भोजन खा सकता था? फल यह हुआ कि सजा की अवधि समाप्त होने पर जब निकलने का समय आया, तो दोनों में से एक ही बाहर निकल सका। दूसरा आदमी अपनी नाजुक आदतों के कारण आठ दिवस भूखों मर कर कारागार में ही मरण-शरण हो गया।

चाहे जिस प्रकार शरीर की सार-सँभाल की जाय, परन्तु शरीर का विनश्वर स्वभाव मिट नहीं सकता। इतना ही नहीं, वरन् शरीर में जो सुन्दरता दृष्टिगोचर होती है, वह भी चेतन के सन्निधान से ही है। चेतन के चले जाने पर वह घडी-भर में विनष्ट हो जाती है। दुर्गन्ध आने लगती है, कीड़े बिलबिलाने लगते हैं, और आसपास का वाता-वरण भी दूषित हो जाता है। शरीर में जब चैतन्य को भी टिकाये रखने की शक्ति नहीं है, तो फिर किस गुण पर रीझ कर उस पर मोह और आसक्ति की जाय? अन्त में वही दशा होती है, जैसा कि कवि दलपतराम ने कहा है—

'राख थशे रणमां बलीने बधी कंचनना सरखी काया।'

ऐसी अवस्था में रात दिन शरीर का पोषण करने में ही जुटे रहना, तप, जान, ध्यान, परोपकार आदि कुछ भी न करना, यह तो प्राप्त हुए सुवर्ण अवसर को हाथ से खो देना है। विवेकशील मनुष्यों को चाहिए

कि वे शरीर का अनित्यस्वरूप समझकर जब तक उसका अस्तित्व है, तब तक उससे प्रतिक्षण कुछ-न-कुछ आत्मिक कार्य साधे। व्रत, प्रत्याख्यान, त्याग, नियम, इन्द्रियदमन, मनोनिग्रह और परमार्थ के कार्य कर ले। स्मरण रखना चाहिए कि 'देहस्य सारं व्रतधारणञ्च।' 'देह खेह हो जायगी फिर का करि है धर्म?' शरीर का नाश हो जाने पर फिर कुछ भी नहीं बन सकता, अतएव इस शरीर से जितने भी श्रेयस्कर कार्य बन पड़ें, कर लेने चाहिए। यही शरीर की अनित्य भावना का फल है। (५—६)

मृत्यु संपत्ति और शरीर आदि का नाश करती है। उसका सामर्थ्य कितना है? यह आगे बतलाते हैं—

बलशाली भी काल के गाल में जाते हैं—

प्राज्यं राज्यसुखं विभूतिरमिता, येषामतुल्यं बलं,
ते नष्टा भरतादयो नृपतयो, भूमण्डलाखण्डलाः।
रामो रावणमर्दनोऽपि विगतः क्वैते गताः पाण्डवाः,
राजानोऽपि महाबला मृतिमगुः का पामराणां कथा ॥७॥

अर्थ—जो विशाल साम्राज्य के स्वामी थे, जिनके वैभव का परिमाण न था, जिनके शरीर का बल अतुल्य था, ऐसे भरत आदि सार्वभौम राजा भी काल के गाल में चले गये! रावण चला गया और उसे मारनेवाले रामचन्द्र भी इस संसार को त्याग कर चल बसे! कहाँ हैं वे महा बलवान् और संसार प्रसिद्ध पाण्डव? हाम, दाम और ठाम के धनी, पृथ्वी के बादशाह और माण्डलिक राजा भी जब मृत्यु के पंजे

में फँसकर हुए-न-हुए हो गये, तो साधारण आदमियों की बात ही क्या है !

विवेचन—इस संसार में काल नामक राक्षस ऐसा सामर्थ्यशाली है कि उसने छोटे-बड़े—सबका समान रूप से भक्षण किया है, फिर भी वह अघाता नहीं है। उसने शक्तिमान् समर्थ श्रीमान्, अपनी गर्जना से सिंह को भी डराकर भगा देनेवाले शूर-वीर, शत्रु-समूह को पस्त करके अस्तव्यस्त कर देनेवाले राजा-महाराजा, वैद्यविद्या के पारगत वैद्यराज, शुद्ध धर्म के आराधक पूज्य पुरुष, ढोंग से पुजनेवाले ढोंगी, लक्ष्मी के अभिमानी पवित्र महात्मा, अपवित्र लुच्चे-गुंडे, शीलवती सतियाँ, कुशीला कुलटाएँ, अपनी शक्ति को भूलकर दूसरों की नक़ल करनेवाले नक़लची, तेल-फुलेल लगाकर मस्तक के बालों की पटियाँ पारकर अहोभाग्य समझनेवाले लहरी लाला लोग, इनकी प्रवृत्ति में अन्धी होकर बढ़िया-बढ़िया वस्त्र पहनकर जगत् की भ्रमणा में वृद्धि करके भी खानदान-अमीर-उमराव के कुटुम्ब, में गिनी जाने की हवस रखनेवाली उनकी ललनाएँ आदि कोई भी क्यों न हो, काल इस भेदभाव का खयाल छोड़कर समान रूप से सबका नाश करता है। न उस पर राजाओं की राज्यसत्ता चलती है और न दुर्जय सैनिकों की सैनिकता। न वैद्यों की वैद्यक का उस पर जोर है, न हकीमों की हिकमत का। न कारीगरों की करामात चलती है न हुनरियों का हुनर। न डाक्टरों की दवा काम आती है, न माथेरान के बँगले की वायु। न उद्धतों की उद्धतता चलती है, न गरीबों की गरीबी। न ज्योतिषियों का ज्योतिष चलता

है, न भोपाओं का रोप ! न अमलदारों का रोब चलता है, न वकील-बैरिस्टरों द्वारा गढा हुआ जवाब। न मान्धाता का बडप्पन चलता है, न बादशाहों की बादशाहत ! न अमीरों की अमीरी चलती है, न ठाकुरों की ठकुराई चलती है ! न साहूकारों की साहूकारी चलती है, न अर्जी-दारों की अर्जी ! न अमलदारों का अभिमान चलता है, न कमाण्डरों की कमान ! न निशानेबाजो का निशान चलता है , न नौकावालों की नाव ! न गवैये की गायन-कला चलती है, न कवियों की काव्य-कला ! न चलती है गणितज्ञों की गणित-कला, न काम आती है साहित्याचार्यों की साहित्य-कला ! न विद्वानों की विद्वत्ता चलती है, न वक्ताओं का वक्तृत्व ! न दम्भियों का दम्भ चलता है, न याज्ञिकों का यज्ञ-समारम्भ ! यदि काल किसी लालच के लपेट मे आता, किसी हुनर-कला से प्रसन्न होता, किसी के स्नेह मे दबता, किसी की शर्म रखता, किसी के सामर्थ्य से पराजित होता, किसी के समझाने से समझता, तो ससार मे बडे-बडे विख्यात पुरुष, श्रीमन्त, अमलदार, राजा, बादशाह, चक्रवर्ती, पडित या जादूगर, कभी भी मौत के सपाटे मे न आते। किसी प्रकार फुसला-कर, फँसाकर, ललचाकर, भुलावा देकर, समझा-बुझाकर, डराकर, दबाकर या राजी करके काल को वापस लौटा देते और मृत्यु से बच जाते , मगर ऐसा होता दिखता नहीं है । बहुतेरे चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, माडलिक, मान्धाता, राजा तथा कलाविद्, हुन्नरी, व बलवान और सत्ताधारी लोग इस भूतल पर हो चुके हैं , पर आज उनमें से एक भी दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि हो तो बताओ, वे भरत आदि चक्रवर्ती

जो छः खंड के अधीश्वर थे, बत्तीस हजार मुकुट बन्ध राजा जिन्हें नमन करते थे, चौरासी लाख हाथी, चौरासी लाख घोड़ा, चौरासी लाख रथ और छयानवे करोड पैदल सेना जिनके अधीन थी, जिनके तीन करोट कोटपाल थे, तीन करोड कामदार थे, इतने ही मन्त्री-महा मन्त्री थे, चौदह रत्न जिनका प्रत्येक कार्य करते थे, सोलह हजार देवता सदैव जिनकी सेवा में उपस्थित रहते थे, ऐसे चक्रवर्त्तियों में से एक तो बताओ। चक्रवर्त्तियों से आधी विभूति वासुदेवों की होती है। ऐसे नौ वासुदेव गत युग मे—चौथे आरे मे हो चुके हैं, उनमें से एक भी कोई मृत्यु से बचा हुआ देखा गया है? कहाँ है वह सबको कँपाने वाला, राक्षसों का सरदार, सीताजी का हरण कर ले जानेवाला, रामचन्द्रजी के सम्मुख युद्ध करनेवाला, बलिष्ठ और अति गर्विष्ठ राजा रावण? कौरवों को पराजित करनेवाले, न्याय के मार्ग मे चलनेवाले, पाण्डु राजा के पुत्र पॉच पाण्डवों में से एक भी आज इस पृथ्वी पर नजर नहीं आता! ऐसे ऐसे महान् राजा-महाराजा और सत्ताधीश भी जब काल के ग्रास बन चुके, कोई भी बचने नहीं पाया, तो सामान्य मनुष्यों की तो बात ही क्या है?

जल्दी या देर से प्रत्येक मनुष्य को अवश्य मरना है! जन्मने के बाद मरना शरीर का धर्म है। फिर भी अमुक वर्षों तक जीते रहने में मनुष्य का भाग्योदय ही कारण समझना चाहिए, अन्यथा एक भी क्षण ऐसा नहीं गुजरता, जिसमें एक भी मृत्यु न होती हो। एकेन्द्रिय आदि की बात एक किनारे रहने दो, मनुष्यों का ही हिसाब लगाया

जाय, तो आजकल की मनुष्य-गणना के अनुसार एक अरब और चवा-लीस करोड़ कुल मनुष्य संख्या है। इसमें एक मिनट में तेतीस की स्पष्ट मृत्यु-संख्या आती है। पीर, पैगम्बर, फकीर, औलिया, साधु, संत, गुणी, सज्जन, दुर्जन, बालक, युवक, वृद्ध, प्रत्येक को हम किसी-न-किसी क्षण मरते आँखों देखते हैं। यही दशा हमारी भी होने वाली है, यह समझना हो तो सहज ही समझा जा सकता है। फिर भी कितने ही मनुष्य अंधे होकर इस प्रकार अनाचार करते हैं, मानो वे संसार में अमर रहेंगे और काल का डर स्वप्न में भी भय नहीं है। स्वयं बलवान् हों तो निर्बल को दबाते हैं, गरीबों को सताते हैं, विश्वासघात, छल-प्रपंच करते हैं, झूठा बही-खाता लिखते हैं, अरट दीन-हीनों को ठगते हैं, अपनी कन्या को बेचकर रुपये लेते हैं, और ऐसे ऐसे कार्य करते हैं, जिनका वर्णन करने में भी कँपकँपी छूटने लगती है। क्रोध के आवेश में, अपने कुटुम्बी जनों या परायों का खून तक कर डालनेवाले लोग जब मौत के मेहमान बनते हैं, तब उनकी आँखें खुल जाती हैं। भूत-काल की काली करतूतें जब उनकी आँखों के आगे खड़ी होती हैं, तब हृदय काँप उठता है और पश्चात्ताप का ठिकाना नहीं रहता, पर उस समय 'आग लगे पर कूप खुदावे' की कहावत चरितार्थ होती है। अतएव पहले से ही बुद्धिमानों को प्रयत्न करना चाहिए। दूरदर्शी पुरुष वही है, जो काल की दूती जरा अवस्था का एक भी चिह्न नज़र आते ही तत्काल सावधान हो जाता है।

दृष्टान्त—इस जगह एक राजा का दृष्टान्त ठीक-ठीक घटित होता

है। एक राजा था। उसके अधीन बड़ा विशाल राज्य था। उसने अपने शत्रुओं को अपने सामने झुका लिया था। एक दिन वह अपने महल में पलँग पर बैठा था। उसकी बगल में ही उसकी रानी हास्य-विलास करती बैठी थी। प्रसंग के अनुसार विनोद की बातें छिड़ी हुई थीं। इसी समय दीवार में मढ़े हुए दर्पण पर राजा की नजर जा पहुँची और उसी क्षण उसके चेहरे पर ग्लानि छा गई। विनोद और विलास के स्थान पर उदासीनता का राज्य हो गया। रंग में भंग हो गया। यह देख रानी भयभीत-सी होकर, दीन स्वर में राजा से प्रार्थना करने लगी—

राणी—खोले भरी छे सुखडी, पानना बीड़ा हथ्थ।
झलहल ज्योति जगमगे, केम अलूणा कंथ ? ॥१॥

अर्थात्—प्राणनाथ! यह मिठाई-मेवे के खुमचे भरे हुए मेरी गोदी में पड़े हैं आपके लिए पान के बीड़े तैयार कर मैंने अपने हाथ में रख छोड़े हैं, सामने रत्नों की ज्योति झिलमिला रही है, हास्य-विलास का रंग जमा हुआ है, ऐसे अवसर पर आप यकायक उदास क्यों हो गये? भूतकाल की कोई घटना स्मरण हो आई है या भविष्य में किसी आपत्ति के आने की सूचना मिली है अथवा शरीर में कोई गुप्त वेदना उत्पन्न हो गई है? किस कारण से सारा गुड़ गोबर हो गया?

राजा—संदेशो लई आवियो, जमनो दूत आ वार।
दुश्मन आवी पहोंचशे, जवुं पडशे जम द्वार ॥२॥

अर्थात्—प्रिये ! हम लोगों के समीप एक दूत आ पहुँचा है। वह एक बड़े भारी शत्रु का संदेश लेकर आया है। वह कहता है—राजन, तैयार हो जाओ, मेरा स्वामी थोड़े ही समय में तुम्हें कैदकर ले जाने के लिए आ पहुँचेगा। पहले चेतावनी देने के लिए मुझे भेजा है। भद्रे ! इस डरावने संदेश से मुझे चिन्ता हो उठी है, कि मुझे लाचार होकर राजपाट त्यागकर दुश्मन (यम) के द्वार पर जाना पड़ेगा।

रानी—स्वामिन् ! आप एक बहादुर क्षत्रिय होते हुए भी शत्रु से भयभीत क्यों होते हैं ? आपने इतने शत्रुओं को जीता है, अब एक और शत्रु को क्या नहीं जीत सकते ? कदाचित् वह बलवान् होगा, तो हे प्राणनाथ !

आपु जमने लांचडी, आपुं लाख पसाय।
आपुं (मारा) करनी मुद्रिका, (मारा) पिउने कोण लइ जाय॥३॥

अर्थात्—यमराज को चाहे जो घूँस देकर मैं आप को छुडाऊँगी। आपके भंडार में और मेरे पास द्रव्य की क्या कमी है ? लाखों की भेंट देकर यमराज को वापस लौटा दूँगी। आप चिंता क्यों करते हैं ?

राजा—घेली सुन्दरी बावरी ! घेला बाल म बोल।
जो जम लेवत लांचडी, तो जग में मरत न कोय॥४॥

अर्थ—सुन्दरी ! तू पागलपन क्यों करती है ? क्या यम कभी किसी के लोभ में फँसा है ? वह यदि घूस लेकर वापस लौटता, तो इस संसार में बड़े-बड़े समर्थ पुरुष कभी मरते ही नहीं।

रानी—पर अभी वह दूत आया तो नहीं है न ! आयेगा तो देखा जायगा !

राजा—भोली ! वह तो यहाँ आ चुका है ।

रानी—कहाँ है ? मुझे तो नज़र नहीं आता ।

राजा ने अपने मस्तक में से एक सफेद बाल उखाड़ कर रानी को दिखाते हुए कहा—देखो, यह है यम का दूत ! जरा अवस्था का पतला जासूस ! यह सफेद बाल हमें मौत की चेतावनी दे रहा है और जीवन में करने योग्य कार्यों को न करने की सूचना कर रहा है, अतएव इस अन्तिम बातचीत के साथ ही तुम्हारा-हमारा सबंध समाप्त होता है ! बस, अब मुझे आवश्यकता नहीं है राजमहल की, नहीं चाहिए मुझे ससार के आमोद-प्रमोद ! न चाहिए मुझे भोग-विलास और नहीं है मेरे मन में किसी वस्तु की आश !

इतना कह उस राजा ने राज्य-वैभव को तिनके की तरह त्याग दिया, और सद्गुरु के चरण-शरण हो, आत्म-साधना के लिए विरक्त बन कर दीक्षा अंगीकार करके मनुष्य-जीवन को सार्थक किया ।

इस दृष्टान्त से यह शिक्षा लेनी चाहिए कि मृत्यु के चिह्न दिखाई देने से पहले ही तैयार होकर आत्मिक कार्य को साध लिया जाय । अभी हम जवान हैं, आज नहीं कल, इस महीने नहीं अगले महीने या आगामी वर्ष में, धर्म कर लेंगे, बूढ़े होंगे तब श्रेय-साधन कर लेंगे ऐसा विश्वास रखकर बैठा रहने वाला व्यक्ति, कुछ भी किये बिना खाली हाथ मरण के शरण हो जाता है, अतएव कुछ-न-कुछ श्रेय-कार्य पहले ही से कर लेना चाहिए ।

[युवावस्था में मृत्यु का ध्यान नहीं रहता ; पर युवावस्था कब तक टिकेगी, सो आगे बताते हैं]

यौवन की अस्थिरता

रे रे मूढ़ जराति जीर्णपुरुषं दृष्ट्वा नताङ्गं परं,
किं गर्वाद्वत हास्ययुक्तवचनं ब्रूपे त्वमज्ञानतः।
रे जानीहि तवापि नाम निकटं प्राप्ता दशेयं ध्रुवा,
सन्ध्याराग इवेह यौवनमिदं तिष्ठेच्चिरं तत्किमु ? ॥८॥

अर्थ—अरे ऐ युवक ! उस वृद्ध पुरुष का, जिसका शरीर जरा से जीर्ण होने के कारण दुहरा-सा हो गया है, जो हाँफता-हाँफता लकड़ी के सहारे बड़ी कठिनाई से चल-फिर सकता है, जो चलते-चलते ठोकर खाकर गिर पड़ता है, तू मजाक करता है ! यौवन के अभिमान में इतना चूर-चूर हो रहा है, या अज्ञान के समुद्र में डूबा हुआ है ? क्या तुझे पता नहीं कि जवानी 'जवानी—जाने वाली' है—वह स्थिर नहीं रह सकती ! समझ, होश में आ, ज़रा विचार कर। यह यौवन थोड़े दिनों का है—'चार दिन की चाँदनी' है। थोड़े ही दिनों में जब जवानी सन्ध्याकाल के राग के समान चली जायगी, तो तेरी ऐसी ही दुर्दशा हो जायगी। तू याद रखना, बूढ़े की जिस दशा को देखकर तू खीसें निपोरता है, वही दशा तुझे खुद को फँसा लेगी, तब तुझे भी ऐसी ही यातना भुगतनी पड़ेगी ॥८॥

विवेचन—जवानी दीवानी होती है, इस कहावत के अनुसार

जवानों में जगह-जगह मदिरा में छके हुए शराबी की भाँति बहुत अशों में पागलपन नज़र आता है। शराबी को जैसे भान नहीं रहता, उसी प्रकार जवानी में भी विवेक नहीं रहता। जहाँ विवेक का अभाव होता है, वहाँ मोह की प्रबलता होती है, अतएव जैसे अग्नि पर गर्म किये हुए कड़कडाते तेज़ में पानी गिरने से वह उबलने लगता है, उसी प्रकार सहज निमित्त मिलते ही वह क्रोध के आवेश में आ जाता है। समस्त भूमडल के पदार्थ कब्जे मे आ जाएँ, तो भी संतोष न हो, ऐसे प्रबल लोभ का प्रादुर्भाव होता है। चाहे जिसको, चाहे जिस तरह ठगकर, बिना अधिकार, कुछ भी छीन लेने का कपट उत्पन्न होता है। विविध प्रकार का अभिमान पैदा होता है, जैसे—मैं उच्च जाति का हूँ, मुझे उत्तम प्रकार की सामग्री मिली है, ऐसी सामग्री औरों के नहीं है, मैं उच्च कुलीन हूँ, मेरा-सरीखा कुल और किसी का नहीं है, मेरा ऐश्वर्य अपार है—ऐसा अन्य का नहीं है, मेरा-जैसा बल औरों में नहीं है, कोई मेरी सुन्दरता की समानता नहीं कर सकता। मुझ-जैसा तपस्वी दूसरा कोई भी नहीं है, मेरे मुकाबिले का कोई विद्वान् नहीं है, इस प्रकार अनेक मौजूद चीजों का मद और गैर मौजूद चीजों का लोभ उत्पन्न होता है। दुष्टता-पूर्वक जैसे-तैसे भाँडों की भाँति मज़ाक करने की बुद्धि पैदा होती है। भाग्यवश यदि कोई अच्छी चीज प्राप्त हो जाय, तो वह खुशी के मारे फूला नहीं समाता, आनन्दोन्मत्त हो जाता है, किसी वस्तु का विनाश हो जाय, तो उसके क्लेश और विषाद का ठिकाना नहीं रहता। तरह-तरह के भय उत्पन्न होते

हैं। इष्ट वस्तु के वियोग का प्रसग आने पर बहुत समय तक शोक से छुटकारा नहीं मिलता। कभी सफाई का रग चढता है, तो दूसरों की मलिनता की ओर उसे घृणा-भाव जागता है। पुरुष हो तो स्त्री को भोगने की इच्छा जाग्रत् होती है, स्त्री हो तो उसे पुरुष को भोगने की इच्छा होती है, नपुमक हो तो स्त्री-पुरुष—दोनों को भोगने की इच्छा होती है। इस प्रकार जवानी में मोह का उदय होता है और अज्ञानता के कारण मनुष्य जन्म को सार्थक करने का समय, जो चिन्तामणि-रत्न के समान समझा जाता है, व्यर्थ गँवा दिया जाता है और आत्महित को एकदम भुला दिया जाता है। आँखों पर पट्टी बाँधकर, बनाव-सिंगार करके, वर-घोडा में फिरने वाला, बजते हुए बाजों के आधार पर वह साथ-साथ घूम सकता है; पर उसके शरीर के सिंगार उठा ले जाने वाले को वह नहीं देख सकता। ठीक इसी प्रकार जवानी के मद में चूर होकर अन्धा बना हुआ मनुष्य, इस नकलची ज़माने मे बजने वाले बाजों, जैसे—नाटक, होटल, फैशन, एटीकेट और शृगारिक शब्द-श्रवण में दूसरों के साथ-साथ तो शरीक होता है, परन्तु इनसे उसे क्या हानि होती है, यह बात सारी जवानी समाप्त हो जाने पर भी और यदि कुछ और आगे बढकर कहा जाय, तो सारी पूँजी खत्म होने तक भी, मालूम नहीं होती, पर जब जवानी जाती रहेगी, दाम-ठाम आदि कुछ भी न रहेंगे, बुढापा आ घेरेगा, पूर्ण अशक्ति जान पडेगी, तब इस भूल का पश्चात्ताप होगा—अवश्य होगा, मगर उस समय हाय-हाय करने से

क्या लाभ ? 'फिर पछताए होत का चिड़ियाँ चुग गई खेत' इस कहावत के अनुसार वर्त्तमान में ही विवेक रखकर, आत्महित की ओर ऋजु हो जाय, तो पछताने का अवसर ही न रहेगा ; इसलिए जब तक जवानी बनी हुई है, वृद्धावस्था आई नहीं है, रोगों की उत्पत्ति नहीं हो पाई है, काल ने घेरा नहीं डाला है , अर्थात्—मृत्यु नहीं आई है, लक्ष्मी और परिजनों पर स्वतंत्र अधिकार है, शरीर में शक्ति है, तब तक आत्मिक कार्य साध लेना ही मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है। जवानी बीत जाने पर हाथ में लकड़ी आ जाती है, कमर झुक जाती है, और लोग बुढ़ापे का उपहास करते हैं। कोई कहता है—चचाजी टेढ़े-मेढ़े होकर क्यों चाल चलते हो ? तब दूसरा उसके उत्तर में वक्रोक्ति करता है—इनकी जवानी कहीं खो गई है, उसे ढूँढने के लिए आप झुक-झुककर चलते हैं। इसके अतिरिक्त वृद्धावस्था में आँखें चली जाती हैं—अन्धापन आ जाता है, फिर भी इस युग के मनुष्यों को उनपर तरस नहीं आता। वे उपहास किये बिना नहीं रहते। इसका एक छोटा-सा उदाहरण इस प्रकार है—

दृष्टान्त—एक गरीब अन्धा किसी गली में भीख माँग रहा था। उसे देख एक छोकरे ने पूछा—बुड्ढे ! इधर किधर जाएगा ? बूढे ने कहा—मैं भूखा हूँ, भीख माँगने जाता हूँ। तब छोकरा कहने लगा—लो मेरे पास हलुवा है, इसे ले लो। ऐसा कहकर उसने थोड़ा-सा कीचड़ बूढ़े के हाथ पर रख दिया। अन्धे बूढे ने उसे मुँह में डाला और जब उसे मालूम हुआ कि यह हलुवा नहीं कीचड़ है, तो उसने थूक दिया।

वह छोकरा अन्धे की पगडी उछालकर हँसता-हँसता भाग गया। बूढ़ा बेचारा चिल्लाया, तो आस-पास से चार-पाँच दूसरे जवान आये। उन्होंने उसकी पगडी वापस देने के बदले उसकी काछ खोल डाली और बुरी तरह उसे सताया।

इस प्रकार यौवन के मद मे चूर कितने ही लोग दु:खी वृद्धो से छेडछाड करते है, मगर उन्हें पता नहीं कि—एक समय आयेगा, जब हमारी भी यही हालत होगी। वह समय भी बहुत देर से नहीं, किंतु शीघ्र ही आनेवाला है। जवानी के बीतने मे कुछ भी देर नहीं लगती। वह पतग के रग की तरह शीघ्र ही उड जायगी। किसकी जवानी क़ायम रही है? जो लोग कुछ ही समय पहले जवान थे, उनका बुढापा हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। वे जिस प्रकार बूढे हुए हैं, उसी प्रकार सब बूढे होने वाले हैं। एक का जो हाल हुआ है, दूसरे का भी वही हाल होने वाला है। ऐसे लोगों को भर्तृहरि का यह वचन सदा याद रखना चाहिए—

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता भ्रष्टा च दन्तावलि-
र्दृष्टिर्नश्यति वर्द्धते बधिरता, वक्त्रं च लालायते।
वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनैर्भार्या न शुश्रूषते,
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते॥

अर्थात्—जब बुढापा आता है, तो शरीर सिकुड़ जाता है, पैर काँपने लगते हैं। चलने की शक्ति नष्ट हो जाती है, दाँतों की बत्तीसी गिर जाती है, आँखों का तेज नष्ट हो जाता है, या आँखें ही मुँद जाती

हैं। कुटुम्ब में अनादर होने लगता है, कोई भी मनुष्य उसकी बात पर कान नहीं देता, स्त्री भी सेवा-चाकरी नहीं करती, अधिक क्या, जिसे पाल-पोसकर सयाना बनाया वह पुत्र भी शत्रु के समान व्यवहार करने लगता है, अर्थात्—मनुष्य सब तरह से बेहाल हो जाता है।

बूढ़ों की हँसी करनेवाले युवकों को, अपनी भावी स्थिति का खयाल करके गर्व और उद्धतता छोड़कर सीधे मार्ग पर चलना चाहिए ॥८॥

[यौवन की भाँति प्रत्येक पदार्थ अस्थिर है, यह बतलाते हुए अनित्य भावना की समाप्ति करते हैं]

सब की अस्थिरता

रम्यं हर्म्यतलं बलञ्च बहुलं कान्ता मनोहारिणी,
जात्यश्वाश्चतुला गजा गिरिनिभा आज्ञावशा आत्मजाः।
एताश्चैकदिनेऽखिलानि नियतं त्यक्ष्यन्ति ते सङ्गतिं,
नेत्रे मूढ़ निमीलिते तनुरियं ते नास्ति किं चापरम् ॥ ६ ॥

अर्थ—हंडे, तख्ते और सब प्रकार के फर्नीचर से सजाया हुआ सुन्दर महल, चकित कर देनेवाला शारीरिक बल, विविध प्रकार के वृक्षों के फूलों के सुगन्धित पवन से मन को प्रफुल्ल कर देनेवाले बगीचे, पवन-वेग से चलने वाले घोड़े, हाथी, रथ तथा विस्तृत कुटुम्ब, यह तमाम वस्तुएँ क्या तुम्हारे पास कायम रहने वाली हैं ? नहीं, नहीं। यह वस्तुएँ कदाचित् तुम्हें मिली होंगी, तो भी थोड़े समय तक ही तुम्हारे उपभोग में आयेंगी, कुछ समय व्यतीत होने पर वे अवश्य ही तुमसे

अलग हो जाएँगी। अरे मूढ़! जब प्राण इस शरीर में से उड़ने की तैयारी करेंगे, आँखें मिच जायँगी, तब यह शरीर भी, जो सबसे अधिक समीप है, तेरा न होगा तो और वस्तुओं की बात ही क्या है? ॥ ६ ॥

विवेचन—जगत् में जितने भी पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, सब पुद्गलमय हैं। 'पूरणगलनस्वभाव पुद्गल', अर्थात्—मिलना तथा बिछुड़ना ही पुद्गल का स्वभाव है। साँझ समय आकाश में जो रंग-बिरंगी सन्ध्या दिखाई देती है वह पुद्गल है, सूर्योदय के समय खिले हुए फूल की सुगंध भी पुद्गल है। खाने के पकवान, पहनने के वस्त्र, आभूषण, सोने की सेज, आसन, रहने की हवेली, ये सब पौद्गलिक पदार्थ हैं। यही कारण है कि इनमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। साँझ समय सन्ध्या की लालिमा से आकाश झिलमिलाने लगता है, किन्तु पाँच ही मिनट के पश्चात् वही आकाश अन्धकार के काले पर्दे में ढँक जाता है। फिर कुछ समय बाद ही चन्द्रमा का उदय होता है और अन्धकार भी अन्धकार में विलीन हो जाता है और उसके स्थान पर चाँदनी का साम्राज्य फैल जाता है। कुछ समय व्यतीत होते ही चाँदनी का भी अन्त हो जाता है और फिर अन्धकार का आगमन होता है। प्रभात होता है, सूर्य का आताप संसार के कोने कोने में फैल जाता है—अन्धकार का कहीं पता नहीं चलता। सूर्य भी प्रभात में किशोर, मध्याह्न में युवक और सन्ध्या समय वृद्ध होकर अस्त हो जाता है। प्रकाश को सिकोड़कर अन्धकार को छोड़ जाता है। प्रकाश और अन्धकार—सब पुद्गलमय हैं। सूर्य और चन्द्र जैसे प्रकाश-

पुञ्ज भी स्थिर नहीं रह सकते, उनमें भी क्षण-क्षण परिवर्तन होता रहता है, तो और पदार्थों की बात ही क्या है ? दाम खर्च करके, परिश्रम के साथ खाने की कोई बढ़िया-से-बढ़िया वस्तु तैयार की, पेट में डाली, यदि उसी समय उलटी हो जाय तो उसका स्वरूप एकदम बदला हुआ मालूम होता है। जिस वस्तु को एक क्षण पहले बड़ी प्रसन्नता से खाया था, उसी वस्तु की ओर अब नजर फेरने से घृणा उत्पन्न होती है ! उसमें से फट पड़नेवाली बदबू भी सहन नहीं हो सकती। इतनी-सी देर में, वस्तु में इतना महान् परिवर्तन हो गया, कारण ? कारण और कुछ भी नहीं है, सिवाय इसके कि पुद्‌गल का ऐसा स्वभाव ही है। शुभ वर्ण का अशुभ, और अशुभ का शुभ हो जाता है। सुगंध दुर्गन्ध हो जाती है—दुर्गन्ध, सुगन्ध बन जाती है। अच्छा रस बुरा और बुरा रस अच्छा हो जाता है। साबुन क्षार आदि से उज्ज्वल बनाया हुआ वस्त्र पहनकर तेली या हलवाई की दूकान पर बैठने वाले व्यक्ति के वस्त्र चार-पाँच दिन मे ऐसे गदे-चिकटे हो जाते हैं, मानो वे वस्त्र ही न हों।

एक ओर वस्तु इस प्रकार परिवर्त्तित होती रहती है—नई की पुरानी और पुरानी की नई बनती रहती है, एक की जगह अनेक और अनेक की जगह एक—वह एक सी नहीं रहने पाती, जल की जगह स्थल और स्थल के स्थान पर जल, शहर के बदले गाँव और गाँव के बदले श्मशान बन जाता है, और दूसरी ओर हम भी परिवर्त्तित होने से नहीं बच पाते। बाल्यावस्था, किशोरावस्था, तरुणावस्था, प्रौढावस्था और

वृद्धावस्था में शरीर आदि की हालत में बराबर परिवर्त्तन जारी रहता है और इतना ही नहीं; किन्तु साथ-ही-साथ पुण्य की अवस्था में भी परिवर्त्तन होता रहता है। एक समय आता है, जब जो-जो चाहिए सो सब कुछ अनायास ही प्राप्त हो जाता है और दूसरा समय वह भी आता है, जब जिसकी इच्छा की जाय उससे विपरीत की ही प्राप्ति होती है। किसी समय हजारों आदमियों पर आज्ञा चलती है, तो दूसरे समय हजारों की आज्ञा बजानी पडती है। किसी समय बैठने के लिए हाथी, घोड़ा, पालकी मिलती है, तो किसी समय गाड़ी के बैल की जगह जुतना पड़ता है या दूसरे की पालकी अपने कंधे पर ढोनी पड़ती है। किसी समय मनचाहे खाद्य-पदार्थ तैयार मिलते हैं, तो किसी समय रूखी रोटी का एक टुकड़ा भी नसीब नहीं होता। इस प्रकार दुहरे परिवर्त्तनवाले इस दृश्य जगत् में जो मनुष्य मगन हो रहे हैं, मिली हुई थोडी-सी संपत्ति का अभिमान कर रहे हैं, उस संपत्ति को बढाने के हेतु अनाचरणीय आचरण करते हैं, उन्हें इतना तो अवश्य सोचना चाहिए कि यह महल, हाथी, घोड़ा, रथ, कुटुम्ब, परिवार, शरीरबल, यौवन, लक्ष्मी, बागबगीचा, जमीन, गाँव-गरा, अधिकार और हुकूमत, कब तक टिकने वाली हैं और हम स्वयं कितनी देर ठहरने वाले हैं? पुण्य और आयुष्य का बल जब तक है तभी तक दोनों का संयोग है, पर पुण्य और आयुष्य कब तक स्थिर रहेंगे? दोनों चीजें लाखों-करोडों वर्षों तक कायम नहीं रह सकतीं। अधिक की बात जाने दीजिए, नियमित रूप से पाँच-पचीस वर्ष भी तो ये टिक नहीं सकतीं। संभव है, अभी-अभी उनमें परिवर्तन

हो और अभी-अभी उनका नाश भी हो जाय। जब इनका नाश होने लगता है, तो किसकी मजाल है जो इन्हें नष्ट होने से बचाने का साहस कर सकता हो! ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं कि एक व्यक्ति पहले क्षण राजा था और दूसरे ही क्षण रंक बन गया, पहले क्षण साहूकार था और दूसरे क्षण दरिद्र हो गया, पहले क्षण निरोगी था और दूसरे क्षण रोग का शिकार बन गया, पहले क्षण जीवित था और दूसरे क्षण मौत का मेहमान बन गया! अतएव जब पुण्य और आयु में से किसी एक का अन्त होगा, तो उसी के साथ सारी सम्पत्ति का वियोग हो जायगा। मेरी-मेरी कहने पर भी सिर्फ एक पल भी उसे उपभोग करने का अधिकार न होगा।

दृष्टान्त—राजा भोज की एक अवस्था का दृष्टान्त लीजिए। भोज की उदारता और विद्वत्ता—ये दो गुण सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। इन दोनों गुणों के साथ अभिमान रूप अवगुण का अभाव किसी विरले ही अन्तःकरण में होगा। राजा भोज में अभिमान का दोष स्वाभाविक न होगा, पर किसी-किसी समय वह प्रकट होता होगा, यह असम्भव नहीं है। एक समय की बात है। रात्रि का कुछ अंश शेष बचा था। बंदी-जन मंगल पाठ कर रहे थे। उसी समय भोज की निद्रा टूटी। जागते ही उसका विचार अपनी सम्पत्ति की ओर गया। अपने राज्याधिकार, सत्ता और महत्ता की स्मृति होते ही अभिमान का अंकुर उत्पन्न हुआ। अपने मुँह से अपनी संपत्ति का वर्णन करने के लिए एक संस्कृत-भाषा के श्लोक की रचना आरंभ की गई। श्लोक के चरण ज्यों ज्यों तैयार

होने लगे, त्यों-त्यों राजा उच्च स्वर से इस प्रकार से पढ़ने लगा—

चेतोहराः युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः।

सद्बान्धवा. प्रणति नम्रगिरश्च भृत्या. ॥

वल्गन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरंगाः।

अर्थात्—मेरे अन्त पुर मे एक-से-एक बढिया चित्त को हरण करनेवाली युवतियाँ हैं, मेरे मित्र और भाई-बन्द खूब हैं और वे सब अनुकूल हैं। नौकरों और कर्मचारियों पर मेरा इतना अधिकार है कि कोई भी मेरे वचनों का उल्लघन नही कर सकता। प्रत्येक मनुष्य मेरे सामने नम्र होकर चलता है। हाथी-घोड़े और सेना भी मेरे पास औरों से अधिक है। थोडे मे जैसा साम्राज्य मेरा जमा है वैसा दूसरों का नहीं होगा। इस प्रकार अपनी समृद्धि के गर्व के साथ, 'मेरा-मेरा' इस प्रकार ममत्व करता हुआ, उक्त तीन पदों को राजा बारम्बार बोलने लगा। चौथा पद तैयार करने का राजा प्रयत्न करता है, परन्तु अभी तक वह तैयार नहीं हुआ। इस बीच एक चोर जो विद्वान है, किन्तु कर्म-योग से जिसे चोरी की लत पड गई है, अपनी इच्छा पूरी करने के लिए राजा के भण्डार में चोरी करने के लिए आया है। वह चोरी के धधे में निष्णात नहीं है, इसलिए राजा के भण्डार तक पहुँच तो गया, पर तत्काल भण्डार तोडकर धन प्राप्त नहीं कर सका। इधर-उधर भटकने में समय ज्यादा हो गया है, इस बात का भी उसे भान नहीं रहा। राजा सोकर उठा और तीन पद जब गाने लगा, तब भी वह विद्वान् चोर अन्दर ही मौजूद था। राजा के तीन पद उसने सुने।

विचारा—राजा को अभिमान हो आया है। उस अभिमान की चिकित्सा कौन कर सकता है ? उसके आस-पास के लोग तो खुशामदी ही होते हैं, वे उसे क्यों अप्रसन्न करने लगेंगे ? मैं इस अभिमान को उतार सकता हूँ, पर इस समय प्रकट कैसे हो सकता हूँ ? प्रकट होऊँगा, तो चोर समझा जाकर पकडा जाऊँगा। इस समय क्या करना चाहिए ? अन्त में उसने निर्णय किया, मेरा जो होना हो सो हो, पर राजा के अभिमान की चिकित्सा अवश्य करूँगा। यह निर्णय करके चोर राजा के सोने के कमरे के सामने दालान मे खड़ा हो गया। राजा ने तीन चरण बोले त्योंही चोर ने चौथा चरण इस प्रकार कहा—

सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति ॥

अर्थात्—हे राजन्! स्त्री, मित्र, नौकर, हाथी, घोडे, लश्कर इत्यादि समस्त पदार्थ आपके तभी तक हैं, जब तक आपकी आँख खुली हुई है। आँख बन्द हुई, प्राण-पखेरू उड गये, तो आपका कुछ भी नहीं है। कबीरदास के शब्दों में कह सकते हैं—'आप मुये पीछे डूब गई दुनिया।' अस्तु। चौथे चरण को सुनकर राजा प्रथम तो श्लोक की पूर्त्ति होने से सन्तुष्ट हुआ और दूसरे वह चरण इतना चमत्कारपूर्ण अर्थ-सूचक था, कि उसपर विचार करते ही राजा का समस्त अभिमान गलकर पानी-पानी हो गया, परन्तु पाद-पूर्त्ति किसने की है ? इस बात को तलाश करवाकर राजा ने उसे अपने पास बुलाया। विद्वान् चोर ने भी राजा के समक्ष खडे होकर चौथे चरण का अर्थ भली-भाँति समझाया। राजा ने पूछा—'तुम कौन हो ?' उसने उत्तर दिया—'हे राजन्! मैं उच्च

कुल में उत्पन्न एक गृहस्थ हूँ, मगर जन्म से कोई ऐसा संस्कार मेरी बुद्धि में पड़ गया है, कि उससे सदा चोरी करने की इच्छा मुझे हुआ करती थी। आज उस इच्छा की पूर्त्ति करने के लिए चोरी करने यहाँ आया हूँ; पर मैंने अभी तक कुछ लिया नहीं है। इसी समय आपके शब्द सुनकर आपको रास्ते पर लाने के लिए मैं आपके समक्ष प्रकट हो गया हूँ। बस, यही मेरा वृत्तान्त है। आप जो सज़ा मुझे देना उचित समझें, दीजिए।' राजा ने प्रसन्न होकर उसे इनाम दिया और विदा किया, तब से राजा भोज ने फिर कभी अपनी अस्थिर सम्पत्ति का अभिमान नहीं किया।

इस दृष्टान्त से उन लोगों को शिक्षा लेनी चाहिए, जो सम्पत्ति मिलने पर अभिमान से फूले नहीं समाते और अनित्य पौद्‌गलिक सम्पत्ति को नित्य माने बैठे हैं। जो नित्य पदार्थ को नित्य और अनित्य को अनित्य समझता है, वही समझदार मनुष्य कहलाता है, उसी की समझ वास्तव में सच्ची समझ है और वही आत्महित को सिद्ध कर सकता है, अतएव आत्मिक भाव जो नित्य है, उसी की ओर लक्ष्य रखो और अनित्य, निश्चय ही क्षण-भर में नष्ट होनेवाली, ऊपर से सुन्दर और भीतर से हलाहल विष से भरी हुई पौद्‌गलिक वस्तुओं सम्बन्धी आसक्ति कम करो। अभिमान को दूर करो, अनित्य भावना के चिन्तन करने का यही फल है ॥६॥

(२) अशरण - भावना

[अनित्य और अस्थिर जीवन में अन्तिम समय कोई वस्तु शरण-दायक है या नहीं? यह बात दूसरी भावना के वर्णन द्वारा दिखाई जाती है। अगले काव्य में पहले-पहल धन की अशरणता का कथन किया जाता है।]

अशरण-भावना

त्यक्त्वा धर्मं परमसुखदं वीतरागैश्च चीर्णम्,
धिक्कृत्यैवं गुरुविधिवचः शान्तिदान्ती तथैव।
आप्त्वा लक्ष्मीं कुनयचरितै रार्जयस्त्वं तथापि,
मृत्यौ देहं प्रविशति कथं रक्षितुं सा समर्था ॥१०॥

अर्थ—परम सुख के दाता और राग-द्वेष को जीत लेनेवाले पुरुषों के बताये हुए धर्म को तिलांजलि देकर, शास्त्रीय विधानों को पैरों तले कुचल कर शान्ति-समाधि का भंग करके, परदेश में भटककर, अन्याय और अनाचार से तू धन का उपार्जन करता है, पर जब काल आकर तेरा गला दबोचेगा, तब लक्ष्मी क्या काल के झपाटे से तुझे बचा सकेगी? नहीं, कदापि नहीं! भले ही तू ने लाखों या करोड़ों रुपये उपार्जन किये हों, पर वे लाखों-करोड़ों रुपये काल के गाल से छुड़ाकर शरण नहीं दे सकते! ॥ १० ॥

विवेचन—खेल-खेल में एक लड़का दूसरे लड़के को पीट देता है, तो वह पिटा हुआ लड़का रोता-रोता अपने माँ-बाप के शरण में जाता है। माँ-बाप उसे आश्वासन देते हैं और पीटनेवाले छोकरे को दंड देते हैं। एक रोगी रोग से पीड़ित होकर किसी परोपकारी वैद्य, हकीम या डाक्टर का शरण लेता है। वैद्य औषध देकर दर्द दूर कर देता और रोगी को शान्ति उपजाता है। लुटेरों एवं बलवाखोरों के त्रास से दु.खी प्रजा राजा के शरण में जाती है। राजा प्रजा के दु.ख पर ध्यान देकर उसे दूर करने का प्रयत्न करता है। एक छोटा राजा युद्ध में पराजित होकर अपने से महान् राजा का शरण ग्रहण करता है, वह समर्थ राजा शरण में आये हुए उस राजा की सहायता करके उसे आपत्तियों से मुक्त करता है। रुपये-पैसे की तंगीवाला दरिद्र मनुष्य दातार के शरण में जाता है। दातार उसे आश्रय देकर उसका कष्ट नष्ट करता है। इस प्रकार जगत् में छोटे-छोटे दुःखों से बचानेवाले, सहायता करनेवाले व्यक्ति या वस्तुएँ मिल सकती हैं; पर जब अन्तिम समय की बीमारी लागू पड़ती है, अन्न-पानी जब गले के नीचे नहीं उतरते, श्वास पर श्वास चलते हैं, उठने-बैठने और बोलने का सामर्थ्य नहीं रहता, सन्निपात हो जाता है, मौत की विरस झंकार सुनाई देने लगती है, उस समय काल के चंगुल में फँसे हुए मनुष्य को बचाने की शक्ति किसी में है? महानुभाव! जिस धन के लिए उत्कृष्ट सुख देनेवाले धर्म को तिलाञ्जलि देता है, धर्म की आज्ञा और महापुरुषों के उपदेश को एक ओर रख देता है, जिस धन के लिए

जनता में अशान्ति फैलाता है, उत्पात मचाता है, कपट-दंभ, लोभ, विश्वासघात, असत्य, अन्याय का आचरण करता है, वह धन क्या तुझे काल के पंजे से छुड़ा सकेगा? कदापि नहीं!

दृष्टान्त—किसी साहूकार के पास अतुल संपत्ति समझी जाती थी। नौकर-चाकर, गाड़ी-घोड़ा, बाग-बगीचा, आदि ऐश्वर्य भी उसका ऐसा ही था। राज्य में उसको बहुत अच्छी प्रतिष्ठा थी और समाज का वह मुखिया माना जाता था, मगर एक कमी के कारण उसे वह सारा ऐश्वर्य तुच्छ-सा लगता था। जब उस वस्तु का उसे स्मरण हो आता था, तब उसके मुँह से गंभीर आहें निकलने लगती थीं और शोक-पूर्ण उद्गार प्रकट होने लगते थे कि—हाय! इतनी अपार संपत्ति मिलने पर भी मुझे एक आवश्यक वस्तु प्राप्त नहीं हुई। वह चीज और कुछ नहीं, सिर्फ एक पुत्र! पुत्र-प्राप्ति के लिए सेठजी ने अनेक उपाय किये—एक स्त्री मौजूद रहते दूसरी—तीसरी स्त्री से विवाह किया। अन्त में कई वर्षों के बाद तीसरी स्त्री से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र के जन्म से सेठ के आनन्द का पार न रहा। खुले हाथों धन खर्च कर पुत्र का जन्म-महोत्सव मनाया। अनेक अन्धे, लूले, लँगड़े, निराधार भिखारियों को दान देकर सन्तुष्ट किया। इस अवसर पर सेठजी को अपने सगे-संबंधियों एवं परिचित जनों की ओर से इतने अभिनन्दन-पत्र प्राप्त हुए कि उनके उत्तर लिखने के लिए अलग ही आदमी नियुक्त करने पड़े। बालक के जन्म से चहुँ ओर हर्ष-ही हर्ष फैल गया था, इसलिए उसका नाम हर्षचन्द्र रखा गया। हर्षचन्द्र को

पाँच धाएँ पालने-पोसने लगीं। खेलानीवाली अलग, दूध पिलानेवाली अलग, स्नान करानेवाली अलग, वस्त्राभूषण पहनानेवाली अलग और गोद में बैठानेवाली भी अलग। हर्षचन्द्र की तबीयत जरा भी अलील होती या थोडा बहुत ज्वर हो आता, तो वैद्यों और डाक्टरों का ताँता बँध जाता था। चिकित्सा के लिए सेठजी हजारों रुपये खर्च करते न सकुचाते थे। कदाचित् हर्षचन्द्र की बीमारी दो-चार दिन लम्बी हो जाती, तो सेठजी तब तक चैन न लेते थे। खाना-पीना या गाना-बजाना, उन्हें कुछ भी नहीं सुहाता था। लड़के की चिन्ता में सेठजी स्वयं कभी बीमार हो जाते थे। सेठजी का हर्षचन्द्र पर इतना अधिक अनुराग था। हर्षचन्द्र जब सात-आठ वर्ष का हुआ, तो उसे घर पर पढाने के लिए खास शिक्षक नियत किये गये। शिक्षकों को हिदायत कर दी गई—लडका थोडा पढ़े तो भी कोई हानि नहीं, मगर उसे मारा-पीटा कतई न जाय। और न धमकी दी जाय। एक ओर विद्याभ्यास प्रारंभ हुआ और दूसरी ओर कितने ही साहूकारों की तरफ से अपनी कन्या का हर्षचन्द्र के साथ विवाह करने के लिए प्रार्थनाएँ होने लगीं। सेठ-सेठानी को भी पुत्र का विवाह-महोत्सव देखने की अत्यन्त आतुरता थी; अतः अपनी बराबर की हैसियतवाले एक बडे गृहस्थ की कन्या के साथ हर्षचन्द्र का संबध ठीक हो गया और लगभग बारह-तेरह वर्ष की उम्र में विवाह की धूम-धाम मच गई। धूमधाम में भला कमी किस बात की हो सकती थी? लग्न के अवसर पर लाखों रुपये खर्चे गये। सेठजी ने हर्षचन्द्र

के विवाह का सुख लूटा। हर्षचन्द्र को नौकरी तो करनी ही न थी और रुपये पैसे पर्याप्त थे, अतएव अधिक पढाने की कुछ भी आवश्यकता न समझ शादी के अनन्तर पढाई लिखाई पर पटिया फेर दिया गया। मज़े उडाना, घूमने-फिरने जाना, रमत-गम्मत करना, बस यही काम-काज उसे रह गया और इन्हीं कामों में हर्षचन्द्र का समय व्यतीत होने लगा। हर्षचन्द्र जब सोलह वर्ष का हुआ, तब सेठजी छिहत्तर (७६) वर्ष के थे। इस उम्र में भी किसी आवश्यकता से सेठजी दस-पन्द्रह दिन के लिए बाहर मुसाफिरी करने निकले। मुसाफिरी से लौटते समय रास्ते में उन्हें समाचार मिला कि हर्षचन्द्र को कल प्लेग की गाँठ निकली है। यह समाचार सुनते ही सेठजी के होश उड गये। गाड़ी में बैठे-बैठे ही उन्हें मूर्च्छा आ गई। थोडी देर में जब उन्हे होश आया, तो गाडीवान् से कहने लगे—'शीघ्र से शीघ्र मुझे घर पहुँचा।' गाडीवान् ने घोडों को एकदम छोडा और थोडी ही देर में गाडी घर पर आ पहुँची। घर के सामने आकर देखा—डाक्टरों की गाडियाँ खडी हुई हैं। अन्य अनेक आदमी आ-जा रहे थे। हाँफते-हाँफते सेठजी हर्षचन्द्र के पलग के पास पहुँचे। हर्षचन्द्र के सामने नज़र की तो देखा—उसका चेहरा बदल गया है, शरीर पर हाथ फेरा तो मालूम हुआ एक सौ चार-पाँच डिग्री ज्वर चढा हुआ है। चार-पाँच डाक्टर मौजूद थे, फिर भी सेठजी ने और बड़े-बडे डाक्टरों को बुलाने के लिए नौकर भेजे। थोड़ी-सी देर में बडे बडे सिविल सर्जन इकट्ठे हो गये। सेठजी को वे हिम्मत बँधाने

लगे—आप चिन्ता न कीजिए, अभी सब ठीक हो जायगा। यह केस खतरनाक नहीं है। डाक्टरों के आश्वासन से सेठजी को कुछ आशा बँधती थी; पर जब हर्षचन्द्र की ओर नजर जाती तो ऐसा मालूम होता था कि उसकी बीमारी बढ़ती जा रही है। डाक्टरों पर डाक्टर बुलाने पर और दवाइयों पर दवाइयाँ पिलाने पर भी क्षण-क्षण बीमारी बढ़ती ही गई। दो घड़ी बाद हर्षचन्द्र की सुध-बुध जाती रही। सन्निपात हो गया और वह अट-शट बकने लगा। एक बार तो वह यकायक बैठ गया और सेठजी के गले लगकर कहने लगा—'पिताजी, अब मैं मर जाऊँगा। देखो ये यमदूत सामने खड़े हैं। क्या ये मुझे लेने आये हैं? हाँ, हाँ, भले ही ले जायँ। अरे बाप रे! मुझे बचाओ!' इस प्रकार बकता हुआ सेठजी की गर्दन से लिपट गया। अन्त में बड़ी कठिनाई से गर्दन छुड़ाकर उसे सुलाया गया, पर अब सेठजी के हृदय की स्थिरता जाती रही। वह वहाँ से उठ कर एक कमरे में जा रोने लगे—'हाय! मेरा नसीब फूट गया। अब यह बीमारी कैसे मिटेगी?' सेठजी के सगे-सबंधियों ने उन्हें बहुत सम-झाया-बुझाया पर सेठजी तो पछाड़ खाने लगे, माथा कूटने लगे। हर्षचन्द्र की स्त्री, उसका श्वसुर और उसके घर के तमाम आदमी रोने-चिल्लाने लगे। रोना-धोना मच गया। सेठजी ढार मार कर रोते-रोते बोले—'यदि इस समय मेरे बेटे को कोई बचा ले, तो उसे मुँह माँगा धन दूँगा। लाखों-करोड़ों रुपये या उससे भी अधिक लड़के की तौल का जवाहरात दे दूँगा। हाय! कोई मेरे लाल को

बचाओ! दूसरी ओर हर्षचन्द्र की माँ रोते-रोते कहने लगी—अरे कोई मेरे बेटे को बचाओ! अगर कोई मेरे बेटे को बचा ले, तो मैं अपने लाखों की कीमत के आभूषण उसे भेंट दूँगी और मुँह माँगा धन! इस प्रकार सब चिल्लाते रहे और उसी समय हर्षचन्द्र की आत्मा ने परलोक की ओर प्रयाण किया। सेठजी की जिंदगी धूल में मिल गई। उसके कुछ समय बाद तक सेठजी जीवित रहे, पर वे अपने को जीते-जी मुर्दा-सा ही मानते रहे, अन्त में शोक मे गल-गल-कर वे भी परलोक सिधार गये।

इस दृष्टान्त मे समझना चाहिए कि लक्ष्मी चाहे जितनी हो, पर वह लक्ष्मी या उस लक्ष्मी से प्राप्त किये हुए अन्य साधन मनुष्य को मृत्यु के पंजे से छुड़ा नहीं सकते। मृत्यु के समय धन कुछ भी काम नहीं आता! ॥१०॥

स्त्री भी शरण नहीं है

मत्वा यां त्वं प्रणय पदवीं वल्लभां प्राणतोऽपि,
पुण्यं पापं न गणयसि यत्प्रीणने दत्तचित्तः।
सा ते कान्ता सुख सहचरी स्वार्थसिद्ध्येक सख्या,
मृत्युग्रस्तं परमसुहृद् त्वां परित्यज्य याति ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस स्त्री को तू अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी समझता है, प्रेम का पात्र समझ कर जिसे संतुष्ट करने और सिंगारने के लिए पुण्य-पाप की परवा न करके चाहे जिस कुत्सित कार्य के करने में प्रवृत्त

हो जाता है, वह तेरी कान्ता—स्त्री, जब तक तेरी ओर से सुख पायेगी, जब तक उसका स्वार्थ तुझ से सधता रहेगा, तब तक तेरे ऊपर भीतर से नहीं; किन्तु ऊपर से मोहित रहेगी, तभी तक वह प्रेम दिखायेगी; परन्तु जब दु:खदायी मृत्यु का समय आयेगा, तब पेटी-पिटारे की चाभियों, गहनों और सपत्ति के समाचार पूछने के लिए तैयार हो जायगी। वह तुझे दु:ख या मृत्यु के पंजे से छुडाने में समर्थ न हो सकेगी॥ ११॥

विवेचन—जो पुरुष अन्त मे स्त्री को अपना मददगार समझ कर उसके मोह मे फँसा हुआ है, उसे बोध देने के लिए यह काव्य लिखा गया है। उस पुरुष का सबोधन अध्याहार से समझना चाहिए। हे मोह मुग्ध! ससार मे स्त्रियाँ चार प्रकार की हैं—*अधमाधम*, *अधम*, मध्यम और उत्तम। जिस स्त्री पर उसका पति प्रेम रखता हो, स्वय मुसीबतें झेलकर धन कमाकर स्त्री को सुन्दर-सुन्दर वस्त्र-आभूषण पहनाता हो, वह स्त्री यदि पति पर दिखावटी प्रेम रखती हो, भीतर से किसी अन्य-पुरुष के प्रेम मे फँसी हो, पति का अहित चाहती हो, छल-कपट करके पति को ठगती हो, तो वह स्त्री अधमाधम कहलाती है। जो स्त्री स्वार्थ की सिद्धि होने तक ही पति पर प्रेम रखे, पति के कार्य में सहायता करे, पति का हित चाहे और स्वार्थ सिद्ध होते ही पति से विरुद्ध होकर चले, पति से द्रोह करे, वह अधम स्त्री है। जो स्त्री मतलब निकलने तक भली भाँति प्रेम प्रदर्शित करती है और बाद में विशेष प्रेम नहीं रखती और अप्रेम ही रखती है, पति के हित में अपना हित न समझ अपने हित मे पति का हित समझती है, स्वय कष्ट उठाकर पति को

दुखी नहीं रखती, बल्कि अपना सुख साधकर पति के सुख की चाह रखती है वह मध्यम स्त्री है। जो स्त्री पतिव्रता-धर्म का रहस्य समझकर पति की भक्ति में लीन रहती है, पति से अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषणों के लिए नहीं, किन्तु अपना कर्तव्य समझकर पति के दुःख में हिस्सा बँटाती है, पति के सुख या हित में ही अपना सुख या हित समझती है, न केवल स्वार्थ के लिए, बल्कि निःस्वार्थ भाव से पति-भक्ति परायणा रहती है, पति की मृत्यु के पश्चात् भी पातिव्रत पालती है, वह उत्तम स्त्री कहलाती है।

दृष्टान्त—अधमाधम लम्पट स्त्रियों के शास्त्रों में अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। द्वितीय श्रेणी की अधम स्त्री सूरिकान्ता है, जिसका वर्णन 'रायपसेणी' सूत्र में किया गया है। सूरिकान्ता अर्द्धकैकयी देश के राजा परदेशी की पटरानी थी। परदेशी राजा अपनी पहली अवस्था में अत्यन्त अधर्मी, अन्यायी, अत्याचारी, क्रूर, नास्तिक, धर्मद्रोही और विषयासक्त था। रानी सूरिकान्ता पर उसका बहुत अधिक अनुराग था, क्योंकि प्रथम तो वह पटरानी थी और दूसरे उसका पुत्र सूरिकान्ताकुमार युवराज था, अतएव वह भावी राजमाता थी। सूरिकान्ता को उसकी इच्छा के अनुसार प्रत्येक वस्तु राजा की ओर से प्राप्त होती थी, अतएव राजा के प्रति वह अत्यधिक प्रेमभाव दिखलाया करती थी। जब तक राजा परदेशी का सद्गुरु केशी स्वामी के साथ समागम न हुआ, तब तक रानी के प्रेम का प्रवाह ज्यों-का-त्यों बना रहा, परन्तु चित्त सारथि के प्रयत्न से केशी स्वामी का श्वेताम्बिका नगरी में आगमन हुआ और मृगवन नामक

उद्यान में अवसर पाकर उसे सद्गुरु महाराज का समागम हो गया। इतना ही नहीं, वरन् जब केशी स्वामी के प्रबल युक्तिवाद से परदेशी राजा के मन का समाधान हो गया—स्वर्ग नरक पुनर्जन्म-पुनर्भव, पुण्य पाप, धर्म-अधर्म तथा शरीर से भिन्न जीव का अस्तित्व है, ऐसी उसे श्रद्धा हो गई, तब राजा ने नास्तिकों के सिद्धान्त का परित्याग कर जैनधर्म के सत्य सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया। इसके साथ ही उसने श्रावक के बारह व्रत रूप धर्म को अंगीकार कर लिया। अपने अधिकार के सात हजार ग्रामों के उसने चार विभाग किये और एक भाग में से दानशाला आरम्भ करने का निश्चय किया। परदेशी राजा की धार्मिक वृत्ति ऐसी सुदृढ हो गई कि उसने समस्त सांसारिक झंझटों को छोड़ दिया। एकान्त पौषधशाला में बैठकर धर्म-ध्यान करना ही उसका एकमात्र कार्य रह गया। वह उसी में मस्त हो गया। सूरिकान्ता को यह सब पसन्द न आया, क्योंकि इससे उसके स्वार्थ में बाधा पड़ने लगी। सुरिकान्ता की वृत्ति में पूर्व प्रेम का अंकुर जलकर भस्म हो गया। प्रेम का स्थान द्वेष ने ग्रहण किया। रात-दिन मन में वह राजा परदेशी पर तथा उसे धर्मोपदेश देनेवाले केशी स्वामी पर जलने लगी। सूरिकान्ता के मन में यह वहम घुस गया कि साधु ने राजा पर कोई मन्त्र-तन्त्र करके भरमा दिया है और मेरे प्रति उनका जो प्रेम था, उसे बदल दिया है।

स्वार्थपरायण सूरिकान्ता ने पहले के प्रेम, उपकार और संबंध को लात मारकर प्रभु-तुल्य पति को यमलोक पहुँचाने का निश्चय किया।

अपने निश्चय को कार्य-रूप देने के लिए वह पाश बनाने लगी। यह कार्य अकेली से न हो सकेगा—यह सोचकर उसने सूरिकान्तकुमार को राज्यसत्ता के लोभ में फँसाकर उसे भी इस कार्य में शामिल करने का इरादा किया। आदमी भेजकर कुमार को उसने अपने पास बुला भेजा। कुमार आया और उसे एकान्त कोठरी में ले जाकर वह कहने लगी—कहो कुमार, तुम्हारी क्या इच्छा है ?

कुमार—माताजी, मैं आपका प्रश्न समझ नहीं सका हूँ। स्वयं मुझे बुलाकर आप किस इच्छा के संबंध में पूछ रही हैं ?

सूरिकान्ता—मैं राज्य की इच्छा के संबंध में पूछ रही हूँ। तुम राजगद्दी पर बैठना चाहते हो या नहीं ?

कुमार—माताजी, इस समय इस प्रश्न को पूछने से आपका क्या आशय है ?

सूरिकान्ता—आशय ? आशय यह कि राज्य का सारा काम-काज खराब हो रहा है। राजाजी को धर्म का शौक सवार हुआ है, या कौन जाने उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है ! कुछ भी हो, क्या तुम नहीं जानते कि राज्य या घर की ओर उनका जरा भी लक्ष्य नहीं है ?

कुमार—नहीं, लक्ष्य तो वे नहीं देते, पर इसका अब उपाय क्या है ?

सूरिकान्ता—उपाय मैं सब बतलाऊँगी, पर पहले मैं यह जतला देना चाहती हूँ, कि हमारी यह गुप्त बातचीत किसी प्रकार प्रकट नहीं होनी चाहिए।

कुमार—विश्वास रखिए मेरी ओर से प्रकट न होगी; पर यह बतलाइए, कि वह बात है क्या ?

सूरिकान्ता—कुमार, देखो। राजा अब हमारे पथ में रोड़े के समान है। इसकी मौजूदगी में तुम्हें राजगद्दी मिल नहीं सकेगी और तब तक राज्य सारा अस्त-व्यस्त हो जायगा; इसलिए कोई न जान पाये इस तरह हम दोनों मिलकर विष खिला-पिलाकर, आग लगाकर या शस्त्र के द्वारा राजा का अन्त कर दें। बाद में हम और तुम रहेंगे। हम दोनों एक दूसरे की सलाह से राज्य चलायेंगे। कहो, मेरी बात तुम्हें पसन्द है ?

कुमार—(मन में) आह ! कैसा भयङ्कर विचार ! राज्य-सत्ता का इतना बड़ा लोभ ! धूल में मिल जाय वह राज्य-वैभव, जिसके लिए ऐसे-ऐसे क्रूर विचार उत्पन्न होते हैं ! अब यहाँ बैठना या बोलना व्यर्थ है। अधिक बोलूँगा, तो मेरे लिये भी ऐसे ही विचार करने में मेरी माता चूकेगी नहीं। (प्रकाश) माताजी ! इसके लिए विचार किये बिना मैं अभी कुछ कह नहीं सकता हूँ। इस समय मेरा शरीर अस्वस्थ है। जाने की आज्ञा चाहता हूँ।

इतना कह कुमार उठकर चला गया। सूरिकान्ता ने थोड़ी देर विचार किया, कि काम बना नहीं और बात भी प्रकट हो गई। कुमार मेरे प्रस्ताव से सहमत नहीं हुआ। अस्तु। दूसरे की सहायता चाहकर मैंने भूल की। यह कौन-सा ऐसा कठिन काम है, जिसे मैं अकेली पूरा न कर सकूँगी ? एक राजा को और वह भी गुप्त रूप से मारने में दूसरे

की सहायता की आवश्यकता ही क्या है ? अब मुझे इस कार्य में जल्दी करनी चाहिए। विलम्ब होने से, सभव है कुमार इस बात को प्रकट कर दे। इस प्रकार निश्चय करके उस दुष्टा ने परदेशी राजा को अपने यहाँ भोजन करने का निमन्त्रण दिया और रसोई में, बर्तनों में तथा प्रत्येक स्थान पर ज़हर डाल दिया। राजा भोजन करने आये। भोजन किया। भोजन करते ही विष का असर हो गया ; अतः अधूरा भोजन करके राजा उठ गये और पोषधशाला मे चले गये। राजा को सूरिकान्ता के षड्यन्त्र का पता चल गया। फिर भी उन्होंने उसके अपराध का विचार न कर समाधि-पूर्वक सथारा किया और स्वर्ग-वासी हुए। सूरिकान्ता ने अपनी स्वार्थ-लम्पटता प्रदर्शित कर अधमता सिद्ध की।

तीसरी श्रेणी की मध्यम स्त्रियाँ तो सभी जगह हैं। चौथी श्रेणी की उत्तम स्त्रियाँ ससार मे कोई विरली ही होती हैं।

हे महामुग्ध ! प्रथम तीनो श्रेणी की स्त्रियाँ तो जीते-जी ही विश्वास-घात करती हैं। चौथी श्रेणी की स्त्री जीवन पर्यन्त प्रेम रखे या कदाचित् मृत्यु के पश्चात् भी उसका प्रेम ज्यों-का-त्यों बना रहे, फिर भी वह मृत्यु से बचा तो नहीं सकती ? भरी जवानी में काल आ पहुँचेगा, तब जवान, सुन्दर और प्रेमवाली पत्नी, पति को मौत से न बचा सकेगी। ॥ ११ ॥

[एक शास्त्रीय और अनुभवसिद्ध उदाहरण से अशरण-भावना का स्वरूप अगले काव्य मे दिखलाया जाता है।]

अशरण भावना का एक दृष्टान्त

दुर्गेऽरण्ये हरिणशिशुषु क्रीडया संभ्रमत्सु,
तत्रैकस्मिन् मृगपतिमुखातिथ्यमाप्ते प्रकामम्।
धावन्त्यन्ये दिशि दिशि यथा स्वस्वरक्षातुरेणाः,
कालेनैवं नरि कवलिते कोऽप्यलं रक्षितुं नो ॥१२॥

अर्थ—मान लीजिए, हम एक ऐसे जगल मे गये हैं, जो विविध प्रकार की वनस्पतियों का भण्डार है। वहाँ अधिक जानवर नहीं पहुँच पाते इस कारण खूब घास खड़ा है। यहाँ एक हिरनों की टोली दिखाई देती है। देखो, इस टोली में बहुतेरे हिरन हैं—कोई छोटा है, कोई बड़ा है, कोई चर रहा है, कोई टुकुर-टुकुर सामने हेर रहा है, कोई कूद-फाँद मचा रहा है, और कोई-कोई आपस में खिलवाड कर रहे हैं। निर्भय होकर, इच्छानुसार घूम-फिर रहे हैं। ऐसी स्थिति मे एक विकराल सिंह आ गया। उस मृग-टोली पर आक्रमण करके एक सुन्दर आशाओं से भरे छौने को वह पकड़ लेता है। आह! देखते-देखते वह मृग छौना सिंह के राक्षसी मुँह का मेहमान बन गया। उस समय वहाँ छोटे-मोटे बहुतेरे हिरन उसके साथी थे, परन्तु उनमें से एक भी उसे बचाने के लिए खड़ा न रहा। जिसका जहाँ सींग समाया, वह उसी ओर अपने प्राण लेकर भाग गया। ठीक इसी प्रकार, कालरूपी सिंह जब किसी मनुष्य को अपना शिकार बनाता है, तो उसके माँ-बाप, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री, पत्नी और सगे-सम्बधी लोगों मे से कोई भी उसे बचाने में समर्थ नहीं होता ॥ १२ ॥

विवेचन—इस दृष्टान्त का विषय उत्तराध्ययन सूत्र के १३ वें अध्ययन की २२ वीं गाथा से लिया गया है। वह गाथा इस प्रकार है—

जहेह सीहो व्व मियं गहाय,
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया,
कालं मि तस्स सहरा हवंति ॥

अर्थात्—जैसे एक सिंह मृगों के गोले में से एकाध मृग को पकड़ ले जाता है, उसी प्रकार मौत कुटुम्ब के समस्त मनुष्यों के बीच में से एकाध मनुष्य को उठा ले जाती है। उस समय उस मनुष्य के माँ बाप, भाई, स्त्री, पुत्र आदि कोई भी उसके साथी नहीं होते और न उसे मौत के पंजे में से छुड़ा ही सकते हैं।

संसार में अधिक-से-अधिक दुःख यदि किसी का है, तो बस मृत्यु का। कोई कट्टर-से-कट्टर अधिकारी हो तो उसकी आज्ञा रुपये पैसे से, जान पहचान से या समझाने-बुझाने से बदली जा सकती है; परन्तु मृत्यु की आज्ञा में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। जिस दिन, जिस घड़ी और जिस क्षण मृत्यु का हुक्म हुआ नहीं कि उसी क्षण उसे उसके अधीन होना पड़ेगा। मृत्यु यह नहीं सोचती कि—'यह बेचारा अभी जवान है, कल ही इसका विवाह हुआ है, अपने माँ-बाप का इकलौता बेटा है, सारा कुटुम्ब इसी के सहारे है, इसके मरने से कितने ही आदमी बेहाल हो जायेंगे, या दस-पाँच पीढ़ी से चलता हुआ वंश नष्ट हो जायगा, अतएव इसे छोड़ दूँ।' मृत्यु को ऐसी

दया भी नहीं कि—'इसके बाद इसकी बाल-स्त्री को जिंदगी-भर वैधव्य की यातना सहनी पड़ेगी, इसके अन्धे माँ-बाप भटक कर मर मिटेंगे, इसके कर्जदारों को हाय-तोबा मचाकर रोना पड़ेगा, या इसके द्वारा जो सैकड़ों आदमी अपना निर्वाह कर रहे हैं, वे सब निराधार हो जायेंगे।' मृत्यु एक बालक का गला दबाने में जितना समय लगाती है, उतना ही समय एक नौ-जवान का काम तमाम करने में लगाती है। अकेले आदमी को एकान्त में से ले जाने में उसे जितना समय लगता है, उतना ही समय हजारों-लाखों मनुष्यों की सेना के बीच से एक सेनापति को ले जाने में लगता है। उसे न किसी की लाज-शर्म है, न किसी से वह दबती है।

हे भद्र! तू यह मत सोचना कि—'मेरा कुल बड़ा-ऊँचा है। मेरे अधिकार में बहुतेरे नौकर-चाकर हैं, मेरे सगे-सबधी बड़े-बड़े आदमी हैं, मेरे पास पैसे का बल है, फिर मुझे चिंता किस बात की है?' जब मौत की चोट लगेगी, तो सारे सगे-सबधी एक ओर जा रहेंगे। उसके सामने सारा सामर्थ्य मिट्टी हो जायगा, अतएव एक क्षण का भी विश्वास न करके ऐसी वस्तु की खोज कर जो तुझे अन्त में शरणभूत हो सके, जिन्हे तूने अपना समझ रखा है वह ससार के समस्त पदार्थ और मनुष्य—कोई भी तुझे शरण न होगा। ॥ १२ ॥

भाई भी शरण नहीं दे सकते

कृत्वा कामं कपट रचनां दीन दीनानि पीड्य,
हृत्वा तेषां धनमपि भुवं मोदसे त्वं प्रभूतम्।

मत्वा स्वीयान् प्रणयवशतः पुष्णसि भ्रातृवर्गान्,
कष्टेभ्यस्त्वां नरकगमने मोचयिष्यन्ति किं ते ॥१३॥

अर्थ—मोह के वश होकर जिन भाइयों को तू अपना समझ रहा है और जिन्हें प्रसन्न करने के लिए तथा जिनकी मनोकामना को पूर्ण करने के लिए तू गरीब-से-गरीब आदमियों को छल-प्रपंच रच कर, अन्याय से उन दीन-हीन गरीबों का धन लूटकर उन्हें पीड़ित करके जिनका पोषण करता है, क्या वे भाई उस समय तेरी रक्षा कर सकेंगे, जब तू इस छल कपट और पर पीडा के फल-स्वरूप नरक मे जायेगा ? कदापि नहीं। अन्याय और अधर्म का फल तुझे अकेले को ही भुगतना पड़ेगा। इसमें कोई भी तेरा हिस्सा नहीं बँटा सकेगा। ॥१३॥

विवेचन—कितने ही मनुष्य धनोपार्जन करने के लिए अवाञ्छनीय अधर्म-कृत्य करते हुए जरा भी नहीं हिचकते। वे गरीब और विश्वास रखनेवालों को विश्वास दिलाकर ठगने या लूटने का धंधा पकड़े बैठे हैं। इस प्रकार पापाचरण कर धन प्राप्त करने में उनके दो उद्देश्य हो सकते हैं—प्रथम तो अपना और अपने सगे-सम्बंधियों का निर्वाह करना और दूसरे निर्वाह के योग्य धन होने पर भी अपने आपको या अपने भाई-बन्दों को श्रीमान कहलवाने की तृष्णा को तृप्त करना। निर्वाह के लिए किये जानेवाले पापकर्मों से तथा तृष्णा तृप्त करने के हेतु से किये जानेवाले पापकर्मों से—दोनों से—यद्यपि आत्मा को दण्डित होना पड़ता है, तो भी पहले प्रकार के पापकर्मों को स्वार्थदण्ड और दूसरे प्रकार के पापकर्मों को अनर्थदण्ड गिना जा सकता है। व्यवहार

की दृष्टि से स्वार्थदंड कुछ अंशों में क्षन्तव्य माना जा सकता है ; परन्तु अनर्थदंड तो व्यवहार और शास्त्र—दोनों दृष्टियों से अक्षन्तव्य ही है ; क्योंकि पहले प्रकार में अधर्माचरण करनेवाले को भी कुछ पश्चात्ताप होता है। वह समझता है—'यह कार्य अनुचित है—बुरा है ; पर क्या किया जाय ? पेट पालने के लिए करना ही पड़ता है।' ऐसा पश्चात्ताप होने के कारण उसके परिणामों में कोमलता के कुछ अंश विद्यमान रहते हैं। दूसरे प्रकार के अनर्थदण्डी के हृदय में इस प्रकार का पश्चात्ताप होना संभव नहीं है, क्योंकि वह जीवन-निर्वाह के लिए लाचार होकर कोई कार्य नहीं करता है, वरन् तृष्णा और लोभ-वृत्ति से करता है, अतएव वह अपनी आत्मा का तीव्र अपराधी है।

इसी काव्य में दूसरे प्रकार के अपराधी को लक्ष्य करके कहा गया है कि 'हे भद्र ! तू अपने भाइयों को श्रीमान् बनाने या अपनी अथवा उनकी तृष्णा के गढ़े को भरने के लिए गरीबों के गले पर छुरी चला रहा है, कपट और विश्वासघात जैसे दुष्कर्मों से गरीबों को (और वास्तव में अपनी आत्मा को) ठगने का धंधा पकड़े बैठा है, पर इस अशुभ आचरण से बंधनेवाले पापकर्मों का फल तुझे अवश्य भोगना पड़ेगा। वह फल भी तुझे स्वयं ही भोगना होगा। उसमें हिस्सा बँटाने या तुझे छुड़ाने में क्या तेरे भाई तेरी सहायता कर सकेंगे ? अपने कर्मों का फल भुगतने के लिए नरक और तिर्यंच गति में जाने से क्या वे तुझे रोक सकेंगे ? कदापि नहीं ! अरे मूर्ख ! तू निश्चय समझ ले, ये सब तभी तक तेरे संबंधी हैं, जब तक उनका स्वार्थ सध रहा है। एक

भाई दूसरे भाई को तभी तक चाहता है, जब तक कि एक दूसरे से मतलब गँठता है ; पर जब एक भाई की संतान अधिक बढ़ जाती है, खर्च अधिक होने लगता है और उसकी आमदनी कम होती है और दूसरे भाई की आय अधिक और व्यय कम होता है, तो उस कमाऊ भाई का प्रेम, कम आमदवाले भाई पर रह सकता है ? तत्काल वह सोचने लगता है—अब अलग हो जायँ और हिस्सा-बाँट कर लें। यदि किसी कारण अलग न हुआ, तो अपनी आमद को वह अलग रखता है। इतना ही नहीं, किन्तु कितने ही दुष्ट-बुद्धि भाई तो इतने स्वार्थ-साधु होते हैं कि वे अपने सगे भाइयों का अन्त इसलिए कर देते हैं कि—यदि यह जीवित रहेगा, तो पिता की सम्पत्ति में से हिस्सा ले लेगा, अतएव वे इसके लिए तरह-तरह के जाल रचते हैं और अपने सहोदर को अपने रास्ते से हटा देते हैं। इस मनोवृत्तिवाले भाइयों के अनेक उदाहरण इतिहास में मौजूद हैं।

दृष्टान्त—औरंगजेब का उदाहरण लीजिए। ई० सं० १६५७ में जब बादशाह शाहजहाँ बीमार हुआ तो उनके चार पुत्र—दारा, औरंगजेब, मुराद और शुजा, भिन्न-भिन्न प्रान्तों के सूबेदार थे। गद्दी का वास्तविक अधिकारी दारा था, परंतु औरंगजेब के मन में राज्यसत्ता का तीव्र लोभ उत्पन्न हुआ। पिता की गद्दी का अधिकार पाने वाला मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई न रहे, इतना ही नहीं, किन्तु राज्य का हिस्सेदार भी कोई न बच पाये, ऐसा प्रबंध करने का संकल्प उसके हृदय में जाग्रत हुआ। अपने कपट-जाल में दूसरे को फँसाने की विद्या सीखने

के लिए उसे अन्यत्र जाने की जरूरत न थी—इस विद्या मे वह पूर्ण निष्णात था। अपने भाई मुराद को राज्य के हिस्से का लालच देकर उसे और उसकी सेना को अपनी सहायता के लिए लेकर प्रथम उज्जैन के पास शुजा के लिए राठौर जसवतसिंह के साथ लड़ाई की और दूसरी लड़ाई बंगाल में शुजा के साथ करके उसे ठिकाने लगा दिया। तत्पश्चात् असली राज्य के अधिकारी दारा को यमलोक पहुँचाकर, पिता को कैद करके, मुराद के साथ दगाबाज़ी करके—कीगई प्रतिज्ञा को भग करके—स्वयं स्वतंत्र बादशाह बन बैठा। उसने किसी भी हक़दार या हिस्सेदार को जीवित न रहने दिया।

कौरव और पाण्डव भी नजदीक के भाई थे; परन्तु राज्य के लोभ में फँसकर कौरवों ने (दुर्योधन ने) पाण्डवो के साथ छल-कपट से जुआ खेलकर उनका सर्वस्व लूट लिया, उन्हें देशनिकाले का दण्ड दिया, वनवास के लिए भेजा और अन्त में पाण्डवों ने कौरवों का सहार कर डाला। वहाँ भाई-भाई का प्रेम कहाँ चला गया था?

तीसरा उदाहरण कोणिक के भाई हल और विहल का है। कोणिक ने अपने पिता श्रेणिक को काष्ठ के पींजरे मे डाल दिया, अतएव उसका अत्यन्त अपवाद हुआ। इसी कारण राजगृह नगर छोड़कर उसने चम्पा-नगरी को अपनी राजधानी बनाई। उस समय उसके भाई हल और विहल चम्पा में उसके साथ आये थे। महारानी चेलना ने एक अठारह लड़ का पक-हार और महाराज श्रेणिक ने सिंचानक हाथी हल और विहल को उपहार-रूप में दिया था। जब राज्य के हिस्से होने लगे, तो कोणिक

ने दूसरे दस भाइयों को राज्य का एक-एक हिस्सा दिया ; पर हल और विहल को कुछ भी न दिया ; क्योंकि माँ-बाप की ओर से उन्हें उत्तम वस्तुएँ उपहार में मिल चुकी थीं। हल और विहल दोनों भाई सन्तोषी थे, उन्होंने उन्हीं वस्तुओं पर संतोष रखकर राज्य के हिस्से की परवाह न की। सिंचानक हाथी इतना चपल और इतना सुन्दर था कि उसके सामने तमाम शाही ठाट-बाट फीके पड़ जाते थे। हल, विहल और उनके घर के मनुष्य हाथी पर सवार होकर, कोणिक के दरबार के पास से नदी में क्रीड़ा करने जाते। हाथी अपनी सूँड़ से सवार को नीचे उतारता, ऊपर चढ़ाता और भाँति-भाँति की क्रीड़ा कराता। इस आश्चर्य-जनक दृश्य को देखकर लोग विस्मित हो गये। हाथी की प्रशंसा करने लगे और ऐसा सुन्दर हाथी होने के कारण हल-विहल को भाग्यशाली समझने लगे। दूसरी ओर हल विहल की स्त्रियों के आभूषणों को सुशोभित करनेवाले दिव्य हार और कुण्ड-लों की भी तारीफ होने लगी। यह सारा वृत्तान्त कोणिक राजा की रानी पद्मावती ने अपनी दासियों के मुँह से सुना, तो वह इसे सहन न कर सकी। राज्य के स्वामी तो ठहरे हम और हाथी का असली ऐश्वर्य भोगें हल-विहल। यह हाथी तो हमें शोभा देता है। इस ईर्ष्या के साथ ही हाथी और हार को छीन लेने का प्रबल लोभ पद्मावती के मन में उत्पन्न हुआ। पद्मावती ने योग्य अयोग्य और न्याय अन्याय का विचार छोड़कर यह बात कोणिक के सामने रखी। कोणिक के हृदय के एक कोने में अब तक थोड़ी-सी न्याय-वृत्ति और भ्रातृ-स्नेह का अंश विद्य-

मान था, इसलिए उसने इस बात को उड़ा दिया, पर पद्मावती ने निश्चय कर लिया था कि आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, कभी-न-कभी राजा के दिल में बात ठँसा कर हल और विहल से हार और हाथी-छिनवा लेना है। प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा उसकाते-उसकाते अन्त में पद्मावती ने कोणिक के दिल की बची-खुची न्याय-वृत्ति और भ्रातृ स्नेह को देश-निकाला दिला दिया। स्त्री पर आसक्त हुए कोणिक ने पद्मावती के अन्याय्य विचारों को अपने हृदय में स्थान देकर स्वार्थ-वृत्ति और अन्याय के दोषों को धारण किया। हल-विहल को अपने समीप बुलाकर हार और हाथी सौंप देने को वाध्य किया। गाँव-गन्ना, द्रव्य, चाहिए तो ले लो; पर हार और हाथी हमें सौंप दो। यह वस्तुएँ तुम्हें शोभा नहीं देतीं—यह राज्य में ही शोभा पाएँगी। कोणिक के मुख से निकले हुए यह वचन सुनकर हल-विहल विचारने लगे—भाई साहब ने राज्य का हिस्सा तो दिया नहीं, उल्टा माता-पिता द्वारा मिले हुए उपहार को छीनने की नीयत की। अब यहाँ रहने मे कल्याण नहीं है, पर इस समय मना करने से यह जबर्दस्ती छीन लेंगे, ऐसा सोचकर उन्होंने यह आशापूर्ण उत्तर दिया—अच्छी बात है, सोच-विचारकर उत्तर देंगे। दोनों भाई घर लौट आये। अपनी सपत्ति एव कुटुम्ब को साथ लेकर, हाथी पर सवार होकर वे रातों-रात वहाँ से निकल भागे। वे वहाँ से विशाला-नगरी के राजा चेड़ा की, जो उनके नाना होते थे, शरण में जा पहुँचे। दूसरे दिन हल-विहल को बुलाने के लिए कोणिक ने आदमी भेजे, तब उसे पता चला कि वे भाग गये हैं। खोजने पर मालूम हुआ कि वे

विशालानगरी के राजा चेडा की शरण में चले गये हैं। कोणिक को इतने पर भी सतोष न हुआ। कोणिक ने दूत भेजकर राजा चेड़ा को कहलाया कि हार और हाथी के साथ हल-विहल को वापस भेजो, अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। राजा चेड़ा ने स्पष्ट उत्तर दिया—'शरणागत की रक्षा करना क्षत्रिय का धर्म है; अतः मेरे जीतेजी इन वस्तुओं की आशा न रखना। फिर क्या था, कोणिक ने चेडा के साथ युद्ध किया, जिसमें कोणिक के दस भाइयों के साथ दोनों ओर की सेना के कुल एक-करोड़, अस्सी लाख आदमियों के प्राण गये।

स्वार्थ-वृत्ति के सामने बन्धु-प्रेम की गिनती ही क्या है? ऐसे स्वार्थी भाइयों के मोह में फँसकर जो अनर्थदण्ड पापाचरण-रूप दुष्कर्म करता है, वह अन्त में कर्मों का उदय आने पर दीन से-दीन बनकर अशरण होकर जब परमाधामी आदि के चगुल में फँसेगा, तब उसे अकेले को ही अपने कर्मों का बदला चुकाना पडेगा। उस समय भाई-बन्द दुःख से नहीं छुडा सकते, अतएव ज्ञानी जनों को पापकर्म करने के पूर्व ही विचार कर लेना चाहिए ॥ १३ ॥

क्या पुत्र रक्षा कर सकते हैं ?

येषामर्थे सततमहितं चिन्तयस्यात्मनोऽपि,
कृत्याकृत्यं गणयसि पुनर्नैव पापं च पुण्यम्।
गाढं धूलिं क्षिपसि शिरसि प्राणिनो हंसि चान्यान्,
किं ते पुत्रा नरक कुहरे भागभाजास्त्वया स्युः ? ॥ १४ ॥

अर्थ—जिन पुत्रों के लिए रात-दिन धन की हवस रखता है,

आत्मा के हित-अहित का भी विचार नहीं करता, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भी ध्यान नहीं रखता, मोह अथवा आपा-पोषी राग के वश होकर, अनेक धनियों को सताप देकर, अनेकों के कलेजे फाड़कर, निरन्तर मस्तक में धूल डालता फिरता है, दूसरे की आजीविका को नष्ट करता है, हे वृद्ध पुरुष! जब तेरी ये काली करतूतें कुल्हाड़ा लेकर तेरे सिरपर सवार होंगी और तुझे नरक में घसीट ले जायेंगी, तब तेरे वे पुत्र क्या क्षणभर भी तुझे बचा सकेंगे? नहीं रे नहीं! तेरे पुत्र चाहे जितने धनाढ्य हो जाएँ, पर तुझे बचाने में समर्थ नहीं हो सकेंगे ॥ १४ ॥

विवेचन—कितने ही ऐसे पुरुष हैं, जो भाइयों के मोह से जितने अनर्थ करते हैं, उसकी अपेक्षा पुत्रों के मोह से अधिक दुष्कृत करने के लिए उद्यत होते हैं या करते हैं। यद्यपि भ्रातृ-स्नेह और पुत्र-स्नेह यह वस्तु सर्वथा निरुपयोगी नहीं है और यही कारण है कि यहाँ पुत्र-स्नेह और भ्रातृ स्नेह का निषेध नहीं किया गया है; किन्तु उस स्नेह के कारण होनेवाली तृष्णा तथा उससे किये जानेवाले अनेक अनर्थों—पापाचरणों के परित्याग का उपदेश यहाँ दिया गया है। भ्रातृ-स्नेह और पुत्र-स्नेह का वास्तविक अर्थ यही है कि उनका यथोचित पालन-पोषण करना, शिक्षा देना, उत्तराधिकार में लक्ष्मी की अपेक्षा सद्गुणी बनाने की अधिक चिंता रखना, उन्हें अन्याय, अधर्म एवं अत्याचार करने से रोकना, व्यवहार और परमार्थ के बोझ को वहन कर सकनेवाला बनाना। यही पुत्र-स्नेह की सार्थकता है।

इस सीमा का उल्लंघन करके पुत्रों को श्रीमंत बनाने की उत्कट लालसा से स्वयं अन्याय-अधर्म के मार्ग में चलना और पुत्रों को इसी मार्ग पर चलने की शिक्षा देना, स्वयं अत्याचार करना और दूसरों को अत्याचार करने की सीख दे जाना, यह पुत्र-स्नेह का दुरुपयोग है। इस स्नेह को स्नेह नहीं, बल्कि मोह कह सकते हैं। ऐसे मोह-मुग्ध मनुष्यों के अन्तःकरण में भी सुख की ही अभिलाषा रहती है, और वह भी न केवल ऐहिक सुख की, वरन् उन्हें पारलौकिक सुख की भी होती है। इतना ही नहीं, अपने पुत्र के लिए जो कुछ किया जाता है, वह भी इसीलिए कि वृद्धावस्था में पुत्र की ओर से उसका बदला सुख और शान्ति के रूप में प्राप्त हो सके, मगर ऐसा करने से वह उक्त दोनों बातों में ठगा जाता है। इस जन्म में हाय-तोबा करके अन्त में पुत्र आदि की अप्रीति का पात्र बनता है और पर-जन्म में वह दुर्गति में प्रवेश करता है। ऐसे ही पुरुषों को चेतावनी देने के लिए इस काव्य में उपदेश दिया गया है कि—दुनिया में कुल को दिपानेवाले लड़के बहुत कम होते हैं, अधिकांश तो ऐसे ही होते हैं, जो घर-द्वार को चौपट कर देते हैं। कलियुगी पूतों के लिए किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

बेटा झगड़त बाप से, करत तिया से नेह।
बार-बार यों कहँ हम, जुदा कर ले देह।
हम जुदा कर देह गेह में चीज सब मेरी,
नहिं तो करेंगे ख्वार पतीया जायगी तेरी।
कहे दीन दरवेश देखो कलियुग का बेटा,

समा पजर्ष्यो जाय बाप से झगड़त बेटा ॥

जब तक लड़के का विवाह नहीं होता, तब तक वह थोड़ा-बहुत माँ-बाप की आज्ञा में रहता है, सेवा-चाकरी करता है, परन्तु विवाह होते ही स्त्री के मोह में जकड जाता है और माँ-बाप का सामना करने लगता है। स्त्री उसे उकसाती है और वह माँ-बाप के उपकार पर पानी फेरकर उनका अपकार करने पर उतारू हो जाता है। माता को 'बुढ़िया' और पिता को 'बुड्ढा' कहकर पुकारता है। मुँह से मनमाना अडँग-बडँग बकता है, उनका मजाक उडाता है, और जब स्त्री उनसे लड़ती-झगडती है, तो वह स्त्री का पक्ष लेकर उसकी सहायता करता और उनका तिरस्कार करता है। 'अरे इसकी बुद्धि सठिया गई है, उम्र हुई और गत गई' इस प्रकार के शब्द अपनी जननी और जनक के लिए बोलता है। लोग-लुगाई के जीमने के बाद जो जूठन बचती है, वह उन्हे खिलाई जाती है। फिर जब तक घर का काम-काज करने की उनमे हिम्मत रहती है, तब तक तो कुछ भाव पूछा जाता है, परतु जब बेचारे एकदम लाचार हो जाते हैं, तब तो उनकी दुर्गति का ठिकाना ही नहीं रहता। घर से दुकान और दुकान से घर के चक्कर काटते रहने में ही सारा दिन समाप्त हो जाता है।

दृष्टान्त—यहाँ एक अनुभव-सिद्ध दृष्टान्त देना उचित होगा। एक वृद्ध के चार बेटे थे। वृद्ध ने खूब खर्च करके उन सब को अलग-अलग जगह ब्याहा था, जब तक उसमें कार्य करने की शक्ति रही तब

तक एक घड़ी भी वह कभी सुख से न बैठा था। कोई साधु-संत उसे धर्म या परोपकार करने के लिए कहता, तो वह उस पर आग-बबूला हो उठता और खरी-खोटी सुनाता था। वह उत्तर में कहता—'तुम बेकार हो' तुम्हें तो किसी साहूकार के घर जाकर 'धन पूर और विघ्न दूर' करना है। हम से तो यह हो नहीं सकता। मेरे सिर पर सैकड़ों कार्य हैं, धर्म करने का अवकाश ही नहीं है।' उसने जिंदगीभर खून का पसीना कर द्रव्य का संचय किया। अन्त में उसके लड़के बड़े हुए और उनके भी लड़के हो गये। स्त्रियों में कलह होने लगा; अतएव चारों लड़के जुदा-जुदा हो गये। वृद्ध के द्वारा संचित की हुई समस्त सम्पत्ति उन्होंने आपस में बाँट ली। वृद्ध ने अपने पुत्रों पर विश्वास रखकर अपना सर्वस्व लड़कों को सौंप दिया। वृद्ध को जिमाने के लिए चारों लड़कों ने बारी बाँध दी। वृद्ध से जब तक थोड़ा-बहुत काम होता रहा, तब तक तो लड़कों ने प्रेम से उसे अपने घर रखा और खिलाया-पिलाया और बदले में उससे उतना काम-काज करा लिया। काम करने को न कहने पर भी वृद्ध से बेकार नहीं रहा जाता था, अतएव जब तक स्वार्थ सधता रहा, तब तक तो उसकी सेवा-चाकरी ठीक-ठीक होती रही और बारी बराबर चलती रही, पर दैवयोग से कुछ समय पश्चात् उसकी नजर बन्द हो गई—आँखों में अन्धापन आ गया। काम-काज बन्द हो गया। वृद्धावस्था के कारण शरीर अशक्त हो गया, अतः वह कहीं आने-जाने से भी मुहताज हो गया। उसे सारे दिन घर में पड़ा रहना पड़ता था। अब वृद्ध की पूछ-ताछ कम होने लगी। अब बूढे की बात

न उसके पुत्रों को रुचती, न पुत्र-वधुओं को ही। नाती-पोते उसकी खिल्ली उडाने लगे। कोई पगड़ी उछालता, कोई लाठी लेकर भाग जाता, कोई काछ खोलकर भाग जाता। ऐसे व्यवहार से वृद्ध के स्वभाव में चिटचिड़ापन आ गया। छोकरों को मारने दौड़ता तो घर के लोग अप्रसन्न होने लगे। पहले वृद्ध ने सब पर हुक्म चलाया था, अब सबका हुक्म बजाने का अवसर आया। वृद्ध को सह्य न हुआ। आपस में बोलचाल होने लगी। एक ओर सब और दूसरी ओर अकेला वृद्ध होता। भला बुड्ढे का पक्ष लेता कौन? वृद्ध की फजीहत होने लगी। घर में बहुएँ अपने लडके से कहतीं—'जाओ दादा को दुकान पर घसीट ले जाओ।' दुकान जाने पर लडके कहते—'यहाँ तुम्हारा क्या गड़ा हुआ है, जिसे लेने के लिए आये हो? जाओ-जाओ, घर जाकर मरो न? थू थू करके यहाँ बैठने की जगह खराब करोगे। लडको, जाओ दादा को घर ले जाओ।' वृद्ध इस प्रकार घर से दुकान और दुकान से घर चक्कर काटने लगा। वृद्ध को बैठने के लिए एक छोटी-सी कोठरी मुकर्रर कर दी गई थी, उसी में एक खाट पड़ी रहती थी। कोठरी में कूडा-करकट के ढेर पडे रहते थे। सफाई करता तो करता कौन? खटिया में खटमलों और मच्छरों की गिनती न थी। कपडे मैले-कुचैले हो जाते, तो भी कोई बदलने की बात न पूछता। महीने-पन्द्रह दिनों में अगर हजामत हो गई तो वृद्ध का सौभाग्य ही समझिए। इतना होने पर भी खाने-पीने में भी कठिनाई होने लगी। घर के छोटे-बडे सब खा-पी लेते, तब

तक भी वृद्ध की कोई खबर न लेता था। एक समय की बात है। बारह बज गये और फिर एक बजने का समय हो गया। किसी ने भी उससे भोजन करने के लिए न कहा। भूख के मारे वृद्ध के पेट मे चूहे डड पेल रहे थे ; इतने ही मे उधर से बड़ा लड़का निकला। वृद्ध ने उसे बुलाया—'अरे भाई, ये कौन है?' लड़के ने उत्तर दिया—'है क्या? सारे दिन कौन है, कौन है, चिल्लाते रहते हो! चुपचाप मरो न!' अब वृद्ध का पारा गर्म हुआ—'अबे गधी के बच्चे, आज मेरा भोजन कहाँ है? एक बज गया, भोजन का अब तक पता ही नहीं है।' बड़े लडके ने पूछ-ताछ की, तो सभी कहने लगे कि आज हमारी बारी नहीं है। हमारे यहाँ तो कल जीम चुके हैं। आखिर बडे लड़के ने वृद्ध को अपने घर खिलाया, पर वृद्ध का मन इतना दु.खी रहने लगा कि उसे ऐसे जीवन से मर जाना ही बेहतर मालूम होता। यह दु.ख उसे असह्य प्रतीत होने लगा। धन न तो अपने पास रखा और न धर्मार्थ में ही खर्च किया। इन हरामखोरों को धन सौपकर मैंने व्यर्थ फजीहत कराई, पर अब क्या हो सकता था! वृद्ध इस प्रकार पश्चात्ताप कर ही रहा था कि उसका एक भाई-बन्द सोनी मिलने आया। वृद्ध ने सोनी के सामने अपना दुःख कह सुनाया। सोनी ने एक तरकीब बताई—कल जब सब लड़के इकट्ठे बैठे होंगे तो मै एक बन्द पेटी लाऊँ। तुम सबसे कहना—'इसमें मेरी व्यक्तिगत निजी सम्पत्ति है। वृद्ध ने यह तरकीब पसद की, कहा—बहुत अच्छा। दूसरे दिन उस सुनार ने एक मजबूत पेटी में गोल-गोल पत्थर भरे और ऊपर से रुई तथा रेशम डालकर,

उस पर सुगंधित तेल-अतर छिड़क उसे बंद करके एक मजदूर के साथ वृद्ध के घर भेज दी। उसने बूढ़े से कहा—'अपनी जोखिम अब तुम्हीं सँभालो। मैंने बहुत वर्षों तक इसे सँभाला है। अब जैसी तुम्हारी अवस्था हो चुकी है, वैसी मेरी भी हो चुकी है। लो यह ताली और पेटी सँभाल लो।' वृद्ध ने वह पेटी अपनी खटिया के नीचे रखवा ली। सब लोग, यह देख कर कि बुड्ढे के पास अब भी इतनी सम्पत्ति है, चकित रह गये! छोटे बच्चों ने पूछा—'दादा, इसमें क्या है?' बूढे ने कहा—'इसमें मेरी कमाई की लाखों की जायदाद है।' बस, अब क्या था, बूढ़े की कीमत फिर बढने लगी। बहुएँ आकर कहने लगीं—'श्वसुर-जी, आपके कपडे बहुत मैले हो गये हैं। लीजिए, ये नये कपडे पहनिए। लाइए, इन्हें मैं धो लाऊँ। दूसरी बहू खाने-पीने के लिए मनाने लगी। कहने लगी—'चलिए श्वसुरजी, छोकरे के लिए गर्म हलुवा बनाया है, थोड़ा-सा आप भी खा लीजिए।' तीसरी बहू ने ससुरजी की खटिया और गद्दा बदल कर एक मोटा गद्दा और तकिया लगा दिया। इस प्रकार दिनों-दिन बूढे का आदर बढने लगा। ससुरजी भी सब को झांसा देते रहे कि तुम्हारे लिए एक सुन्दर हार इस पेटी में रखा है। उस पर तुम्हारा नाम लिखा है। किसी के लिए साकल, किसी के लिए कंठा, इस प्रकार हरेक को आशा बँधाता गया। बूढ़े के लिए एक विशेष नौकर तैनात कर दिया गया, जो उनकी चरण-चपी वगैरह शारीरिक सेवा करता था। वृद्ध ने इतने से ही संतोष न किया। उसने आगे बढकर धार्मिक कार्यों में भी व्यय करना आरंभ किया। उसने छोकरों

से पूछा—'तुम लोग पैसे देते हो या इस पेटी में से एक आभूषण बेच डालें ?' लड़कों ने मन में सोचा—गहनों की कीमत इस समय अच्छी नहीं उपजेगी , इसलिए नकद रुपये दे देना ही अच्छा है। आखिर यह पेटी तो अपनी ही है। इस प्रकार बूढा आज पचास तो कल सौ, इस तरह मुक्त-हस्त से खर्चने लगा। गोशाला, अनाथाश्रम, पाठशाला, स्कूल, आदि के लिए लड़कों से अच्छी रकम दिलाने लगा। लड़के पेटी की दौलत की आशा से कर्ज़ ले-लेकर भी वृद्ध के हाथ में पैसे देने लगे। जो बूढा मरने को तैयार हो रहा था, वह सुनार की युक्ति से अब फिर साल-छः महीने के लिए बच गया। अन्त मे लड़कों को ऋण के बोझ से लादकर, धार्मिक सस्थाओं में अच्छी रकम खर्च कराकर, बूढे ने परलोक-गमन किया। बूढे की मृत्यु के बाद ऋण लेकर उसका नुकता किया। फिर एक दिन घर के सब आदमी गुप्त रूप मे एक कमरे में इकट्ठे हुए। बूढे की पेटी खोली। खुलते ही भीतर से अतर की सुगध भभक उठी। सब के आनन्द का ठिकाना न रहा कि अब सुन्दर बहुमूल्य पदार्थ निकलेंगे। सब बहुएँ ललचाई हुई बैठी थीं कि हमारे नाम खुदे हुए गहने अब निकलना ही चाहते हैं। एक-एक चीज़ निकाली जाने लगी। ऊपर अलग अलग नाम की चिटें चिपकी हुई थीं—उन्हीं के अनुसार प्रत्येक वस्तु उन्हें दी जाने लगी। चीज हाथ मे लेते समय तो उमग की सीमा न थी, पर रुई और रेशम हटाकर जो अदर देखा, तो गोल-मटोल पत्थरों के अतिरिक्त और कुछ भी न था। पत्थर-ही-पत्थर सब के हाथ आये। एक पत्थर

नौकर के नाम का भी निकला। सब-के-सब बूढ़े को गालियाँ देने लगे और उसके नाम पर रोने लगे। जो कुछ कमी रह गई थी, वह अब पूरी हो गई। नौकर ने बाजार मे जाकर भडा फोड दिया। कहा—पेटी में तो सिवाय पत्थरों के कुछ भी नहीं निकला। देखो, एक पत्थर मेरे नाम का भी निकला है। लोगों में उनकी फजीहत हुई और इज्जत-आबरू धूल में मिल गई। बूढ़े को पहुँचाए हुए कष्ट का बदला उन्हे इस प्रकार भुगतना पडा !'

यहाँ इस दृष्टान्त का आशय यही है कि पिता और पुत्र भी तभी तक प्रिय लगते हैं, जब तक उनसे स्वार्थ की सिद्धि होती रहती है। वे अन्त समय इस भव मे भी काम नहीं आते, तो परलोक में तो आ ही कैसे सकते हैं ? अपने किये हुए कर्मों का फल अपने को ही भुगतना पडेगा ; अतएव पहले से ही विचार कर प्रवृत्ति करनी चाहिए। हरएक का भाग्य हरएक के साथ है, ऐसा निश्चय करके, तृष्णा और लोभ का परित्याग कर सतोप के साथ रहकर प्राप्त सपत्ति का सदुपयोग करना चाहिए। किया हुआ धर्माचरण ही अन्त में शरण होगा ॥ १४ ॥

एक मुनि की अनाथता

यस्यागारे विपुलविभवः कोटिशो गोगजाश्वा—
रम्या रामा जनकजननी बन्धवो मित्रवर्गाः।
तस्याऽभून्नो कथनहरणे कोऽपि साहाय्यकारी,
तेनानाथोऽजनि स च युवा का कथा पामराणाम् ॥१५॥

अर्थ—जिसके घर में वैभव का पार न था, जिसके यहाँ अन-

गिनती गाय, हाथी, घोड़ा और वाहन थे, मन को रंजन करनेवाली नारी जिसे अनुकूल थी, जिसके माता-पिता, भाई और कुटुम्बी बहुतेरे थे, उस गुणसुन्दर (अनाथी मुनि का पहला नाम) के शरीर में जब पीड़ा उत्पन्न हुई, तो उसमें से हिस्सा बँटाने के लिए कोई भी सहायक न हो सका। तब उस युवक को विश्वास हो गया, कि इतना कुटुम्ब होने पर भी वास्तव में मैं अनाथ ही हूँ—कोई भी मेरा नाथ नहीं है।

हे भद्र! एक करोड़ों के स्वामी साहूकार का पुत्र भी जब अनाथ कहलाया, तो अन्य सामान्य जनों की तो बात ही क्या है? ॥१५॥

विवेचन—जिसके पास जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के या भोगविलास की सामग्री प्राप्त करने के साधन पूरे-पूरे न हों, दुःख या संकट के समय सहायता पहुँचानेवाले नजदीकी सम्बन्धी जिसके न हों, वह तो अशरण गिना जाता है, पर जिसके पास ये सब साधन पूर्ण-रूप से विद्यमान हों, वह अशरण कैसे गिना जा सकता है? इस प्रकार की शंका होना सम्भव है। इस शंका को दूर करने के लिए यहाँ एक दृष्टान्त की आवश्यकता है। वह भी मनः कल्पित नहीं, किन्तु सूत्र-सम्मत। इस काव्य में एक मुनि का दृष्टान्त दिया गया है, जो उत्तरा-ध्ययन सूत्र के बीसवें अध्ययन में आया है। वह इस प्रकार है—

दृष्टान्त—राजगृही नगरी के राजा श्रेणिक का मण्डितकुक्षि नामक एक बगीचा था। नये-नये वृक्षों, लताओं एवं मण्डपों की सुव्यवस्था से उसकी शोभा अनुपम दिखाई देती थी। एक बार राजा श्रेणिक अपनी सेना के साथ मंडितकुक्षि बगीचे की ओर गया। राजा ने ज्योंही बगीचे

में प्रवेश किया, त्योंही एक दूर के वृक्ष की ओर उसकी दृष्टि गई। वहाँ वृक्ष के नीचे कुछ तेजस्वी स्वरूप उसे दिखाई दिया। राजा को उस तेजस्वी स्वरूप को जानने की इच्छा हुई और सवारी उसी ओर रवाना हुई। राजा ज्यों ज्यों आगे बढता गया, त्यों-त्यों उसके मन की तरंगें बदलती गईं। पहले, दूर से देखकर उसे ऐसा जान पडा था, कि यह कोई दिव्य आकृति है; पर जब वह सन्निकट पहुँचा, तो मालूम हुआ—कोई मनुष्य है, पर उसका सौन्दर्य अलौकिक है, कैसा आकर्षक चेहरा है उसका! अहा! उसकी देह की कैसी दीप्ति है? उसकी आँखें कैसी मनोहर हैं? उसके गुलाबी गाल और अर्द्धचन्द्राकार ललाट देखनेवाले को आश्चर्य-चकित कर देते हैं। उसकी आकृति सुन्दर है, यही नहीं; किन्तु 'आकृतिर्गुणान् कथयति' (चेहरे से गुणों को भाँप लिया जाता है) इस न्याय के अनुसार उसमें सुन्दर गुण भी प्रतीत होते हैं। उसकी प्रशान्त मूर्त्ति और समाधि-दशा भी वैसीही उत्कट है, पर यह पुरुष होगा कौन? इस प्रकार की शरीर सम्पत्ति और तरुणावस्था होने पर भी इसके पास भोग का कुछ भी साधन क्यों नहीं है? उसके पास वस्त्राभूषण, नौकर-चाकर, वाहन आदि कुछ भी नहीं दिखाई देता, क्या यह इसी अवस्था में होगा? यह भी कैसे हो सकता है? इसके ललाट के तेज के अनुसार यह अवश्य ही कोई भाग्यशाली होना चाहिए और अतुल सम्पत्ति इसके पास होनी चाहिए। क्या उस सम्पत्ति का इसने त्याग कर दिया होगा? त्याग किया हो, तो किस उद्देश्य से? इस प्रकार क्रमशः अनेक प्रश्न राजा के मन में उठने लगे।

इन प्रश्नों का समाधान करनेवाला कोई दूसरा आदमी उसके पास था नहीं, अतएव राजा श्रेणिक वाहन से नीचे उतर कर उस भव्याकृति पुरुष के पास आये। त्यागी पुरुष को नमस्कार करने की प्रणाली को समझनेवाले राजा ने दोनों हाथ जोड़कर, मस्तक झुकाकर शिष्टाचार किया और उस त्यागी पुरुष का लक्ष्य अपनी ओर खींचने के लिए वाग्-व्यापार प्रारम्भ किया।

यह दिव्याकृति पुरुष और कोई नहीं, एक महाव्रतधारी मुनि थे। वृक्ष के नीचे एक आसन लगाकर शान्तिपूर्वक समाधि में लीन थे। जब राजा ने प्रश्नावलि प्रारभ की थी, उसी बीच मुनि ने ध्यान पारा और राजा के साथ बातचीत शुरू की। राजा ने पूछा—'इस तरुण अवस्था में आपने गृहस्थाश्रम का त्याग क्यों किया? क्या आपके ऊपर कोई दुःख या आपत्ति आ पड़ी थी, या किसी के साथ तकरार हो गई थी?' मुनि ने कहा—'राजन्, न तो किसी के साथ कोई तकरार हुई और न कोई ऐसी आपत्ति ही आई थी। गृहस्थाश्रम के परित्याग का कारण एक ही है और वह है मेरी अनाथता! अर्थात्—मेरा कोई नाथ—शरण न था; अतएव मैंने गृहस्थाश्रम में रहना उचित न समझा।

श्रेणिक—क्या आप अनाथ थे? आपको कोई आश्रयदाता या रक्षणकर्त्ता न मिला?

मुनि—हाँ, मैं अनाथ था।

श्रेणिक—यह तो सभव नहीं जान पड़ता। ऐसा आपका सौन्दर्य है, ऐसा आपका तेज है, फिर भी कोई आश्रयदाता आपको नहीं मिला,

इस बात पर विश्वास नहीं होता। फिर भी आप कहते हैं, तो सच होगा। तो महाराज, आपको आश्रयदाता और रक्षणकर्ता की ही आवश्यकता है न? यदि कोई शरणदाता मिल जाय, तो आप स्वीकार करेंगे?

मुनि—क्यों नहीं?

श्रेणिक—तब तो बड़ी अच्छी बात है। मेरे साथ चलिए। मुझे तुम पर अत्यन्त स्नेह का उद्रेक हो रहा है। मैं तुम्हें साथ ही रखूँगा, हर तरह तुम्हारी रक्षा करूँगा और तुम्हारा नाथ बनूँगा। तुम्हारी किसी भी इच्छा में कमी नहीं होने दूँगा। मन-चाहा महल तुम्हें दूँगा और धन आदि सबधी तमाम आवश्यकताओं की पूर्ति करूँगा। इसके अतिरिक्त और क्या चाहिए? चलो, संसार की सैर करो।

मुनि—राजन्! मुझे आमन्त्रित करने से पहले अपने स्वरूप का तो विचार कर देखो।

श्रेणिक—इसमें विचार करने की आवश्यकता ही क्या है? मेरे पास पूर्ण सामर्थ्य है, पूर्ण समृद्धि है और प्रचण्ड-से-प्रचण्ड दुश्मन का सामना करने के लिए यथेष्ट सेना है। कदाचित् तुम्हारा कोई दुश्मन हो, तो उससे बचाने की मुझ में पूर्ण शक्ति है।

मुनि—हे राजन्, ठहरिए, ठहरिए। आप बोलते-बोलते बहुत आगे बढ़ गये हैं। विचार की सीमा का उल्लंघन होता है। अभिमान के आवेश में भान नहीं रहता। तुम मुझे मेरे शत्रु से तो बचा ही नहीं सकते, साथ ही तुम में स्वयं अपने शत्रु से भी बचने की शक्ति नहीं है।

तुम अपने और मेरे शत्रु के सामने दीन-रंक हो ; इसलिए मैं जोर देकर कहता हूँ कि जैसे मै अनाथ था, उसी प्रकार तुम भी अनाथ हो। स्वय अनाथ होते हुए दूसरों के नाथ कैसे बन सकते हो ?

श्रेणिक—मेरे पास कितनी सेना है, मेरा कितना सामर्थ्य है, मेरी कितनी ख्याति है, मालूम होता है आपको इसका पता ही नहीं है। यही कारण है कि आप मुझपर अनाथता का आक्षेप करते हैं। महाराज सुनिए। मेरे पास तेंतीस हज़ार हाथी, तेंतीस हजार घोडे, तेंतीस हज़ार रथ और तेंतीस करोड़ पैदल सेना है। इसके अतिरिक्त मेरे भडार में अक्षय सम्पत्ति है। मैं अपनी इच्छा के अनुसार प्रत्येक वस्तु प्राप्त कर सकता हूँ। भोगोपभोग के किसी भी साधन की मुझे कमी नहीं है—कुछ भी मेरे लिए अलभ्य नहीं है। कैसा भी कोई दुश्मन हो, मेरा सामना करने की उसमें शक्ति नहीं है, अतएव आप ज़रा विचार कर बोलिए। चाहे जिसे अनाथ कहकर आप अपनी अज्ञता—भ्रम या अविवेकता प्रमाणित करते हैं।

मुनि—राजन्, मैं अपनी अज्ञता प्रकट करता हूँ या तुम अपनी ; यह तो कोई तीसरा मध्यस्थ व्यक्ति कह सकता है, पर मैं कुछ स्पष्टीकरण करना चाहता हूँ। उसे सुनकर तुम स्वय ही स्वीकार करोगे, कि तुम्हीं अज्ञ हो। पहले तुम यही नहीं समझते कि अनाथ शब्द का वास्तविक अभिप्राय क्या है ? मेरे घर में समृद्धि न थी या कोई कुटुम्बी न था, इस कारण मैं अनाथ हूँ या अन्य किसी कारण से अनाथ हूँ, यह भी तुम समझ नहीं सके हो।

श्रेणिक—तो बतलाइए, अनाथ शब्द का आशय क्या है और आप क्यों अनाथ हैं?

मुनि—राजन्, विक्षेप को दूरकर शान्ति-पूर्वक सुनना, चाहे, तो मैं प्रसन्नता के साथ सुनाऊँगा।

श्रेणिक—मुझे किसी प्रकार का विक्षेप नहीं है। मै आपकी यह बात धैर्य के साथ सुनने को तैयार हूँ। सुनाइए।

मुनि—हे महाराज, मैं अपना चरित अपने मुँह से सुनाऊँ यह आत्म-प्रशसा-सी जान पडेगी, पर सनाथता और अनाथता का असली अर्थ समझाने के लिए इस मार्ग का अवलम्बन किये बिना छुटकारा भी नहीं है। मैं कौशाम्बी नगरी का मूल निवासी हूँ। मेरे पिता का नाम धनसचय है। वे कौशाम्बी नगरी में एक इज्जतदार गृहस्थ हैं। राज्य और प्रजा में मेरे पिता का अच्छा मानपान है। मेरे पिता के खजाने में इतनी सम्पत्ति है कि उसकी गणना करना भी कठिन है। अधिक क्या कहूँ, उस खजाने के सामने एक बडे राज्य का खजाना भी तुच्छ है। मेरा पहले का नाम गुणसुदर था। मैंने अपनी बाल्यावस्था में उच्चश्रेणी की श्रीमन्ताई की। सार-सभाल में पाला-पोसा गया, पढा और एक उच्च कुल की कन्या के साथ व्याहा गया। मेरा वह समय खूब खेलकूद, भोगविलास और मजा-मौज मे ही बीता। दुःख या सकट क्या चीज है, यह मैं समझता भी न था। मेरे भाई थे, बहनें थीं। उन सब का मेरी ओर इतना आकर्षण था कि कोई भी मुझे अप्रसन्न न कर सकता था। युवावस्था मे एक युवक के साथ मेरी मित्रता स्थापित

हुई। प्रतिदिन मैं और मेरा मित्र—दोनों दो घड़ी साथ बैठते और विनोद की बातें करते। मेरा मित्र सदा वैराग्य की बातें करता और कहता कि संसार के समस्त संबंधी स्वार्थपरायण होते हैं। मैं उसकी बात का खंडन करता और मैं अपना उदाहरण उसके सामने रखकर कहता—मेरे माता-पिता, भाई-बन्द और स्त्री वगैरह मुझ पर अकृत्रिम प्रेम रखते हैं। वे मुझे नज़रों के सामने रखते हैं। मैं यदि घड़ी-भर भी देरी से दिखता, तो न जाने उन्हें क्या हो जाता था? हमारे कुटुम्ब में स्वार्थ-पूर्ण प्रेम नहीं है—सच्चा और आन्तरिक प्रेम है। मेरा मित्र इस बात को सच नहीं समझता था। वह कहता—जगत् में पशु-पक्षी और मनुष्य सब स्वार्थ के ही सगे हैं। स्वार्थ-सिद्धि हो जाने के बाद कोई किसी का सगा नहीं होता। एक बार हम किसी तालाब पर गये थे। उस समय अनेक पक्षी वहाँ क्रीडा कर रहे थे। कमल पर भौंरे गूँज रहे थे। दूसरी बार गये, तो वहाँ कोई भी न था। इस पर मेरे मित्र ने कहा—देखो इस स्वार्थ-बुद्धि को!

गजल।

हतुं पाणी हतुं पक्षी, नथी पाणी नथी पक्षी,
केवी आ स्वार्थनी बुद्धि, नथी जरी प्रेमनी शुद्धि! ॥१॥
खील्ये फूले हता भमरा, विडातां ते नथी भमरा,
करे छे सौ सुखे सोबत, दुःखे को ना धरे म्होबत ॥२॥

बगीचा और मनुष्य, पेड और पक्षी, आदि अनेक उदाहरण देकर उसने मुझे समझाने का प्रयत्न किया, पर मैंने उसकी बात पर ज़रा भी

ध्यान न दिया। मैंने जो विचार बना रखा था, उसी पर मैं कायम रहा। मेरा मित्र मुझे क्यों इतना कह रहा है, यह बात मैं उस समय समझ ही न सका था। अन्त में मेरा मित्र मेरे सामने माथापच्ची करके थक गया और मुझ से छुटकारा चाहने लगा। उसने कहा—मैं अब बाहर जाना चाहता हूँ; अतः कुछ समय तक तुम्हारे पास न आ सकूँगा।

राजन्, मेरा मित्र मेरे पास से गया कि उसी समय से अचानक मेरे अग-अग में वेदना होने लगी। हड्डियों में ऐसी वेदना उत्पन्न हुई और उससे मैं इस प्रकार तड़पने लगा, जैसे बिना पानी मछली तड़-पती है। पल में पलग पर और पलभर में ज़मीन पर लोटने लगा, पर कहीं भी चैन न मिली। अन्दर-अन्दर ऐसी पीड़ा होने लगी, जैसे कोई सुई चुभा रहा हो। थोड़ी ही देर में घर और कुटुम्ब के सब लोग जमा हो गये। सबने मेरी सार-सँभाल की। किसी ने वैद्य को बुलाने की सलाह दी, किसी ने हकीम को, किसी ने ज्योतिषी को और किसी ने भोपा को बुलाने की सलाह दी। हकीम-पर हकीम, वैद्य-पर-वैद्य आने लगे और चिकित्सा करके औषध देकर चलते बने, पर पीडा में जरा भी फर्क न पड़ा। ज्योतिषी, भोपा वगैरह सब थक कर चले गये, पर किसी से आराम न हो सका। बहुत समय हो चुका। मै वेदना भोगते-भोगते एकदम कातर हो गया। सोचने लगा—इससे तो मौत आ जाना कहीं बेहतर है। घर के सब आदमी भी थक गये। मैं रात दिन ऐसा चिल्लाने लगा कि कोई भी आराम से बैठ नहीं सकता था। ऐसी अवस्था में एक परदेशी वैद्य आया। देखने में वह जैसा सुन्दर

था, वैसा ही चालाक भी जान पड़ता था। मेरे पिताजी ने उसे बुलाया, और नीरोग कर देने पर मुँह-माँगा पारिश्रमिक देना स्वीकार किया। वैद्य बोला—'दाम की क्या बात करते हैं? मैं तो परमार्थ के लिए दवा करता हूँ। मेरे पास ऐसी अक्सीर औषधियाँ हैं कि जिस रोगी को मैंने अपने हाथ में लिया, वह बिना नीरोग हुए नहीं रहा। फिर भी मैंने किसी से रुपये नहीं लिये हैं। चलो, तुम्हारे लड़के की तबीयत देखूँ।' वैद्य आया और मेरी नाडी हाथ में लेकर बोला—'सेठजी, इस लडके को रोग कुछ भी नहीं है, सिर्फ प्रेत-बाधा है। एक व्यतर इसे लग गया है।' मेरे पिताजी ने कहा—'वैद्यराज! इसका भी उपाय आप के पास होगा ही।' वैद्य बोला—'हाँ, है तो, पर इसपर अधिक उपाय नहीं हैं।' पिताजी बोले—'अधिक उपायों की आवश्यकता भी क्या है? एक उपाय तो है अगर उसीसे काम बन जाय, तो दूसरे की क्या आवश्यकता?' वैद्य कहने लगा—'एक उपाय है तो रामबाण पर ' मेरे पिताजी बोले—'पर वह क्या है? बोलते-बोलते अटक क्यों गये?' वैद्य ने कहा—'वह उपाय जरा कठिन है। इस उपाय से लड़के के व्यतर को भगा तो दूँगा, पर उस दर्द को लेने के लिए किसी दूसरे को तैयार होना चाहिए। यह व्यतर बलि लिये बिना माननेवाला नहीं है। एक को बचाऊँ तो उसके बदले दूसरे को मृत्यु के लिए तैयार होना चाहिए।'

वैद्य की बात सुनकर सभी लोग सन्नाटे में आ गये। कोई-कोई समझने लगा—यह वैद्य गप्पी है। यह कभी सम्भव है? पर देखें

बात क्या है ? ऐसा सोचकर कहा—'वैद्यराज ! आप पहले गुणसुंदर के शरीर में से रोग निकालिए, फिर जैसे आप कहेंगे, वही उसे लेने को तैयार हैं। हम सब लोग यहाँ मौजूद खड़े ही हैं।' वैद्य बोला—'फिर बदल नहीं सकेंगे, विचार कर कहिए।' सब-के-सब बोले—'हाँ हाँ, विचार कर ही कह रहे हैं।' इस प्रकार मजबूत करके वैद्य ने सब को बाहर कर दिया। किवाड बंद कर लिये। मेरे शरीर पर एक बारीक वस्त्र ढंककर वैद्य कुछ मन्त्र-जाप करने लगा। थोड़ी देर में मेरे शरीर से पसीना छूटने लगा। कपडा भींग गया। उस कपडे को एक प्याले में निचोड़कर फिर मुझे ओढा दिया। इस प्रकार तीन बार कपड़े को निचोडा। प्याला सारा पसीने से—दर्द से—भर गया। मुझे एकदम शान्ति हो गई। वैद्य ने किवाड खोलकर सबको अन्दर बुलाया। उसने पीडा का वह प्याला हाथ में लेकर कहा—देखो, लडके को बिलकुल शान्ति हो गई है। इसकी सारी पीडा इस प्याले में एकत्र हो गई है। बताओ यह प्याला कौन पीना चाहता है ? मेरे पिताजी, माताजी, भाई, बहनों भौजाइयों—सब से अलग-अलग बुलाकर वैद्य ने पूछा। परन्तु हे राजन्, उस प्याले के भीतर का तरल पदार्थ तेजाब की तरह खदबदा रहा था, उसमें से धुआ और अग्नि की ज्वालाओं के समान ज्वालाएँ निकल रही थीं। उस समय उस प्याले को पी जाना कितना कठिन था ! आखिर किसी की हिम्मत न पड़ी। पिताजी कहने लगे—'भले ही मैं इसे पी जाऊँ; मगर दुकान का हिसाब-किताब मेरे हाथ में है। प्याला पीने से वेदना होगी, तो उसे सँभालना असम्भव हो जायगा।' माता ने

कहा—'गुणसुन्दर के पिता की तबीयत ऐसी आकरी है कि मेरे सिवाय कोई उसे सँभाल नहीं सकता।' भाइयों को उनकी स्त्रियाँ मना करने लगीं। बहनों को उनके पतियों ने न पीने दिया। मेरी पत्नी ने छोटे बच्चे का बहाना लिया कि मेरे बिना यह लड़का नहीं रहेगा। दूसरे सगे-सबंधियों में से कोई-कोई टट्टी और पेशाब का बहाना बनाकर चलते बने। अन्त में वैद्य ने वह प्याला मेरे ही ऊपर छिटक दिया और मुझे पहले ही की भाँति वेदना होने लगी।

वैद्य वहाँ से चल दिया। उस समय मुझे अपने मित्र की बात का स्मरण हो आया। ससार के स्वार्थपूर्ण सबध का मुझे खयाल आया। मुझे मालूम हुआ कि मैंने अब तक काँच को हीरा और पीतल को सोना समझकर, मोह में मस्त होकर व्यर्थ ही इतना समय गँवा दिया! तत्काल ही मैंने निश्चय किया—यदि यह पीड़ा मिट जाय, तो इस असार-ससार का परित्याग कर सयम का मार्ग स्वीकार करूँगा। मैं यह निश्चय कर सो गया। कुछ स्वप्न आया, मेरा मित्र दिखाई दिया। उसने कहा—मित्र, समझ, समझ। तुम और मैं—दोनों देव थे। अतीत देव भव में जब तुम्हारा आयुष्य समाप्त होने लगा था, तब तुमने मुझसे कहा था—'तुम्हारी आयु अभी बाकी है। मैं यहाँ से मरकर मनुष्य होऊँगा। तुम मुझे समझाने के लिए आना। किसी भी प्रकार मुझे बोध देना। इसके लिए तुमने मुझसे वचन भी ले लिया था। मैंने समझाने के हेतु आने का वचन दिया था। क्या यह तमाम बातें तुम भूल गये? उस समय का तुम्हारा वैराग्य, उस समय की

तुम्हारी समझ, अब कहाँ हवा हो गई है ? मित्र ! आज मैं (वचन देनेवाला देव) तीसरी वार तुम्हारे पास आया हूँ। एक वार मित्र के रूप में तुम्हारे साथ सबन्ध स्थापित किया था और तुम्हें ससार का स्वरूप समझाने का प्रयास किया था ; पर तुम न समझे। तब इस दुःखकर पर अनुभव करानेवाले दूसरे मार्ग का अवलम्बन लेना पड़ा। दूसरी वार वैद्य बनकर तुम्हारे पास में ही आया था, क्योंकि मैंने तुम्हें वचन दिया था, अतएव आज तीसरी वार स्वप्न-अवस्था मे तुम्हारे पास हूँ। ससार के स्वार्थमय सबन्ध को पहचान पाये ? यदि पहचान सके हो, तो आत्म-साधन के लिए कमर कस डालो। पक्का निश्चय करो, इसी क्षण तुम्हारी वेदना दूर हो जाएगी।

इसी समय मेरी नींद खुली, तब तक देव अदृश्य हो गया था। मैं निश्चय तो पहले ही कर चुका था, पर स्वप्न के अर्थ का विचार कर और भी सुदृढ निर्णय पर आया कि वेदना शान्त होते ही ससार का परित्याग कर दूँगा। महाराज, यह निश्चय करते ही उसी समय से मेरी वेदना कम होने लगी और थोडी देर में तो शान्त निद्रा आ गई। दूसरे दिन प्रातःकाल मैं सो कर उठा, तो मेरा कमरा मेरे सम्बन्धियों से खचाखच भरा हुआ था। मेरे जाग उठने के भय से सभी मौन धारण किये बैठे थे। मै जागा तो सभी मेरा हाल-चाल पूछने लगे। जब मैंने कहा कि अब शान्ति है, तो सब प्रसन्न हो गये और कहने लगे—हमारी मान्यता सफल हो गई। कोई कहने लगा—मैंने अमुक यक्ष की मान्यता की थी। किसी ने कहा—मैंने फलाँ माता की मान्यता मनाई थी। मैंने

कहा—किसी की भी मान्यता नहीं फली है, मेरी ही मान्यता फली है। माता-पिता पूछने लगे—बेटा! बता, तेरी क्या मान्यता है? पहले तेरी मान्यता पूरी कर डालें। मैंने कहा—

खंतो दंतो निरारंभो पव्वइए अणगारियं।

अर्थात्—मैंने यह मान्यता की है कि अगर यह वेदना मिट जाय तो क्षमा का पाठ पढ़कर, इन्द्रियों का दमन करके, आरंभ परिग्रह से पिंड छुडा कर अनगारता—साधुधर्म—स्वीकार करूँगा। ऐसा विचार करते ही मेरी वेदना शान्त हो गई, अतएव अब मैं अपना आत्म-कार्य साधूँगा। मैं आप सब से इतनी कृपा करने की आशा करता हूँ कि कोई भी मेरे कार्य में रोडे न अटकावे।

राजन्, इस विषय को लेकर मेरे माता-पिता तथा सम्बंधियों के साथ बहुतेरा वाद-विवाद हुआ। अन्त में सब को समझा-बुझाकर मैंने दीक्षा अंगीकार की। तब से अनाथ न रहकर मैं सनाथ हो गया हूँ। अब मैं अपनी आत्मा की रक्षा करता हूँ और साथ ही प्राणी-मात्र की भी, अतएव मैं अपना और दूसरों का नाथ बना हूँ। अब तुम स्वयं विचार कर सकते हो, कि तुम अनाथ हो या सनाथ हो? तुम जितनी ऋद्धि और भोग-विलास की सामग्री मुझे अभी देना चाहते हो, उससे कहीं अधिक मुझे प्राप्त हुई थी। सगे सम्बन्धी, यार दोस्त भी मेरे बहुतेरे थे। फिर भी मुझे दुःख से कोई भी न बचा सका, अतएव मैं अनाथ था। बताओ, क्या तुममें कष्ट और मृत्यु से बचाने की शक्ति है? बड़े से बड़ा शत्रु मृत्यु और कर्म हैं, उनसे बचाने की शक्ति तुममें नहीं

हैं ; इसीलिए मैंने तुम्हें अनाथ कहा था। अब यदि मेरे वाक्य तुम्हें असत्य प्रतीत होते हों, तो मैं उन्हें वापस ले सकता हूँ।

श्रेणिक—महाराज! आपके वचन सत्य हैं। भूल मेरी ही है। मुझे विश्वास हो गया कि इस दृष्टि से मैं स्वयं अनाथ हूँ। मैंने अपनी सम्पत्ति पर व्यर्थ अभिमान किया। चाहे जितनी सम्पत्ति हो, चाहे जितनी सत्ता हो, पर मृत्यु के सामने वह तुच्छ है। आप एक दृढ़ वैरागी और त्यागी पुरुष हैं। मैंने आपको भोग-विलास के लिए आमन्त्रित करके आपका अपराध किया है। इसके लिए मैं आपसे क्षमा-याचना करता हूँ। साथ ही मुझे आपका धर्म सुनने की अभिलाषा भी है।

इसके अनन्तर मुनि ने धर्मोपदेश दिया। श्रेणिक राजा ने धर्मोपदेश सुन कर बड़ी प्रसन्नता के साथ धर्म को अंगीकार किया। मुनि की स्तुति, बहुमान, वंदना, नमस्कार कर श्रेणिक राजा वहाँ से विदा हुआ। मुनि महाराज भी भूतल पर अनेक भव्य जीवों को प्रतिबोधित करते हुए, आन्तरिक शत्रुओं को जीत कर अन्त में अभय पद को प्राप्त हुए। 'सनाथ' होने पर भी अन्य लोगों को समझाने के लिए वे अपना परिचय 'अनाथ' के नाम से ही देते थे और उनके चरित में आज तक 'अनाथी' नाम प्रसिद्ध है।

जिनके अधिकार में इतनी अधिक समृद्धि थी, या विशाल साम्राज्य था, वे गुणसुंदर और श्रेणिक राजा जैसे महापुरुष भी अनाथ थे, तो सामान्य मनुष्य सनाथता का दावा कैसे कर सकते हैं? ॥ १५ ॥

अन्त में श्मशान का ही आश्रय है

राज्यं प्राज्यं क्षितिरतिफला किङ्कराः कामचाराः,
सारा हारा मदनसुभगा भोगभूम्यो रमण्यः।
एतत्सर्वं भवति शरणं यावदेव स्वपुण्यं,
मृत्यौ तु स्यान्न किमपि विनाऽरण्यमेकं शरण्यम् ॥१६॥

अर्थ—विशाल साम्राज्य, लम्बी-चौडी पृथ्वी, अधिकारी की इच्छा पर नाचनेवाले चाकर, पहनने योग्य बढिया-से-बढिया हार, हथिनी की चाल चलनेवाली और मन को मुग्ध बनानेवाली सुन्दरियाँ, ये सब इस वर्त्तमान जन्म में भी तभी तक उपयोगी हैं, जब तक पूर्व-जन्म के सचित शुभकर्म-पुण्यकर्म प्रबल हैं, अथवा जब तक मृत्यु की सवारी नहीं आ पाई है। भद्र! पुण्य का अन्त होते ही या मृत्यु के सपाटे में आते ही एक अरण्य या श्मशान-भूमि के अतिरिक्त अन्य कोई भी इस शरीर को आश्रय देने में समर्थ न हो सकेगा। ॥१६॥

विवेचन—कितनी ही बार ऐसा परिवर्तन तो प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि पुण्य के योग से किसी मनुष्य को उत्तराधिकारी न होने पर भी उत्तराधिकार—दाय—प्राप्त हो जाता है, दूसरी ओर प्रतिस्पर्धी या दुश्मन लोग उसका राज्य छीन लेने का प्रयत्न करते हैं। अन्त में यदि शत्रुओं का हाथ लगा, तो नया राजा महीने दो-महीने या साल छः महीने मे राज्य को गँवा बैठता है और उलटा कैद में पड़ जाता है। आह! यह परिवर्तन राज्य गँवानेवाले को कितना दुःखद होता

है ? ऐसे समय तो जी में यही आता है, इतने दिन के लिए राज्य मिलने से तो न मिलना ही अधिक अच्छा था। वस्तु के अभाव की अपेक्षा उसका वियोग मनुष्य के हृदय में ज्यादा गहरा घाव कर जाता है। एक व्यक्ति को कोई वस्तु पहले से हो न मिली हो, तो उसे उसका अभाव होता है। वह अभाव मनुष्य को उतना नहीं खटकता ; पर मिली हुई वस्तु का फिर बिछुड़ना अत्यन्त खटकता है। इसी प्रकार जमीन का कोई हिस्सा एक मनुष्य के हिस्से में आता है, या रुपये खर्च कर वह मोल खरीदता है ; किन्तु बाद में उसका असली अधिकारी कोई और ही निकल पड़ता है या कोई चालाक आदमी चालाकी करके झूठी लिखावट और झूठे साक्षी तैयार करके जमीन-सम्बन्धी दावा कर देता है और न्यायाधीश के मन में भिन्न प्रकार का विचार उत्पन्न कर अपने हक में फैसला करा लेता है। इस प्रकार रुपये खर्च करने-वाले से वह ज़मीन छीन लेता है। बेचारा रुपये खर्च करने वाला जमीन और जायदाद दोनों को गँवा बैठता है और उलटा लोगों की नजर में बेवकूफ बनता है। उस समय उसे कितना दुःख होता होगा ? एक आदमी को किसी समय मन-चाहा नौकर मिल जाता है, जिससे उसके विरोधी को डाह होती है और वह उस नौकर को खोटी सलाह देकर भगा देता है। किसी को किसी समय धन और आभूषणों की प्राप्ति होती है, छः महीने या सालभर बाद फिर व्यापार में धक्का लगता है या कोई आसामी बिगड़ जाता है, तो उसमें उसकी सारी जायदाद मिट जाती है और प्राप्त आभूषणों को बेच डालने की नौबत

आ पहुँचती है। एक मनुष्य का मन-चाही, प्रकृति के अनुकूल और आपत्ति में आश्वासन देनेवाली पतिव्रता स्त्री से प्रेम हो जाता है, दिलकी गाँठ जुड़ जाती है और उसी समय काल के एक झपट्टे में दोनों में से किसी एक का अन्त हो जाता है। किसी वर्ष व्यापार या लॉटरी में अच्छा लाभ होता है, पर दूसरे ही वर्ष सेठ का या हिस्सेदार का हृदय बदल जाता है। वह स्वय बीमार हो जाता है कि मिला हुआ लाभ सब अकारथ चला जाता है। आजकल के जमाने में प्रथम तो मनुष्यों का उदय ही ऐसा है कि वे इष्ट वस्तु की ज्यों-ज्यों इच्छा करते हैं, त्यों-त्यों वह वस्तु दूर भागती जाती है। कदाचित् स्वल्प पुण्य के उदय से वह प्राप्त हो भी जाय, तो जीवन पर्यन्त ठहरती नहीं है, क्योंकि पुण्य इतना अधिक नहीं होता। किसी के पुण्य की अवधि छः महीना की हुई, तो छः महीना तक, बारह महीने की हुई, तो बारह महीने तक, यदि अधिक जोर मारा तो दो-चार वर्ष तक वस्तु का सयोग रहता है। पुण्य की अवधि पूरी होने पर शीघ्र ही किसी-न-किसी कारण के मिलने पर वह सयोग, वियोग के रूप में बदल जाता है और हृदय को चुटीला बना जाता है। प्रभु महावीर ने ठीक ही कहा है—

संयोगमूला जीवेण पत्ता दुक्खपरंपरा।

अर्थात्—नाशशील वस्तु का सयोग ही दुःख-रूपी वृक्ष का मूल है। सयोग रूपी मूल की मौजूदगी होने पर दुःख-परपरा रूपी पत्ते स्वय ही फूट निकलते हैं। पुत्र, पत्नी, मित्र, हाथी, घोड़ा, रथ, हवेली, धन-दौलत आदि पदार्थों का सयोग तभी तक रमणीय रहता है, जब

तक पूर्व-पुण्य का अन्त न आया हो। पर यह निश्चित है कि पुण्य चाहे जितना बलवान् क्यों न हो, पर उसकी अवधि अवश्य है। अवधि पूर्ण होने पर किसी-न-किसी दिन परिवर्त्तन होगा ही—वह रुक नहीं सकता! कदाचित् पुण्य की स्थिति अधिक-से-अधिक लम्बी हुई, तो भी आयु पूर्ण होने पर मौत के मुख में जाते ही परिवर्त्तन अवश्य होगा। उस समय अपना माना हुआ प्रत्येक पदार्थ, फिर भले ही उसके बिना एक भी क्षण काम न चल सकता हो, अवश्य ही त्यागना पड़ेगा।

हे भद्र! अन्त समय में दूसरी वस्तुओं के साथ प्रिय-से-प्रिय यह शरीर भी तुझे त्यागना पड़ेगा—इससे अलग होना पड़ेगा। हे भद्र! तू ने अपने शरीर को कैसा ही लाड़ क्यों न लड़ाया हो, कैसी ही सार-सँभाल क्यों न की हो, तेल-फुलेल और इत्र लगाकर चाहे जैसा सुशोभित क्यों न किया हो, पक्वान्न, मेवा, मसाला खाकर चाहे जितना पुष्ट क्यों न बनाया हो; पर तेरा वियोग होते ही तेरे सगे-सबधी, पुत्र-पत्नी उसे तेरे बनवाये हुए महल में न रहने देंगे। अधिक नजदीकी रिश्तेदार तो और अधिक जल्दी करके उसे घर से बाहर कर देंगे! तेरे खरीदे हुए हाथी, घोडे, या रथ मौजूद होंगे, पर उनमें से एक भी तेरे शरीर के लिए उपयोग में न आएगा। केवल आढी-टेढी लकड़ियों की बनाई हुई ठठरी ही तेरे शरीर का वाहन बनेगी! वह भी श्मशान की भयकर भूमि में पहुँचने तक ही। अन्त में तेरे बाग-बगीचों की रमणीय भूमि भी इस शरीर को शरण न देगी। अरण्य—जगल की श्मशान-भूमि ही इसे शरण देगी। तेरे संबधी तो उस भूमि में भी तेरे शरीर को अखंड न

रहने देंगे—वरन् जलाकर भस्म कर डालेंगे। और वह भी यहाँ तक कि तेरी भस्म का पता भी नहीं लग सके! तुझसे कुछ स्वार्थ होगा, तो पीछे के सम्बन्धी कुछ समय तक तुझे याद कर लेंगे; पर कुछ समय पश्चात् तो नाम-निशान भी भूल जाएँगे। ठीक ही कहा है—

दिन गणंता मास गया, वरसे आंतरिया,
सूरत भूल्या सज्जनो, पछी नामे पण विसरिया।

इस अनित्यता को समझकर जो आत्मिक कार्य साधेगा, वह सुखी होगा॥ १६॥

शरण क्या है?

संसारेऽस्मिन् जननिमृति जरातापतप्ता मनुष्याः,
सम्प्रेक्षन्ते शरणमनघं दुःखतो रक्षणार्थम्।
नो तद् द्रव्यं न च नरपतिर्नापि चक्री सुरेन्द्रो,
किन्त्वेकोऽयं सकलसुखदो धर्म एवास्ति नान्यः॥१७॥

अर्थ—संसार में नरक तिर्यंच आदि गतियों में भ्रमण करते समय दुःखी और खिन्न हुए जीवों को दुःख से बचने और सुख को प्राप्त करने की इच्छा अवश्य होती है। प्रश्न यह है कि जब अन्त समय में धन-जन, माल-मिलकित, कुटुम्ब-परिवार आदि समस्त पदार्थ अलग हो जाते हैं, तब मित्र की तरह सहायक बनकर कौन रक्षा करता है? कोई रक्षक और शरणदाता है भी या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर सरल और सीधा है? पर उसमें श्रद्धा की आवश्यकता है। हे सखे! श्रद्धा

हो, तो श्रद्धापूर्वक सुन। मृत्यु के समय जब समस्त पदार्थ दूर हो जाते हैं तब सिर्फ एक धर्म, जो सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादन किया गया है, जो कर्मों को भेदनेवाला है, और पूर्ण सुख तथा सपत्ति प्रदान करनेवाला है, मित्र की भाँति सहायक बनकर रक्षा करता है। अतएव उसी का शरण ग्रहण करो ॥ १७ ॥

विवेचन—जब तक सूक्ष्म तथा अमूर्त—रूप, रस, गध स्पर्श हीन चीज़ों को प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञान न हो जाय, तब तक सिर्फ श्रद्धा से उसका अस्तित्व स्वीकार करने की जरूरत है। जीव-आत्मा चर्मचक्षु से दिखलाई देनेवाली वस्तु नहीं है। वह अत्यन्त सूक्ष्म है। फिर भी अनेक दार्शनिक और धार्मिक ग्रथों से उसका अस्तित्व सिद्ध होता है। उन ग्रथों पर श्रद्धा रखकर जब आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, तो साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि आत्मा ऐसी वस्तु नहीं है, जिसका शरीर के साथ नाश होजाय। वह शरीर के उत्पन्न होने से पहले और नष्ट होने के बाद भी कायम रहनेवाली अखड अविनाशी नित्य वस्तु है। जब वह नित्य है, तो शरीर की उत्पत्ति होने से पहले वह किसी जगह अवश्य रहेगी और शरीर के नाश हो जाने के पश्चात् उसे अन्यत्र अवश्य जाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि आत्मा का पूर्वजन्म और पुनर्जन्म होता है। किसी जगह से आकर इस शरीर के साथ उसका सबध हुआ है और आखिर फिर इस शरीर से अलग हो कर दूसरी गति में जायगी और वहाँ दूसरे शरीर के साथ सबध होगा। जैसे कोई मनुष्य पुराना कपड़ा बदलकर नया पहनता है, उसी प्रकार

आत्मा भी पुराने शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण करती है।
गीता में कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(अ० २ श्लो० २२)

जब यह बात मान ली गई कि जीव भवांतर से आता और भवांतर में जाता है, तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब जीव भवांतर से यहाँ आता है, तब कुछ साथ लाता है या नहीं? और जब भवांतर में जाता है, तो यहाँ से कुछ ले जाता है या नहीं? दोनों प्रश्नों का उत्तर एक ही प्रकार से दिया जा सकता है। जो वस्तु भवांतर से यहाँ लाई जा सकती है, वही वस्तु यहाँ से भवांतर में ले जाई जा सकती है। यहाँ से भवांतर में जानेवालों की स्थिति को यद्यपि हम नहीं देख सकते, परन्तु भवांतर से यहाँ आनेवालों की स्थिति को हम अवश्य देख सकते हैं; बालक जब उत्पन्न होता है, तो सिवाय एक नग्न शरीर के और कुछ भी अपने साथ नहीं लाता। न उसके पास वस्त्राभूषण होते हैं, न सोना-चाँदी, जवाहरात। इस प्रकार कोई भी वस्तु (शरीर के अतिरिक्त) उसके पास नहीं होती, पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। पुण्य पाप या शुभाशुभ कर्मों को वह साथ लाता है और उन्हीं के अनुसार इस जन्म में उसे सुख-दुःख, संपत्ति-विपत्ति, संयोग वियोग, लाभ अलाभ, आदि प्राप्त होते हैं। जैसे जीव परभव से इस भव में पुण्य-पाप लेकर आता है और वे उसे फल देते हैं, वैसे ही इस भव से भी पाप-

पुण्य परलोक में उसके साथ जाते हैं, और वे वहाँ फल देते हैं। इस प्रकार इस भव का अन्त होते समय धन, माल, हाथी, घोड़े, रथ, हवेली, सगे-सम्बन्धी आदि जब दूर रह जाते हैं—इनमें से कोई भी सहायक या सहचर नहीं बनता है, तब इस जीवन में किये हुए धर्मानुष्ठानों से प्राप्त पुण्य-संपत्ति ही जीव के साथ आती है और परभव में कष्ट के समय सान्त्वना देकर एक सच्चे मित्र की तरह सहायता पहुँचाती है। एक दृष्टान्त लीजिए—

दृष्टान्त—किसी राजा का एक कर्मचारी दीर्घदर्शी और बुद्धिमान् था। एक बार उसने सोचा—'राजा मित्र केन दृष्टं श्रुत वा।' मैं राजा की नौकरी करता हूँ। आज उसकी मुझ पर अच्छी नजर है, और कल ही खराब हो सकती है। राजा न कभी किसी का मित्र हुआ है और न होगा ही। मौका आने पर यदि राजा खफा हो जाय और अचानक आपत्ति आ जाय तो उस समय, मित्र के अतिरिक्त और कौन सहायक होगा? अतएव मुझे कुछ मित्र बना लेने चाहिए। ऐसा सोच-विचार उस कर्मचारी ने अपने पास उठने-बैठनेवालों में से एक के साथ मित्रता कायम की और वह भी यहाँ तक कि खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना, आना-जाना, आमोद-प्रमोद, आदि समस्त कार्यों में वह मित्र को साथ रखता। इस प्रकार उसके साथ गाढ़ा संबंध हो गया। कुछ समय पश्चात् उक्त कर्मचारी ने एक से दो भले, यह सोचकर एक और व्यक्ति के साथ मित्रता जोड़ी; पर उसके साथ वार-त्योहार या किसी विशेष प्रसंग पर मिलने-जुलने का सम्बन्ध रखा; यद्यपि

पहले मित्र के बराबर दूसरे का सहवास नहीं था, फिर भी किसी विशेष अवसर पर वह उसे भुलाता भी न था। उस कर्मचारी ने एक तीसरा मित्र और बनाया, पर उससे अधिक परिचय न रखा गया। तीनों मित्रों का अलग-अलग परिचय देने के लिए पहले का नाम नित्य-मित्र, दूसरे का पर्वमित्र और तीसरे का नाम जुहारमित्र या दृष्टिमित्र रखा गया। कर्मचारी का जिसके साथ जितना सबंध रहता था, उसी के अनुसार नाम रखने की व्यवस्था हुई थी। एक समय कर्मचारी ने मित्रों की परीक्षा करने का विचार किया। अपने ऊपर राज्य की ओर से कुछ विपत्ति आई है, यह प्रकट करने के लिए उसने एक कारस्तानी की। राजा के एक छोटी उम्र का कुमार था। उसने कुमार को अपने यहाँ जिमाने के लिए राजा से प्रार्थना की। राजा ने प्रार्थना स्वीकार कर ली। क़ीमती वस्त्र और आभूषण पहनाकर अकेले राजकुमार को कर्मचारी के घर भेज दिया गया। कर्मचारी ने अपने घर जाकर राजकुमार से दुगुनी उम्र के अपने लड़के के साथ उसे खेल में लगाकर उसे घर के भीतरवाले गुप्त भौंयरे में बन्द कर दिया। अपने दूसरे लड़के के साथ उसने अपनी स्त्री को उसके मायके रवाना कर दिया। अपनी जायदाद उसने इधर-उधर कर दी और एक ऐसे नौकर को बुलाया, जिसके पेट में पल भर भी कोई बात नहीं टिक सकती थी। नौकर को बुलाकर उसने कहा—'आज मुझ से एक अघटित घटना हो गई है। राजा की आज्ञा से राजकुमार को अपने घर लाया था, मगर उसके बहुमूल्य आभूषण देख मेरी बुद्धि पर पर्दा पड़ गया और मैंने

उसे मार डाला है। उस समय तो लोभ से अन्ध होकर मैंने भविष्य का कुछ भी विचार नहीं किया था, पर अब यही सोच रहा हूँ कि राजा को क्या उत्तर देना चाहिए? राजा ने अपने हाथों मुझे कुमार सौंपा था; अतएव सारा उत्तरदायित्व मुझ पर ही है। टेढा-मेढा उत्तर देने से भी मैं ही पकडा जाऊँगा। इस झंझट से बचने का उपाय मुझे तो यही ठीक मालूम होता है कि मैं कहीं भाग जाऊँ। अतएव मै कहीं भागता हूँ। तू सावधान रहकर मेरी सपत्ति को सभालना और राजा के आदमी आवें, तो इस भेद को प्रकट न होने देना—कोई बहाना बनाकर उत्तर दे देना।

नौकर को इस प्रकार सूचना देकर वह कर्मचारी अपने नित्यमित्र के घर पहुँचा। उसे अकेला आते देखा, तो नित्यमित्र सोचने लगा—आज यह अकेले क्यों आ रहे हैं? क्या कारण है कि इनके साथ कोई नौकर-चाकर नहीं है? यही नहीं, वरन् इनका चेहरा भी एकदम बदल गया है, मुँह पर उदासीनता छाई है। मालूम होता है कोई विशेष घटना घटी है। नित्यमित्र यह विचार ही रहा था कि कर्मचारी आ पहुँचा। नित्यमित्र को एक अलग कमरे में ले जाकर कर्मचारी कहने लगा—'मित्र, आज मुझपर बडी विपत्ति आ पडी है। उसमें अपराध मेरा ही है, और किसी का भी नहीं। मेरे भाग्य फूटे थे; इसलिए मुझे दुर्बुद्धि सूझी। राजा के इकलौते कुमार का मेरे हाथों खून हो गया है!' कर्मचारी आगे कुछ बोले, त्योंही बीच में नित्यमित्र ने कहा—'मित्र, आह! यह क्या कह रहे हो? राजकुमार का खून!!' कर्मचारी ने कहा—'भाई, इसी से तो कहता हूँ कि मेरा भाग्य फूट गया!'

नित्यमित्र—अजी साहब, यह तो गजब की बात है। इतना बड़ा गुनाह छिपा कैसे रह सकता है?

कर्मचारी—मित्र! किसी भी उपाय से मुझे बचा लो। मेरी बुद्धि काम नहीं करती। मुझे कोई दिशा नहीं सूझती, इसीलिए तुम्हारे आश्रय में आया हूँ। दूसरी बातें फिर होंगी, पहले तो अपने घर में कहीं छिपा लो, अन्यथा राजा के आदमी आ पहुँचेंगे, तो मुझे पकड़ ले जाएँगे।

नित्यमित्र—भाई साहब, आप कहते हैं सो ठीक है, पर यह तो विचारणीय बात है। आप ठहरे राजा के अपराधी और वह अपराध भी छोटा-मोटा नहीं, बल्कि बड़ा भयंकर है। खबर लगते ही राजा के आदमी छूटेंगे। मुझमें इतनी शक्ति नहीं है कि उनका कोप सहन कर सकूँ।

कर्मचारी—मैं भागा हुआ हूँ, वे कैसे जान लेंगे कि मैं यहीं हूँ? अतएव हे मित्र! इस मौके पर मेरी मदद करो।

नित्यमित्र—मित्र इस समय तुम मुझे मारने आये हो या किस लिए? खबर क्यों नहीं लगेगी? इस बात को सभी जानते हैं कि कर्मचारी का नित्यमित्र मित्र है, इसलिए वह इसी के घर होगा। पुलिस की मार खाकर जब घर की खानातलाशी देनी पड़ेगी, तब तुम पकड़े जाओगे और मुझे भी अपने बाल-बच्चों के साथ कैद भुगतनी पड़ेगी, अतएव इस समय मैं कुछ भी सहायता नहीं कर सकता। कृपाकर शीघ्र ही यहाँ से विदा हो जाइए और किसी और का आसरा लीजिए।

कर्मचारी—मित्र ! मैंने तुम्हें इतनी-इतनी मदद दी, वह सब व्यर्थ गई ? तुम्हें जरा भी शर्म नहीं आती ?

नित्यमित्र—शर्म के समय शर्म रखूँगा, क्या ऐसे अवसर पर शर्म रखी जाती है ? शर्म रखेंगे, तो अभी मर्म खुल जायगा। पुलिस के गर्मागर्म प्रहार से टॉट नर्म हो जायगी। बस, यहाँ से पलायन करो।

कर्मचारी ने सोचा—यहाँ तिल मे तेल नही है। यह तो मतलब का यार है, सुख का सहचर है। चलो, अब आगे बढ़ें। एक की परीक्षा तो हो गई, अब दूसरे को भी ज़रा टटोल देखें।

'हे मित्र ! तेरा कल्याण हो। तुमसे कोप नहीं सहा जाता तो ले, जाता हूँ।' नित्यमित्र ने कहा—'पधारो। आपत्ति से मुक्त हो जाओ तो जल्दी आ जाना।' कर्मचारी वहाँ से रवाना हुआ कि नित्यमित्र ने घर का दरवाजा बन्द कर लिया। मन में सोचा—बला टली। पेट फाड़ कर कौन बला सिर ले ? यह अच्छा हुआ कि वह थोड़े में समझ गया और चला गया, नहीं तो धक्के देकर निकलवाना पड़ता। मौके पर चेत गया।

कर्मचारी नित्यमित्र के घर से निकल कर सीधा पर्वमित्र के घर आया। कर्मचारी ने यहाँ भी सारा वृत्तान्त सुनाकर सहायता माँगी।

पर्वमित्र—कर्मचारी महोदय ! इस समय मुझे मदद करनी चाहिए। विपत्ति में आसरा देना मित्र का कर्तव्य है ; परन्तु लाचार हूँ, मेरे पास

आपको छिपाने के साधन नहीं हैं। मैं एक बाल-बच्चोंवाला साधारण श्रेणी का आदमी ठहरा। मिहनत मजूरी से गुजर करता हूँ। मैं तुम्हें रखूँगा, तो मुझ पर राज्य का दबाव पडेगा और काम-धंधे से हाथ धो बैठूँगा। यही नहीं, अन्त में बात छिपी नहीं रहेगी। तुम पकडे जाओगे और तुम्हारे साथ मुझे भी सजा भुगतनी पडेगी, मेरी स्त्री और बाल-बच्चे किसी दीन के न रहेंगे; अतएव कृपाकर मेरे बाल-बच्चों पर दया करो, तो ठीक है। और कहीं रक्षा हो सकती हो तो कीजिए। यही ठीक होगा।

कर्मचारी—पर अन्यत्र जाऊँ कहाँ, सो मुझे कुछ नहीं सूझता। इस समय तुम सहायता न करोगे, तो करेगा कौन?

पर्वमित्र—यह ठीक है, पर मुझे भी तो अपनी शक्ति का विचार करना चाहिए न? और किसी का अपराध होता तो और बात थी; पर यह तो राजा का ही अपराध है। महाशयजी! इस समय क्षमा करो। मुझे जलती अग्नि में होम देने का विचार स्थगित ही रखो।

कर्मचारी—मित्र! मैं तो कहता हूँ—तुम्हारी हिम्मत हो, तभी मुझे रखो। डर लगता हो, तो कोई बात नहीं। मेरा भाग्य मेरे साथ है। मैं किसी को जबर्दस्ती आपत्ति में डालना नहीं चाहता। तुम्हें साहस नहीं होता, तो जाने दो। लो मैं जाता हूँ। तुम्हारा भला हो!

इतना कहकर कर्मचारी वहाँ से विदा हुआ, तो पर्वमित्र बडा खिन्न हुआ। थोडी दूर तक उसे पहुँचाने आया और दो आँसू बहाते हुए बोला—'मैं बड़ा अभागा हूँ कि आप मेरे यहाँ आश्रय लेने के

लिए स्वय आये ; पर सयोग-वश मैं आश्रय न दे सका।' इस प्रकार सभ्यता दिखलाकर पर्वमित्र लौट गया। कर्मचारी अब तीसरे जुहार-मित्र के यहाँ गया। कर्मचारी को आते देख जुहारमित्र उसे लेने गया और बडे आदर-सत्कार के साथ उसे घर में ले गया। उसने कहा—'मुझे बहुत अफसोस है कि इस ऐन मौके पर मैं आपका मेहमान बना हूँ।' जुहारमित्र बोला—'चाहे जैसा मौका हो, पर आप के आने से मुझे प्रसन्नता हुई है।' कर्मचारी ने कहा—'मेरे ऊपर राज्य की आफत आ पड़ी है। मेरे हाथों ऐसा .....काम बन गया है। आश्रय लेने के लिए तुम्हारे यहाँ आया हूँ।' जुहारमित्र ने कहा—मित्र! कोई बात नहीं है। जब तक मेरे शरीर मे प्राण हैं, तब तक तुम्हारी रक्षा करूँगा। जब आप स्वयं बिना बुलाये मेरे घर आये हैं, तो मेरे प्राण हैं। तुम्हारे बदले मैं अपने प्राण अर्पण कर दूँगा, पर तुम्हे हाथ न लगाने दूँगा। चलो अन्दर चलो—एक भोंयरे मे तुम्हे छिपा दूँ। इस प्रकार बड़े प्रेम-भाव से तीसरे मित्र ने कर्मचारी को आश्वासन के साथ आश्रय दिया।

आओ, अब कर्मचारी के घर की खबर लें। हींग की गन्ध यदि छिपी रह सकती है, तो नौकर के पेट की बात छिपी रह सकती है। कर्मचारी ने जब नौकर को यह वृत्तान्त सुनाया, तभी से उसे अफरा चढ आया था। कर्मचारी ज्यों ही घर से रवाना हुआ कि तत्काल राजा का प्यारा बनने के उद्देश्य से वह वहाँ पहुँचा और अपना पेट फोड लिया—सारी घटना सुनाकर पेट हलका किया। राजा के क्रोध का पारावार न रहा! उसने अपने आदमियों को हुक्म दिया कि उस

हरामज़ादे कर्मचारी को पकड़ लाओ। राजा के आदमियों ने कर्मचारी के घर, नित्यमित्र के घर, और पर्वमित्र के घर तलाश की। नित्यमित्र ने कहा—मेरे यहाँ वह आया था, पर मैंने उसे रखा नहीं। राजा के अपराधी को मैं कैसे रख सकता था? विश्वास न हो तो मेरा घर ढूँढ लीजिए। उसने अत में यह भी कह दिया कि संभवतः वह पर्वमित्र के घर गया होगा, वहाँ तलाश कीजिए। राजा के आदमी पर्वमित्र के घर जा पहुँचे। उसने अपना घर दिखाया और कहा कि मुझे पता नहीं, वह कहाँ गया है? अन्त मे जुहारमित्र के घर खोज की गई। उसने भी अपने घर होने से इन्कार किया। राजा के आदमियों ने कहा—यदि तेरे यहाँ निकलेगा, तो तू भी अपराधी समझा जायगा और तुझे भी सज़ा मिलेगी। जुहारमित्र ने कहा—मेरे घर में यदि कर्मचारी निकले, तो मैं प्रसन्नता-पूर्वक सजा भोगने के लिए तैयार हूँ। उसने इस प्रकार हिम्मत के साथ उत्तर देकर राज-पुरुषों का सदेह निवारण किया, परन्तु राजा के आदमियो ने उससे यह बात लिखा ली कि मेरे घर पर कर्मचारी निकलेगा, तो राजा मेरा घर-द्वार लूटकर जो चाहें, सज़ा दें। बहुत कुछ ढूँढ़-खोज करने पर भी कर्मचारी का पता न चला। अन्त में राजा ने कर्मचारी की खबर देनेवाले को अमुक इनाम देने की घोषणा कर दी।

कर्मचारी जो परीक्षा करना चाहता था, वह हो चुकी। उधर उसे यह भी ध्यान आया कि भौंहरे में धुसेडे हुए लडके घबडा रहे होंगे। अतएव उसने इस नाटक पर पटाक्षेप करने का विचार किया। उसने

जुहारमित्र से कहा—तुम एकदम जल्दी भागकर राजा के पास जाओ और कहना कि कर्मचारी का पता मैं बतला सकता हूँ। आप उसे अपराधी समझते हैं, किन्तु वास्तव में वह अपराधी नहीं है। किसी ने झूठी बात आप से कह दी है। कुमार सही सलामत हैं। आज्ञा हो तो कुमार और कर्मचारी—दोनों को आप की सेवा में हाजिर करूँ।

जुहारमित्र ने ऐसा ही किया। राजा की आज्ञा मिलने पर कुमार और कर्मचारी को भौंयरे में से निकालकर राजा के सामने पेश किया। राजा का क्रोध शान्त हो गय; परन्तु ऐसा करने का क्या कारण था, यह बात राजा ने पूछी। कर्मचारी ने सारा मामला साफ कर सुनाया और तब से कर्मचारी ने नित्यमित्र और पर्वमित्र का साथ छोड कर केवल जुहारमित्र के साथ ही स्नेह-सबध कायम रखा।

इस उदाहरण का सार यह है—कर्मचारी, जीव है। नित्यमित्र शरीर है। शरीर के साथ नित्य का सबध है और रात-दिन उसीकी सार-सँभाल रखी जाती है। पर्वमित्र; अर्थात्—सगे-सबधी। इनकी वार-त्यौहार कभी कभी सँभाल की जाती है। जुहारमित्र, अर्थात्—धर्म या धर्मगुरु। इनका परिचय कभी-कभी होता है। जब कालरूपी राजा का कोप होता है, तो सब से पहले यह शरीर ही जीव का काम छोड़ता है। जगल में हो तो जगल में और रास्ते में हो तो रास्ते में सग त्याग देता है। इसे इतनी भी लाज नहीं कि गाँव में या घर में पहुँचा कर ही साथ छोड़े! पर्वमित्र के समान सगे-सबधी भी साथ छोड़ देते हैं पर वे थोड़ी-दूर श्मशान तक पहुँचाने आते हैं। दो आँसू बहाकर

खेद करते हुए वापस लौट जाते हैं, परन्तु तीसरे जुहारमित्र के समान धर्म साथ नहीं छोड़ता। वह साथ रहकर विपत्ति से रक्षा करता है। परभव में हर प्रकार का सुभीता कर देता है, अतएव प्रत्येक विवेकशील प्राणी को धर्म का ही आश्रय लेना चाहिए, जिससे अन्त समय शान्ति प्राप्त हो और आगामी जीवन में इष्ट वस्तु की प्राप्ति हो ॥ १७ ॥

(३) संसार-भावना

[जो जीव धर्म का आश्रय नहीं लेता, उसे ससार में परिभ्रमण करना पड़ता है, अतएव तीसरी भावना में ससार का स्वरूप दिखलाते हैं]

संसार-भावना

अहो संसारेऽस्मिन् विरतिरहितो जीवनिवह—
श्चिरं सेहे दुःखं बहुविधमसौ जन्ममरणैः ।
परावर्त्तानन्त्यं प्रतिगगनदेशं विहितवां—
स्तथाप्यन्तं नाप्नोद् भवजलनिधेः कर्मवशतः ॥१८॥

अर्थ—अहो ! पाप से निवृत्त न होने के कारण प्राणी-समूह इस ससार में बहुत समय से निरतर दु ख सह रहे हैं। चौदह राजू लोक के असख्यात प्रदेशों में के प्रत्येक प्रदेश में अनतानत बार जन्म-मरण करके अनन्त पुद्गल परावर्त्तनों को समाप्त कर दिया, फिर भी अब तक ससार-समुद्र का अन्त नहीं आया ! ॥ १८ ॥

विवेचन—'सम्' उपसर्ग और 'सृ' धातु से 'ससार' शब्द बना है। 'ससरणशील ससारः'—ससरना—सरकना—चलना—एक जगह से दूसरी जगह जाना ही जिसका स्वभाव है वह ससार है। जाना, आना, उपजना, मरना—यह कर्म सहित जीव का स्वभाव है, वास्तव में इस

स्वभाव को ही ससार कह सकते हैं। यह स्वभाव चार गति, चौवीस दंडक, अथवा चौरासी लाख जीव-योनियों में प्रादुर्भूत होता है, इसलिए चार गति, चौवीस दडक और चौरासी लाख योनि अथवा परिभ्रमण क्षेत्र-रूप चौदह राजू लोक, ससार कहलाता है। प्रत्येक जीव को अनादि काल से कर्मों का योग हो रहा है; अतएव परिभ्रमण भी अनादि काल से हो रहा है। लोक के नीचे हिस्से से लगाकर ऊपरी हिस्से तक, पूर्व से लेकर पश्चिमी किनारे तक तथा दक्षिण से लगाकर उत्तरी भाग तक एक राई के दाने बराबर भी ऐसा कोई स्थान नहीं बचा है, जहाँ इस जीव ने जन्म-मरण के दुःख का अनुभव न किया हो। प्रत्येक स्थान पर, आकाश के प्रत्येक प्रदेश पर, एक बार नहीं; किन्तु अनन्त-अनन्त बार यह जीव जन्मा और मरा है। कहा भी है—

तं किंचि नत्थि ठाणं, लोए वालग्ग कोडिमित्तं पि।
जत्थ न जीवा वहुसो, सुहदुक्खपरंपरं पत्ता ॥ १ ॥

अर्थ—एक बाल के अग्र भाग का टुकड़ा रखने योग्य भी कोई ऐसा स्थान नहीं बचा है, जहाँ जीव ने अनेकों बार सुख-दुःख की परंपरा का अनुभव न किया हो।

जैसे जन्म-मरण रहित कोई क्षेत्र खाली नहीं रहा है, वैसे ही कोई जाति, कुल, गोत्र, योनि या नाम भी ऐसा नहीं बचा, जिसमें जीव ने अनन्त बार जन्म-मरण न किया हो। शास्त्र में कहा है—

न सा जाई न सा जोणी, न त ठाणं न तं कुलं।
न जाया न मुआ जत्थ, सव्वे जीवा असो ॥१॥

लोक में अनतानत जीव हैं, और प्रत्येक जीव के साथ प्रत्येक जीव ने माँ-बाप, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री, स्त्री, सास-श्वसुर, काका-काकी, मामा-मामी, भुआ, भौजाई, आदि के रूप में अनन्त-अनन्त बार सबध किया है। एक ओर से नये-नये सबध जुडते गये। और दूसरी ओर से पुराने सम्बन्ध बिछुड़ते गये, इस प्रकार इस परिभ्रमण में जीव ने अनन्त कालचक्र, अनन्त उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी और अनन्त पुद्गल परावर्तन बिता दिये हैं। छोटे-से-छोटे २५६ आवलिका (१/१७ श्वासोच्छ्वास प्रमाण) के भव निगोद में किये और बडे-से-बडे तेतीस सागरोयम के भव सातवें नरक मे किये, जहाँ अधिक-से-अधिक दु.ख है, जब आयु अधिक मिली तो स्थिति में तरह-तरह की विडबनाएँ होने से दु:ख उठाना पड़ा और जहाँ अल्पकालीन आयु मिली, वहाँ जन्म-मरण के दुःख भुगतने पड़े। निगोद में दो घड़ी जितने समय में ६५५३६ बार जन्म और इतनी ही बार मृत्यु हुई। इस प्रकार जन्मते-मरते अनन्त काल तो केवल निगोद में ही व्यतीत हो गया। इतने समय तक निगोद का घर छोडकर कहीं भी बाहर नही जा सका। निगोदिया जीव का शरीर इतना बारीक होता है कि सुई के अग्रभाग बराबर जगह में उनके असख्यात शरीर समा सकते हैं। फिर उतना बारीक शरीर भी किसी एक जीव की मालिकी का नहीं है, उतने से शरीर में अनन्त हिस्सेदार होते हैं, अर्थात्—अनन्त जीवों को एक शरीर मिलता है। उसमें भी सिर्फ एक स्पर्शेन्द्रिय होती है। इस सकीर्णता में बेहद घबराहट और किलबिलाहट के साथ अनन्त काल तक कैद की

सज़ा भोगनी पड़ती है। इस सज़ा के समाप्त होने पर पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति में यह जीव प्रविष्ट हुआ। इस पञ्च स्थावर दशा में, प्रत्येक को योनि में असंख्यात-काल—असंख्यात उत्सर्पिणी और असंख्यात अवसर्पिणी तक दण्ड भुगतना पडता है। यहाँ एक शरीर-रूपी कोठरी मे अनन्त जीव नहीं ठूँसे जाते; किन्तु एक में एक ही रहता है। यहाँ पहले से इतनी सजा कम हो जाती है। परन्तु और प्रकार के दुःख वहाँ भी बहुत हैं। एक स्पर्शेन्द्रिय के अतिरिक्त यहाँ भी और कोई इन्द्रिय नहीं होती; अर्थात्—बोलने के लिए जीभ, सूँघने के लिए नाक, देखने के लिए आँख और सुनने के लिए कान नहीं होते। इस प्रकार गूँगा, अन्धा और बहिरा बन कर असंख्यात काल तक एक-एक स्थावर की कैद भुगती। इसके बाद एक जीभ इन्द्रिय की शक्ति बढा कर यह जीव इन्द्रिय के कैदखाने में आया। इस कैदखाने की सजा संख्यात काल—संख्यात हजार वर्ष की होती है। इस सजा को पूर्ण कर चुकने के बाद फिर एक घ्राण इन्द्रिय की वृद्धि हुई। बहरेपन और अन्धेपन के साथ यहाँ भी दो इन्द्रिय के बराबर सजा काटी। जब यह सजा पूरी हुई, तो एक नेत्र इन्द्रिय बढ़ी और चतुरिन्द्रिय की श्रेणी में आया। वहाँ भी दो इन्द्रिय जितनी सज़ा भोगी, तब असज्ञी पचेन्द्रिय के कारागार में घुसा। इन्द्रियाँ तो यहाँ पाँचों मिल गईं, पर मन के अभाव में पागल की-सी अवस्था रही। इस अवस्था में असज्ञी तिर्यंच और समूर्च्छिम मनुष्य की सजा भुगतनी पड़ी। इसके बाद सज्ञी-मन सहित की अवस्था में सिंह, बाघ आदि

तियञ्चों में आया ; परन्तु वहाँ पूर्व कर्मों की बहुलता और नवीन कर्मों के सञ्चय से अनेक नये-नये अपराधों की अधिक सज़ा काटने के लिए नरक में जा पड़ा। नरक के कैदखाने की क्या अवस्था है और वहाँ कितने दुःख हैं, इन बातों का वर्णन अगले काव्य में किया जायगा। जिन कैदखानों का ऊपर वर्णन किया गया है, उनकी सज़ा एक-एक बार नहीं, किन्तु अनन्त-अनन्त बार भोगी है। सज़ा भोगते-भोगते ऊपर आया और फिर अपराध किये, तो उनकी सजा भोगने के लिए फिर वहीं जाना पड़ा। इस प्रकार के परिक्रमण से अनत पुद्गलपरावर्त्तनों तक एक एक जीव ने जो दुःख उठाये हैं, उसका हिसाब लगाना तो दरकिनार, हिसाब की कल्पना करना भी कठिन है। इसी-लिए यह ससार, समुद्र या अटवी कहलाता है। समुद्र में पानी का ठिकाना नहीं, ससार मे दुःखो का ठिकाना नहीं। समुद्र में पानी स्थिर नहीं रहता—अनेक तरगों के कारण उछलता रहता है, उसी प्रकार ससार में भी स्थिरता नहीं है। जन्म-मरण की तरगों से जीव सदा उछ-लती स्थिति में रहता है। वर्षों व्यतीत हो जाने पर भी बिना किसी विशिष्ट साधन के समुद्र का अन्त नहीं आ सकता, उसी प्रकार सद्गुरु और सद्धर्म के साधन बिना अनन्त काल व्यतीत हो जाने पर भी अब तक ससार का अन्त नहीं आया। महा अटवी में जैसे जगलियों के अति-रिक्त और किसी को मार्ग का पता नहीं चलता, वैसे ही ससार में मोह की भूलभुलैया के इतने अधिक कुमार्ग हैं कि सद्गुरु के अतिरिक्त और को सच्ची राह का पता ही नहीं चलता। अथवा कांतार—अटवी जैसे

भयंकर है, वैसे ही दुःखों से परिपूर्ण यह संसार भी भयंकर है। अटवी में अनेक चोर और लुटेरे वसते हैं, संसार में काम, क्रोध, लोभ, मान, मद आदि अनेक लुटेरे रात-दिन आत्मिक संपत्ति को लूटने का काम करते रहते हैं ॥ १८ ॥

नरक आदि गतियों के दुःख

अयं जीवः सेहे नरककुहरे क्षेत्रजनिताम्,
व्यथां शैत्यादेर्यां परवशतया चैकसमये।
शतैर्जिह्वानां सा गणयितुमशक्येति जगदु—
र्व्यथा तादृक् तीव्रा कथमिव विसोढा चिरतरम्? ॥१९॥

अर्थ—जब यह जीव नरक गति में गया और वहाँ शीत-क्षेत्र वा उष्ण-क्षेत्र से उत्पन्न होनेवाली सर्दी और गर्मी की पीड़ा एक-एक समय में जितनी सहन करनी पडी, उसकी यदि कोई गिनती करने लगे तो एक जीभ की तो बात ही क्या, दैवयोग से किसी को एक-लाख जीभ मिल जायँ और उन तमाम जीभों से वह वर्णन करने लगे, तो भी उस पीडा का वर्णन नहीं हो सकता। एक समय की वेदना का यह हाल है, तो ऐसी वेदना पल्योपन और सागरोपन तक इस जीव ने कैसे सहन की होगी? इतना होने पर भी अब तक दुःखों का अन्त नहीं आ पाया ॥१९॥

विवेचन—नरक के भयकर कैदखाने में प्रवेश करने की पहली कोठरी को कुंभी कहते हैं। कुंभी भीतर से चौडी और मुँह मे सँकड़ी होती है। इस कुंभी में सडे हुए कलेवर की-सी दुर्गन्धवाले अशुचिमय

पदार्थ भरे होते हैं। अन्दर की ओर तीखी धार के वज्रमय काँटे होते हैं। एक अपराधी कैदी पहले-पहल उस कुभी में जन्मता है और थोड़ी ही देर मे वह लम्बा-चौड़ा होने लगता है और कुभी में सकीर्णता होने लगती है। चारों ओर से नुकीले काँटे चुभने लगते हैं। असह्य दुर्गंध, आने लगती है, कुभी से बाहर निकलने का प्रयत्न करता है, पर मुँह छोटा होने से जीव निकल नहीं सकता। ऐसी अवस्था मे वह कैदी चीखने-चिल्लाने लगता है। कैदियों को सजा देने और नियमित रखनेवाले 'जेलर' को परमाधामी कहते हैं। यह परमाधामी एक नीची श्रेणी के देवता होते हैं। नारकीयों को दड देने और डराने के लिए उनमे इच्छानुसार रूप बनाने की शक्ति होती है। नये कैदी की चिल्लाहट सुनकर परमाधामी देवता हाथ में तीक्ष्ण शस्त्र लेकर भयकर और क्रूररूप धारण करके उनके पास आते हैं। परमाधामियों के आगमन की आहट पाकर कैदी को कुछ तसल्ली-सी मिलती है कि ये लोग आकर मुझे बचाएँगे—कुभी से बाहर निकाल लेंगे, पर जब वे नज़दीक आते हैं, तो उनका भयकर रूप और तीक्ष्ण शस्त्र देखकर काँप उठते हैं। हाय! राक्षस इन धारदार शस्त्रों से मेरा क्या हाल करेंगे? इस प्रकार विचार कर वे घबराने लगते हैं, त्यों ही परमाधामियों में से कोई उसके मस्तक पर मुद्गर का प्रहार करता है, कोई भाले की नोंक चुभाता है, कोई तीखी छुरी से शरीर के टुकड़े करने लगता है, कोई तलवार से और कोई चाकू से उसके खड-खड करके सडासी से बाहर निकालते हैं। बेचारा कैदी चिल्लाता है—अब मुझे यहीं रहने दो, मुझे बाहर नहीं निकलना

है ; पर उसकी इंकारी की परवा कौन करता है ? परमाधामी उसे पूर्व जन्म के अपराध कह सुनाते हैं—'तू ने तो जानवरों और मनुष्यों के गले काटने में दया नहीं रखी थी। बकरे और मेढ़े बहुत मिमियाते थे ; परन्तु उन पर छुरी चलाते समय तूने जरा भी दया नहीं दिखलाई थी, अब तुझपर कौन दया दिखलायेगा ? तू अब अपने कर्म का फल भोग।' नरक के कैदी का शरीर स्वभावतः पारे के समान होता है। पारे के टुकड़े-टुकड़े कर देने पर भी वह आपस में फिर मिल जाते हैं, उसी प्रकार नारकीय जीव के झीने-झीने टुकड़े भी अन्तर्मुहूर्त्त में मिल जाते हैं और मूल—असली शरीर के समान ही शरीर पुनः बन जाता है। यह तो वहाँ के दुःखों का मंगलाचरण है। इस कैदखाने में ज़रा भी प्रकाश नहीं होता। रात-दिन का भेद नहीं होता। रात्रि सरीखा प्रगाढ़ अंधकार छाया रहता है। यहाँ की अवस्था का विशेष वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र के १९ वें अध्ययन मे मृगापुत्र नामक राजकुमार ने किया है। उसी के आधार पर थोडा-सा वर्णन यहाँ किया जाता है—

मृगापुत्र सुख और वैभव में पाला-पोसा गया राजकुमार है। एक बार उसने मध्याह्न समय गोचरी के निमित्त जाते हुए एक मुनिराज को अपने महल की खिडकी मे से देखा। विचार करते-करते उसे जातिस्मरण ज्ञान की प्राप्ति हो गई। सज्ञी पचेन्द्रिय अवस्था में पहले जो भव किये थे, वे ज्ञान मे प्रतिभासित होने लगे। उन भवों से संबंध रखने वाली समस्त घटनाओं का उसे स्मरण हो आया। राजकुमार को उसी समय वैराग्य हो गया और उसने दीक्षा लेने का विचार किया। उसने

माता से आज्ञा माँगी, तब माता मोह के कारण उसे सयम की कठिनाइयाँ समझाने लगी। माता को उत्तर देने के लिए मृगापुत्र ने स्वय अनुभव किये हुए नरक के दु खों का इस प्रकार वर्णन किया—

जहा इहो अगणी उएहो, इत्तोणंतगुणो तहिं।
नरएसु वेयणा उएहा, असाया वेइया मए॥

अर्थ—माताजी, तुम यहाँ के ताप का वर्णन करती हो, पर मैं इसे तो कुछ भी नहीं समझता हूँ। नारकीय भव में मैंने वहाँ के क्षेत्र की उष्णता का अनुभव किया है। वहाँ की उष्णता यहाँ की अग्नि की अपेक्षा लाखगुणी अधिक है। नरक के उष्ण प्रदेश में रहनेवाले एक नारकीय को कोई इस लोक में लाकर कुम्हार के अवाँ (आपाक) की अग्नि में सुला दे तो नारकीय को ऐसा प्रतीत होगा, मानो उसे फूलों की सेज पर सुला दिया हो। नरक में मैंने ऐसी उष्ण वेदना सहन की है।

जहा इहं इमं सीयं, इत्तोणंत गुणो तहिं।
णरएसु वेयणा सीया, असाया वेइया मया॥

अर्थ—हे माता, नरक में जहाँ उष्ण प्रदेश है, वहाँ असीम गर्मी होती है और जहाँ शीत है, वहाँ बेहद शीत होता है। वह शीत कुछ ऐसा वैसा नहीं, किन्तु यहाँ अधिक-से-अधिक हिम पडे और अधिक-से-अधिक सर्दी पडे, उससे भी अनन्त गुणी अधिक सर्दी नरक के शीत-प्रदेश में हुआ करती है। वहाँ भी मैंने बहुतेरे जन्म बिताये हैं और सर्दी की असह्य वेदना भोगी है। इस समय मुझे वह सब बातें अच्छी तरह स्मरण आ रही हैं।

कंदंतो कंदु कुंभीसु, उड्ढं पाओ अहोसिरो।
हुयासणे जलंतंमि, पक्क पुव्वो अणंतसो॥

अर्थ—हे माता! नरक में परमाधामी देवता एक कुण्ड में अग्नि सुलगाकर मुझे बिलकुल उलटा करके—सिर नीचा और पैर ऊँचे करके, उस अग्नि मे मुझे सेंकते थे। पूर्व जन्मों में मैं इस तरह अनन्त वार सेंका और भूँजा गया हूँ।

महादवग्गि संकासे, मरुम्मि वइर वालुए।
कलंब वालुयाएव, दड्ढपुव्वो अणंतसो॥
रसंतो कंदु कंभीसु उड्ढं बद्धो अबंधवो।
करवत्त करकयाईहिं, छिन्नपुव्वो अणंतसो॥

अर्थ—माँ! दूर से विकट दावानल जैसी दिखलाई देनेवाली वज्र-वालुका और कदंब-वालुका नदी की उष्ण रेती में दबाकर मुझे सेंका है और उलटे माथे लटका कर करौत वगैरह से मुझे चीरा गया। यह दु:ख भी नरक में मैंने अनन्त वार सहन किये हैं।

अइतिक्ख कंटकाइन्ने, तुंगे सिंवलि-पायवे।
खेवियं पासबद्धेणं, कड्ढो कड्ढाहिं दुक्करं॥
महाजंतेसु उच्छुवा आरसंतो सुभेरवं।
पीलिओमि सकम्मेहिं, पावकम्मा अणंतसो॥

अर्थात्—हे माता! परमाधामियों ने अत्यन्त तीक्ष्ण नोंकवाले काँटों मे भरे हुए और तलवार की धार के समान तीक्ष्ण पत्तोंवाले शाल्मलि नामक वृक्ष की शाखाओं से खूब कसकर बाँधा और घुमाया। फिर

उन पत्तों और काँटों ने मेरे शरीर को बेध डाला। इसके बाद भयकर शब्द करनेवाले एक कड़े ने रन में मुझे गन्ने की भाँति पेरा। हे माता! नरक में इतनी भूख प्यास लगती है कि संसार के तमाम खाद्य पदार्थ एक ही साथ नारकीय को खिला दिये जायँ या संसार का समस्त जल एक बारगी ही पिला दिया जाय, तो भी उसकी भूख और प्यास न मिटे। ऐसी भूख और प्यास मैंने सागरोपम और पल्योपम तक भोगी है। जब मैं परमाधामियों से खाना माँगता था, तब वे मेरे ही शरीर के अवयवों को काटकर उन्हें पकाकर मुझे खिलाते थे। पानी माँगने पर कड़कड़ उबलती हुई धातु मुझे पिलाते थे। उसे पीने से मना करने पर वे छाती पर चढ़ बैठते थे और जबर्दस्ती पिलाते थे। उस समय की पीड़ा का क्या ठिकाना है? उस पीड़ा से शरीर ५०० योजन ऊपर तक उछलता था! माताजी परमाधामी लोग नाना प्रकार के रूप धारण करके मुझे कष्ट पहुँचाते थे। कोई व्याघ्र बनकर, कोई साँप बनकर, कोई बिच्छू बनकर, कोई कुत्ता बनकर, कोई वज्र के सामान कठोर चोंचवाला गिद्ध पक्षी बनकर मेरे शरीर में वेदना पहुँचाते थे। नरकगति में, एक समय मात्र में भोगी जानेवाली पीड़ा का भी पूरा-पूरा वर्णन नहीं हो सकता, तो समस्त भव की तो बात ही क्या है? ऐसे-ऐसे अनन्त नारकीय भव मैंने बिताये हैं। इसके मुकाबिले संयम का कष्ट है किस गिनती में? अतएव मुझे दीक्षा लेने की आज्ञा दीजिए। निदान राजकुमार ने माता-पिता को समझाकर दीक्षा ग्रहण की और आध्यात्मिक उद्देश्य सिद्ध किया।

राजकुमार ने जिस वेदना का ऊपर वर्णन किया है उसके आधार से अपराधों का भी खयाल हो आता है। जो लोग मनुष्य या तिर्यञ्च के भव में क्रूरता पूर्वक अनेक पचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करते हैं, साँप, बिच्छू, कुत्ता, बकरा, मेढा, भैसा, हिरन, रोझ, खरगोश आदि निरपराध जीवों की हत्या करते हैं, महायुद्ध रचते हैं, वृथा धाँधली मचाते हैं, परस्त्री गमन करते हैं, चोरी-डकैती करते हैं, महा आरभ और महा परिग्रह के कार्य करते हैं, सन्मार्ग में काँटे बिखेरते हैं, तथा इसी प्रकार के और बडे-बडे अपराध करते हैं, उन्हे नरक के भीषण कारावास का सख्त दण्ड भुगतना पडता है। प्रत्येक प्राणी ने ससार के परिभ्रमण में ऐसे अपराध बहुत बार किये हैं। और उसका दण्ड भी बहुत बार भुगता है। फिर भी बहुत से प्राणी इन्हीं पाप-कर्मों को करने के लिए उद्यत दिखलाई पड़ते हैं। उन्हे नरक की यातनाओं का वर्णन ध्यान में रखना चाहिए ॥ १९ ॥

जन्म की विचित्रता

कदाचिज्जीवोऽभून्नरपतिरथैवं सुरपति-
स्तथा चाण्डालोऽभून्नटशबरकै वर्ततनुजः ॥
कदाचिच्छ्रेष्ठोऽभूत्क्रिटिशुनकयोनौ समभव-
न्न संसारे प्राप क्वचिदुपरतिं शान्तिमथवा ॥२०॥

अर्थ—यह जीव किसी समय पुण्य के बल से राजकुल में उत्पन्न

होकर राजा हो गया, या देवताओं का स्वामी इन्द्र हो गया, किन्तु जब पुण्य क्षीण हुआ और पाप कर्मों का उदय आया, तो नट, कोल, धीवर या चाण्डाल के कुल में उत्पन्न होकर नीच चाण्डाल कहलाया। एक समय बड़ा साहूकार हो गया, तो दूसरी बार दरिद्र भिखारी हुआ। एक बार मनुष्य योनि में उत्पन्न हुआ और दूसरी बार कुत्ता आदि तिर्यञ्च की योनि में उत्पन्न हुआ। यह जीव इस प्रकार की विचित्रताओं के साथ अनन्त काल से ससार मे भ्रमण कर रहा है, परतु अभी तक अखड शान्तिमय भव-भ्रमण से निवृत्ति प्राप्त नहीं हो सकी। ॥ २० ॥

विवेचन—ससार-भ्रमण करते-करते पूर्व अपराधों का फल भोगने के लिए नीच अवतार लेने पर जब अशुभ कर्मो की कमी होती है और शुभ कर्म प्रबल हो जाते हैं, तब मनुष्य या देवता की गति मिलती है। यदि शुभ कर्म और भी अधिक बलवान् हुआ, तो राजा या इन्द्र का पद प्राप्त होता है। पर, इससे उन्हें अभिमान में फूल न जाना चाहिए, क्योंकि वह अवतार या पदवी सदा रहनेवाली नहीं है। इसके अतिरिक्त इस पदको पाने के पहले उसी जीव ने चौरासी लाख योनियों में निकृष्ट से-निकृष्ट भव पाया है। राज्य-पद या इन्द्र-पद का अभिमान करनेवाला जीव एक समय कांदा, लहसुन या आलू के छोटे-से अश के एक शरीर में एक साझेदार के रूप में उत्पन्न हुआ था। उस समय उसका मूल्य एक पाई तो क्या, पाई के अनतवें भाग जितना भी नहीं था, क्योंकि अनन्त जीवों का एक ही शरीर होता है और असख्यात शरीर मिलकर एक गोला होता है और ऐसे-ऐसे असख्यात गोले मिलकर लहसुन की एक कली बनती

है। एक कली की कीमत एक पाई मान ली जाय, तो एक शरीर के हिस्से में पाई का असंख्यातवाँ भाग पड़ता है और एक जीव के हिस्से में पाई के असंख्यातवें भाग का अनन्तवाँ भाग आता है। इस समय का राजा या इन्द्र इस तुच्छ कीमत में एक बार नहीं अनन्त बार बेचा गया है। आज यदि वही जीव राजा या इन्द्र बन गया तो क्या उस पर की भूत काल की छाप मिट गई ? किसी प्रकार भूत-काल की बात छोड़ दीजिए, तो भी भूत-काल तो अपनी ही ओर प्रयाण करता आ रहा है, उसे कैसे भुलाया जा सकता है ? आज का राजा या इन्द्र क्या सदा राजा और इन्द्र ही रहेगा, कदापि नहीं। जैसे नाटक का पात्र कभी राजा बन जाता है और थोडी ही देर में रंक बनकर आता है, एक बार साहूकार और क्षण-भर बाद चोर बन जाता है, एक बार स्त्री और दूसरी बार पुरुष बनता है, ठीक इसी प्रकार आज का राजा-महाराजा या इन्द्र भविष्य में चाण्डाल, भील, साँप, सिंह, गधा, कुत्ता बन जायगा, यह जरा भी असंभव नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र के तीसरे अध्ययन में महावीर प्रभु कहते हैं—

> एगया देवलोगेसु नरएसु वि एगया।
> एगया आसुरं कायं अहाकम्मेहिं गच्छइ॥
> एगया खत्तियो होइ, तओ चंडाल वुक्कसो।
> तओ कीडपयंगो य, तओ कुंथु पिपीलिया॥

अर्थात्—यह जीव कभी देवलोक में देवता होता है और कभी नरक में चला जाता है। कभी-कभी असुर काय में उपजता है। जैसे

कर्म करता है, वैसी ही गति पाता है। एक जन्म में क्षत्रिय बना हुआ यह जीव दूसरे जन्म में चाडाल, वर्णसंकर या इससे भी नीची जाति मे जन्मता है। इतना ही नहीं, किंतु कीट, पतंग, कुथवा और चींटी आदि के रूप में भी इसे उत्पन्न होना पड़ता है।

वर्त्तमान काल में प्राप्त उच्च स्थिति का अभिमान करना सरासर मूर्खता है। 'माने दैन्यभय' अभिमान के आगे दीनता का भय बना रहता है। रावण जैसे प्रचंड राजा का गर्व भी खर्व हो गया, तो औरों की तो गिनती ही क्या है? प्रत्येक पदार्थ परिवर्त्तनशील है। एक ही जीवन में मनुष्य की कितनी अवस्थाएँ बदलती हैं? बाल्यावस्था, किशोरावस्था, तरुणावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था। इन सब अवस्थाओं में अलग-अलग ही रंग खिलते हैं। किसी में सुख, किसी मे दुःख, किसी में सम्पत्ति, किसी में विपत्ति, किसी मे चिन्ता और किसी में घबराहट, किसी में सन्मान और किसी में अपमान! एक अवस्था में जो हजारों पर हुक्म चलाता है, वही दूसरी अवस्था में हजारो का हुक्म बजाता है। जब एक ही जीवन में इतना फेरफार प्रत्यक्ष नजर आता है, तो भिन्न जीवन में यदि अधिक परिवर्तन हो तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है? जैसे दिन के पश्चात् रात्रि और रात्रि के पश्चात् दिन आता रहता है, उसी प्रकार उत्थान के अनन्तर पतन और पतन के अनन्तर उत्थान का चक्र चलता रहता है। एक दिन में सूर्य की भी तीन अवस्थाएँ बदलती हैं। प्रातःकाल की अलग, मध्याह्न की अलग और साँझ के समय की अस्तमय अवस्था

अलग ही होती है । चन्द्रमा की अवस्थाओं में भी परिवर्तन होता रहता है । वह रात्रि में चमकीला और दिन में फीका पड़ जाता है । हिंडोले में चार पलकियाँ होती हैं । उनमें बैठनेवाले लोग ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर जाते हैं । नीचे से ऊपर गया हुआ मनुष्य, नीचेवाले को देखकर मन में फूला नहीं समाता, कि वाह ! मैं सबसे ऊँचे आ गया हूँ और सभी मुझसे नीचे हैं ; मगर उसकी यह अहंकार से भरी हुई मान्यता कितनी देर तक उसे आश्वासन दे सकती है ? वह अपनी उच्च स्थिति प्रकट करने के लिए मुँह से ज्योंही आवाज निकालने को होता है, त्योंही उसकी बैठक फिर नीचे आ रहती है । ऐसी स्थिति में अभिमान या गरूर रखना किस काम का ? इस प्रकार जो हालत हिंडोले की है, वही इस संसार की है । हिंडोले में चार पलकियाँ होती हैं, संसार में भी चार गतियाँ हैं—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवता । हिंडोले को गतिमान् कर देने के बाद उसमें ऊपर-नीचे बहुत समय तक गमनागमन होता रहता है, इसी प्रकार जीव को कर्म का धक्का लगने से चार गतियों में गमनागमन होता रहता है । हिंडोले की पलकिया को ऊपर ठेलने में शक्ति लगानी पड़ती है, नीचे अपने आप ही आ जाती है, इसी प्रकार उच्च गति में जाने के लिए जीव को धर्म, पुण्य, पुरुषार्थ करके सामर्थ्य का संचय करना पड़ता है , परन्तु नीची गति में जाने के लिए अधिक सामर्थ्य की आवश्यकता नहीं होती । नीचे जाने का तो इस जीव को चिरकाल से अभ्यास हो रहा है । ॥२०॥

सम्बन्ध की विचित्रता

पिता यस्याऽभूस्त्वं तव स जनकोऽभीदणमभवत्,
प्रिया या सा माता सपदि वनिता सैव दुहिता।
कृता चैवं भ्रान्त्वा जगतिवहुसम्बन्धरचना,
भवेप्येकत्रासन् द्विगुणनवबन्धाः किमपरे ॥२१॥

अर्थ—तू इस भव में जिसका बाप कहलाता है, वह इस समय का तेरा पुत्र पूर्व भव मे अनेकों बार तेरा बाप हुआ था। इस समय जो तेरी स्त्री है, वही किसी समय तेरी माता थी। इस समय की तेरी पुत्री पूर्वभव में कभी तेरी स्त्री थी। इस प्रकार भवभ्रमण करते-करते जितने सम्बन्ध हुए हैं, उन्हें यदि स्मरण किया जाय, तो आश्चर्य का पार नहीं रहता। ऐसे विचित्र-विचित्र सम्बन्ध इस जीव ने अन्य जीवों के साथ किये हैं। अजी, दूसरे भवों की बात जाने दीजिए, एक ही भव मे जीव ने अठारह सम्बन्ध तक जोडे हैं। कुवेरदत्त और कुवेरदत्ता की कथा जैन-शास्त्रों में प्रसिद्ध ही है। ॥२१॥

विवेचन—अनन्तकाल के इस लम्बे परिभ्रमण में जीव ने इतने नये-नये सम्बन्ध जोडे हैं, कि उनकी गणना करना भी असम्भव है। भगवती सूत्र के बारहवें शतक के सातवें उद्देशक में गौतम स्वामी ने भूतकालीन सम्बन्धों के विषय में इस प्रकार प्रश्न किया है—

अयणं भंते ! जीवे सव्वजीवाणं माइत्ताए पितित्ताए, भाइत्ताए, भगिणित्ताए, भज्जत्ताए, पुत्तत्ताए, धूयत्ताए, सुण्हत्ताए, उववरणपुव्वे ?

हंता गोयमा ! जाव अणंतखुत्तो।

अयणं भंते ! जीवे सव्वजीवाणं अरियाए वेरियत्ताए, घायगत्ताए, पडिणीयत्ताए, पच्चामितत्ताए, उववरणपुव्वे ?

हंता गोयमा ! जाव अणंत खुत्तो। (इत्यादि)

अर्थ—भगवन् ! क्या यह जीव, जगत् के समस्त जीवों की माता के रूप में तथा पिता, भाई, बहन, स्त्री, पुत्र, पुत्री और पुत्रवधू के रूप में उत्पन्न हुआ है ?

भगवान् कहते हैं—गौतम ! एक बार नहीं, अनन्त बार इन सम्बन्धियों के रूप में यह जीव उत्पन्न हुआ है।

गौतम स्वामी पुनः प्रश्न करते हैं—भगवन् ! यह जीव समस्त जीवों के साथ वैर बाँधकर दुश्मनी करके या सब जीवों की घात करने वाला, वध करनेवाला, प्रत्यनीक (कार्यघातक) और प्रतिमित्र (शत्रु का सहायक) भी हुआ है ?

भगवान् कहते हैं—गौतम, यह जीव सब जीवों का अनन्त बार शत्रु, कार्यघातक, प्रतिकूलवर्त्ती भी हो चुका है अथवा किसी भव में मित्र तथा किसी भव में शत्रु बनकर प्रत्येक जीव के साथ प्रत्येक जीव ने अनन्त-अनन्त बार सम्बन्ध जोड़ा है।

भिन्न-भिन्न भावों में सम्बन्ध की विचित्र घटना होती है, पर एक ही भव के सम्बन्ध की विचित्र घटना के लिए कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता का दृष्टान्त प्रसिद्ध है।

दृष्टान्त—मथुरा नगरी में कुबेरसेना नामक एक वेश्या रहती

थी। वह प्रारम्भ से ही वेश्या-वृत्ति करती थी। नये-नये श्रीमान् युवकों को प्यार के जाल में फँसाने और उनका धन हरण करने में वह बड़ी निपुण थी। एक बार कुबेरसेना को गर्भ रह गया। गर्भपात करने के लिए उसने बहुतेरा प्रयत्न किया, पर वह सफल न हुई। गर्भ दिनों-दिन बढ़ता गया। अन्त में समय पूर्ण होने पर उसने एक युगल—पुत्र और पुत्री—को जन्म दिया। कुबेरसेना की माता कुट्टिनी थी। उसने कुबेरसेना को सलाह दी कि दोनों नवजात शिशुओं को मार डालना चाहिए; पर कुबेरसेना के हृदय में सतति-वात्सल्य का कुछ भाव उत्पन्न हो गया था, अतएव उसने अपनी माता की सलाह स्वीकार न की। उसने कोई दूसरा ही मार्ग अख्तियार करने का इरादा किया। दस-बारह दिनों के बाद कुबेरसेना स्वस्थ हुई। उसने एक पेटी तैयार कराई और उसमें रूई भरवा दी। दोनों बालकों को किसी प्रकार की चोट न पहुँच पाये, इस बात का ध्यान रखकर बालकों को उसके भीतर सुला दिया। उनके साथ ही उसने दो नामांकित अँगूठियाँ भी रख दीं, जिनमें से एक पर कुबेरदत्त और दूसरी पर कुबेरदत्ता खुदा हुआ था। पेटी में पानी न जा सके, किन्तु थोड़ी-थोड़ी हवा पहुँचती रहे, ऐसी व्यवस्था कर दी गई थी। अन्त में पेटी तैयार कर रात्रि के समय यमुना नदी में डाल दी गई। प्रातःकाल वह पेटी शौरीपुर नगर के आस-पास आ पहुँची। शौरीपुर के दो गृहस्थ निबटने के लिए नदी किनारे आये हुए थे। उन्होंने दूर से बहती हुई पेटी देखी। द्रव्य के लोभ से वे नदी में कूद पड़े और पेटी बाहर निकाली। पेटी में जो

कुछ निकले, उसे आधा आधा बाँटने का इकरार हो चुका था। एकांत में जाकर पेटी खोली तो उसमें से दो जीवित बालक निकल पड़े। दैवयोग से उनमें से एक के पुत्र न था और दूसरे के पुत्री न थी; अतएव दोनों ने प्रसन्नता के साथ एक-एक बालक ले लिया। जिसके पुत्र न था, उसने पुत्र ले लिया और जिसके पुत्री की कमी थी, उसने पुत्री ले ली। नामांकित मुद्रिका भी दोनों ने ले ली। मुद्रिका के अनुसार ही उनके कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता नाम रखे गये। अलग-अलग घर दोनों का पालन पोषण होने लगा। जब कुछ बड़े हुए, तो कलाचार्य के पास भेजकर उन्हे विद्याभ्यास कराया गया। योग्य अवस्था होने पर दोनों के पालकों ने सगाई के लिए उचित सम्बन्ध की खोज शुरू की; पर संयोगवश कहीं ठीक-ठिकाना न मिलने के कारण कुबेरदत्त का कुबेरदत्ता के साथ ही विवाह-सम्बन्ध हो गया। एक बार विवाह होने के बाद दोनों चौपड़ खेल रहे थे कि एक दूसरे की अँगूठी पर उनकी नजर पड़ी। उन्हें जान पड़ा, दोनों अंगूठियाँ जैसे एक ही कारीगर ने बनाई हैं। यही नहीं, उनका घाट, वजन और वस्तु भी एकदम समान मालूम हुई। खुदे हुए नामों के अक्षर भी एक से प्रतीत हुए। उन्हें इसका कारण जानने की उत्सुकता हुई। वे उसी समय अपने माँ-बाप के पास गये और आग्रह-पूर्वक सच्ची-सच्ची घटना पूछी। माँ-बाप ने कहा—तुम दोनों हमें नदी में मिले हो। हमने तुम्हें, पुत्र की भाँति पाला है और दोनों को एक दूसरे के योग्य समझकर तुम्हारा विवाह कर दिया है। यह वृत्तान्त सुन

कर उन्होंने निश्चय किया कि हम दोनों एक ही पेटी में से निकले हैं; अतएव अवश्य भाई-बहन हैं। अपने संरक्षकों ने यह अत्यन्त अनुचित कर डाला है। हाय-हाय ! यह अनुचित कृत्य करके हम लोग महा-पाप में पड़ गये हैं। अब इसी समय से हमें अलग-अलग हो जाना चाहिए। इस घटना से कुवेरदत्ता को अत्यन्त खेद हुआ और वह संसार से विरक्त हो गई। वृत्तियों में उदासीनता आ गई, वैराग्य का रंग चढ़ गया। कुवेरदत्ता ने इस असार-संसार को त्याग-कर साध्वी के समीप दीक्षा धारण कर ली। कुवेरदत्त का मन भी खिन्न हो गया। वह अपने पालक पिता की आज्ञा लेकर व्यापार के निमित्त परदेश चला गया, दैवयोग से वह मथुरा नगरी में ही आ पहुँचा। वहाँ अच्छा व्यापार चलने के कारण वह मथुरा में ही रहने लगा। कुछ समय बाद वह बढ़िया वस्त्राभूषण पहन कर घूमने निकला। घूमते-घूमते वह वेश्याओं के मुहल्ले में जा पहुँचा। कुवेरसेना गणिका की उस पर नज़र पड़ी। एक धनवान् युवक समझ कर कुवेरसेना ने उसे फँसाने का प्रयत्न किया। कुवेरसेना के विषाक्त कटाक्ष-बाण से कुवेरदत्त घायल हो गया। कुवेरदत्त को क्या पता कि यह मेरी जननी है और कुवेरसेना भी क्या जाने कि यह मेरा पुत्र है? अनजान में कुवेरदत्त एक पाप से मुक्त होकर इस दूसरे महापाप में फँस गया। सच है, अन्धा बना हुआ मनुष्य क्या-क्या अनर्थ नहीं कर बैठता? एक को पैसे का लोभ और दूसरे की विषय-लम्पटता— दोनों दुर्गुणों का समागम ही सफल हुआ, मानो इसीलिए कुवेरदत्त

के समागम से फिर कुबेरसेना के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। बालक के सौभाग्य से कुबेरसेना के इतनी-संपत्ति हो गई कि उसने इस पुत्र को मारा नहीं और न नदी में ही बहाया। उसने उसका पालन-पोषण भली-भाँति किया।

साध्वी कुबेरदत्ता ने दीक्षा लेकर शास्त्राभ्यास तथा तप करना आरम्भ किया। चढ़ते भाव और चढती लेश्या के कारण कुछ कर्मों का आवरण हटा और उसे अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया। अवधि-ज्ञान से उसे कुबेरसेना और कुबेरदत्त का अनुचित कृत्य मालूम हो गया। अपनी माता और भाई का यह अघटित कार्य देखकर साध्वी को अत्यन्त खेद हुआ। उन्हे पाप से बचाने के लिए कुछ प्रयत्न करने की इच्छा हुई। अपनी गुरुआनी की आज्ञा लेकर साध्वी ने मथुरा की ओर विहार किया। दोनों को प्रतिबोध करने के लिए साध्वी ने कुबेरसेना के घर एक भाग में ठहरने का निश्चय किया। वहाँ ठहरने के लिए कुबेरसेना की आज्ञा माँगी, तो वह कहने लगी— यह वेश्या का घर है, यहाँ तुम्हारा क्या काम? साध्वी ने कहा— मुझे और कुछ मतलब नहीं है, किसी कारण-विशेष से कुछ दिन यहीं रहने की इच्छा है। तुम्हे किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाऊँगी। घर के एक एकान्त भाग में पड़ी रहूँगी। कुबेरसेना ने साध्वी को ठहरने की अनुमति दे दी और वह वहाँ ठहर गई। साध्वी यह विचार करने लगी कि कुबेरसेना या कुबेरदत्त घड़ी-भर बैठ कर उपदेश सुनते या बात-चीत करते, तो उन्हें समझाने का अवसर मिलता; पर वे यहाँ

न बिलकुल आते हैं और न बैठते ही हैं, अतएव उन्हें समझाने का और कोई उपाय खोजना चाहिए। साध्वी यह विचार कर ही रही थी कि उसी समय कुबेरसेना उनके कमरे में आई और अपने छोटे लड़के को वहाँ सुलाकर चली गई। जाते समय वह लड़के की देख-भाल करते रहने के लिए भी कहती गई। वह घर के भीतर चली गई। कुबेरदत्त भी उस समय भीतर ही था। थोड़ी देर बाद लडका रोने लगा, तो साध्वी ने अपनी माँ और भाई को समझाने के उद्देश्य से, लडके को चुप करने के लिए इस प्रकार कहना आरंभ किया—'बच्चे, तू शान्त हो। रो मत, बेटा, रो मत। तेरे और मेरे बहुत से संबंध हैं। सुन, सुन। (१) एक प्रकार से तू मेरा भाई होता है, क्योंकि तेरी और मेरी माता एक ही है। (२) तू मेरा पुत्र भी हो सकता है, क्योंकि मेरा पति कुबेरदत्त है और तू उसका पुत्र है। (३) हे बालक! तू मेरा देवर भी लगता है, क्योंकि तू मेरे पति कुबेरदत्त का छोटा भाई है। (४) मेरे भाई कुबेरदत्त का पुत्र होने से तू मेरा भतीजा भी है। (५) कुबेरदत्त मेरी माता का पति और तू उसका छोटा भाई है, इसलिए तू मेरा काका भी है। (६) कुबेरसेना का पुत्र कुबेरदत्त और तू उसका पुत्र, अतएव तू कुबेरसेना का पोता हुआ और कुबेरसेना मेरी सौत है, अतः तू मेरा भी सौतेला पोता है। हे बालक! यह छः रिश्ते तो खास तेरे साथ मेरे हैं और मैं तेरे पास ही बैठी हूँ, फिर तू क्यों रोता है?' बालक का रोना बन्द न हुआ तो साध्वी आगे कहने लगी। इतने में ही कुबेरसेना और

कुबेरदत्त दोनों वहाँ आ पहुँचे और कहने लगे—'क्यों, तुझे रहने की जगह दी, इसीलिए क्या तू अटसट बोलती है?' साध्वी ने कहा—'नहीं, मैं अटसट नहीं बोल रही हूँ, मैं जो कहती हूँ ठीक कहती हूँ। सुनो, तुम्हारे साथ मेरे छ:-छः नाते हैं। कुबेरदत्त के साथ मेरे जो छ: संबंध हैं, उन्हें पहले बताती हूँ। हे कुबेरदत्त! (१) तुम्हारी और मेरी माता एक ही है, इसलिए तुम मेरे भाई होते हो। (२) मेरी माता के तुम पति हो, अतः तुम मेरे पिता भी लगते हो। (३) यह लड़का मेरा काका है और तुम उसके पिता हो; अतएव तुम मेरे दादा भी हो सकते हो। (४) एक बार तुम्हारे साथ मेरा विवाह हुआ था, अत: तुम मेरे पति होते हो। (५) कुबेरसेना मेरी सौत है और तुम उसके पुत्र हो, इसलिए मेरे भी पुत्र हुए। (६) यह लड़का मेरा देवर है और इसके तुम पिता हो; अतः तुम मेरे श्वसुर भी हो सकते हो।

कुबेरसेना! तुम्हारे साथ भी मेरे छः नाते हैं—(१) प्रथम तो तुम मुझे जननेवाली माता हो। (२) दूसरे कुबेरदत्त मेरा पिता होता है और तुम उसकी माता हो, अतः तुम मेरी दादी हुई। (३) तीसरे कुबेरदत्त मेरा भाई है और तुम उसकी स्त्री हो, अतः मेरी भौजाई कहलाई। (४) चौथे मेरी सौत के पुत्र कुबेरदत्त की स्त्री हो; इसलिए मेरी पुत्र-वधू भी हो। (५) पाँचवें मेरे पति कुबेरदत्त की तुम माता हो; अतः मेरी सास लगती हो। (६) छठे—तुम मेरे पति की दूसरी स्त्री हो इस कारण मेरी सौत भी हो।

इन असंबद्ध बातों को सुनकर कुबेरसेना क्रोध से तमतमा उठी। वह साध्वी को कुछ भला-बुरा कहना चाहती थी कि साध्वी ने कहा—माता, तुम क्रोध क्यों कर रही हो? एक पेटी में दो बालकों को बन्द करके जमुना में बहा दिया था, क्या यह बात तुम भूल गई हो? कुबेरदत्त! एक अंगूठी को देखकर शंका होने पर खोज की थी और पता चला था कि हम दोनों भाई-बहन हैं और भाई-बहन की आपस में शादी हो गई है, क्या तुम भी इस बात को भूल गये हो? याद करो, याद करो! जिस पाप के कारण तुमने देश छोड़ा था, वैसे ही पातक में तुम फिर पड़ गये हो। कुबेरसेना, तुम जिसके साथ मोह में पड़ी हो, वह पुरुष और कोई नहीं है—तुम्हारा ही पुत्र है। तुमने जिन दो बालकों को जमुना में बहा दिया था, वही दोनों आज भिन्न-भिन्न अवस्था में आकर तुम्हारे सामने खड़े हैं। आज तुम जिस पातक में पड़ी हुई हो, वैसे ही पातक में एक बार तुम्हारी पुत्री कुबेरदत्ता भी पड़ गई थी, परन्तु वह सौभाग्य से चेत गई, उसने विरक्त होकर दीक्षा ले ली, पाप से मुक्त हो गई और आज यहाँ उपस्थित है। तुम्हारा यह अनुचित कृत्य, ज्ञान से जान कर मेरा खून जलने लगा और तुम्हें समझाने के लिए मैं यहाँ आई हूँ।

साध्वी की बात सुनकर कुबेरसेना को अपने सब पुराने पाप याद हो आये। वह पश्चात्ताप की मारी रो पड़ी। साथ ही कुबेरदत्त भी पाप के कारण रो पड़ा। साध्वी ने उन्हें समझाया—रोने से सुधार न होगा। पाप को धोने के लिए अब धर्म का आचरण करो। साध्वी के इस

प्रतिबोध से कुबेरदत्त ने संसार छोड़कर दीक्षा धारण कर ली। कुबेरसेना छोटे लड़के के बंधन के कारण दीक्षा न ले सकी; पर उसने श्राविका धर्म को अंगीकार किया। साध्वी अपनी गुरुनी के समीप चली गई। अन्त में तीनों को सद्‌गति प्राप्त हुई।

इस कथा से यह प्रतीत होता है कि संसार के संबन्ध कैसी विचित्रता से परिपूर्ण होते हैं। जब एक ही भव में अठारह-अठारह नाते हो सकते हैं, तो अनन्त भवों में अनन्तानन्त नाते हों, इसमें आश्चर्य ही क्या है? अब ऐसा संबन्ध खोजना चाहिए, जिसका कभी अन्त न हो सके और फिर नये-नये संबंध न जोडने पडें ॥ २१ ॥

अपार संसार

अरण्यान्या अन्तं द्विरदतुरगैर्यान्ति मनुजाः,
लभन्ते नौकाद्यैः कतिपयदिनैः पारमुदधेः।
भुवोऽप्यन्तं यान्ति विविधरथयानादिनिवहैः,
न संसारस्यान्तं विपुलतरयत्नेऽपि विहिते ॥ २२ ॥

अर्थ—बड़ी-से-बडी अटवी या सहारा जैसे बडे-से-बडे रेगिस्तान को मनुष्य घोडा, ऊँट आदि वाहनों से पार कर सकता है। पैसिफिक महासागर या स्वयभूरमण समुद्र-जैसे विशाल समुद्रों को भी नौका जहाज आदि साधनों से पार कर सकते हैं। यद्यपि पृथ्वी का अन्त मनुष्य नहीं पा सकता; किन्तु दिव्य गति से चलनेवाले देवता कदाचित् पा सकें; परन्तु यह संसार-रूपी समुद्र इतना विस्तृत है कि अनन्त

काल से उसके पार करने का प्रयत्न करने पर भी अब तक उसका अन्त नहीं आ सका ॥ २२ ॥

विवेचन—चलनेवाला या मुसाफिरी करनेवाला मनुष्य रास्ता काट कर लम्बे समय तक भी किसी गन्तव्य स्थान तक न पहुँच सके, तो इसके दो कारणों मे से एक कारण अवश्य होना चाहिए, अर्थात्—या तो रास्ता लम्बा होगा या जैसी चाहिए वैसी गति न हुई होगी। इनमें से पहला कारण एकदम फल-शून्य नहीं है। मान लीजिए, एक आदमी बम्बई से कलकत्ता जाने के लिए पैदल रवाना हुआ है। वह रेलगाड़ी के बराबर जल्दी नहीं पहुँच सकता, फिर भी लम्बे समय में कलकत्ता पहुँच सकता है। रास्ता ठीक मिल गया हो, तो फिर समय और सदा चलने का यत्न, इन दोनों चीजों की ही आवश्यकता पड़ती है। यदि यह दोनों बातें हों, तो अवश्य पहुँच सकते हैं, पर यथोचित गति न हो तो कदापि नहीं पहुँच सकते। कोल्हू के बैल के समान गोलाकार गति या विपरीत गति से चल पड़ें, तो छोटा रास्ता भी लम्बे समय में नहीं कट सकता। कोल्हू का बैल सुबह से शाम तक चलता ही रहता है। शायद वह समझता होगा कि मैंने अच्छा लम्बा रास्ता तय कर लिया है; पर साँझ समय जब आँखों की पट्टी खुलती है, तो वही जगह और वही कोल्हू देखता है। ऐसी गति करने से हजारों लाखों वर्षों में भी जरा सा रास्ता तय नहीं किया जा सकता। ससार मे परिभ्रमण करना भी एक प्रकार की यात्रा है। प्रत्येक जीव यात्री है। अनत पुद्गल-परावर्त्तन करने

जितना समय प्रत्येक जीव को मिला है; पर इतने लम्बे समय में भी रास्ते का अन्त नहीं आया। इसका क्या कारण है—रास्ते की लम्बाई या चक्रगति? कहा जा सकता है कि यहाँ दोनों कारण मौजूद हैं। संसारभ्रमण का रास्ता भी कुछ छोटा नहीं है। लोक के एक छोर से दूसरे छोर में असंख्यात योजन कोड़ाकोडी का फासला है। कहा भी है—

के महालए णं भंते! लोए पएणत्ते? गोय मा! महइ महालए लोए पएणत्ते-पुरत्थिमेणं असंखिज्जाओ जोयण कोडाकोडीओ, दाहिणेणं असंखिज्जाओ एवं चेव, एवं पच्छिमेण वि, एवं उत्तरेण वि, एवं उड्ढं वि, अहे असंखिज्जाओ जोयण कोडाकोडीओ आयाम विक्खभेणं।

(भग० श० १२, उ० ७,)

अर्थ—(गौतम पूछते हैं) भगवन्! यह लोक कितना बड़ा है? भगवान् कहते हैं—गौतम! यह लोक बहुत बड़ा है। यहाँ से पूर्व दिशा में असख्यात कोडाकोड़ी योजन लंबा है। दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में भी इतना ही है। यहाँ से ऊँचे भी असंख्यात कोड़ाकोड़ी योजन लम्बा है और नीचे भी इतना ही है। यह लोक असंख्यात कोडाकोडी योजन की लम्बाई और चौड़ाई में विस्तृत है।

इस प्रकार प्रथम तो रास्ता इतना लम्बा, उस पर फिर रुकने के स्टेशन भी बहुत हैं। प्रत्येक स्टेशन पर घड़ी-दो-घड़ी रुकने से काम नहीं चलता, बल्कि असंख्यात और अनंत काल तक भी ठहरना पड़ता

है, अतएव हमारी इस मुसाफिरी में यदि लम्बा समय लग जाय, तो असंभव नहीं है; लेकिन एक मुसाफिरी में जितना समय लगना चाहिए, उससे बहुत अधिक समय हमने लगा दिया है। इसलिए निश्चय है कि हमारी गति ठीक रास्ते मे नहीं हुई है, बल्कि कोल्हू के बैल की भाँति चक्रगति हुई है। ठीक मार्ग पर आने के लिए चार गतियों मे से केवल एक गति और चौबीस दण्डकों में से सिर्फ एक ही दण्डक है। वह है— मनुष्य गति और मनुष्य का दण्डक। इतने लम्बे समय की यात्रा मे हमें क्या कभी मनुष्य-गति और मनुष्य-दण्डक नही प्राप्त हुआ है? अवश्य, प्राप्ति तो हुई, पर उस समय आँखों पर पट्टा बँधा था, या अन्य कार्य में लग जाने से वह रास्ता छोड़ दिया।

दृष्टान्त—एक अंधा आदमी किसी शहर मे जा पहुँचा। उसने दिन-भर चक्कर काटा, पर रहने के लिए कहीं ठौर-ठिकाना न मिला। लाचार होकर उसे दूसरी जगह का रास्ता लेना पड़ा। पर उसे आँखों से दिखलाई न पड़ता था अतः निकलने के लिए दर्वाजा ढूँढने मे उसे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। मनुष्यो से पूछता, पर कोई उसकी सहायता न करता। निदान एक आदमी ने उसे रास्ता बताया कि इस ओर चले जाओ। चलते-चलते एक कोट मिलेगा। उसकी दीवार पकड़कर उसी के सहारे-सहारे चले जाना—दर्वाजा मिल जायगा। बेचारा अंधा भटकता-भटकता कोट के किनारे जा पहुँचा। दीवार को पकड़े पकड़े चलने लगा; पर जब दर्वाज़ा आया, तब उसके सिर में खुजली आई। हाथ सिर पर जा पहुँचा और दर्वाज़ा निकल गया। शहर

से निकलने का वह एक ही दर्वाज़ा था ; अतएव वह चक्रगति से चलने लगा। कुछ समय बाद फिर दर्वाजा आया। पास किसी मकान में नाच हो रहा था, अंधे का ध्यान उस ओर चला गया और दर्वाज़ा फिर हाथ से चला गया। इस प्रकार कभी लड़ाई-झगडे की बातें सुनने मे, कभी और किसी कारण से दर्वाजा निकल जाता था। वह अंधा चक्र-गति से चारों ओर घूमने लगा पर बाहर न निकल सका। ऐसी ही दशा इस जीव की हुई। भ्रमण करते करते ससार से मुक्त होने के लिए जब मनुष्य भवरूपी दर्वाजा नजदीक आया, तब खान-पान, राग-रग, नाच कूद, और मजा-मौज़ मे सारा समय व्यतीत कर दिया और ठीक मार्ग में आगे बढने का प्रयत्न नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि पुनः परिवर्त्तन में पड़ना पडा और ससार की यात्रा बहुत अधिक लम्बी हो गई। केवल चलने मात्र से यह यात्रा समाप्त नहीं हो सकती, वरन् ठीक रास्ता पकडकर सीधे उसी पर चलने से समाप्त होगी। जिन मनुष्यों को योग्यता की कुछ ऊँची सीढियाँ प्राप्त हुई हैं, उन्हें ठीक मार्ग ढूँढना चाहिए कि जिससे अनन्त काल की इस विकट लम्बी यात्रा के अनन्तर उतना—अनन्त काल तक—विश्राम मिल सके॥ २२॥

सांसारिक सुख का परिवर्त्तन

गृहे यस्मिन् गानं पणवलयतानं प्रतिदिनं;
कदाचित्तत्र स्याद्ध्रुवसुतमृता रोदनमहो॥

क्षणं दिव्यं भोज्यं मिलति च पुनस्तुच्छमपि नो ।
न दृष्टं संसारे क्वचिदपि सुखं दुःखरहितम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जिस घर में एक दिन गवैयों के गायन होते हैं, सारंगी, सितार, मृदंग आदि बाजे बजते हैं, रात दिन उत्सव-महोत्सव रचे रहते हैं, उसी घर दूसरे दिन जवान लड़के की मृत्यु होने पर हृदयभेदी रुदन होने लगता है। जिस घर में किसी समय दूध-शाक, हलुआ-पूड़ी आदि बढ़िया-बढ़िया स्वादिष्ट भोजन खाये जाते हैं, उसी घर में दूसरे समय ज्वार और मक्की की रोटियाँ भी नसीब नहीं होता। एक साहूकार क्षणभर में दरिद्र बन जाता है, अतएव यदि सांसारिक संपत्ति मिल गई हो, तो भी क्या उससे सुख—चिरस्थायी सुख कभी प्राप्त हो सकता है? कदापि नहीं, इस संसार में दुःख-रहित सुख कहीं भी दिखाई नहीं देता। किसी को कुछ दुःख, किसी को कुछ दुःख लगा ही रहता है।

विवेचन—संसार के परिभ्रमण में जीव ने अधिकांश में दुःख ही भोगा है, अतएव यह स्वाभाविक है कि प्रत्येक प्राणी को दुःख के प्रति तिरस्कार और सुख की आकांक्षा हो। कीड़ी से लेकर कुंजर तक और राजा से लगाकर रंक तक—प्रत्येक जीव सुख की ही कामना करता है; पर एक आवश्यक प्रश्न तो यह है कि वास्तव में सुख क्या वस्तु है और वह संसार में कहाँ है? एक कवि ने निम्न-लिखित शब्दों में अपनी अन्तरात्मा से यह प्रश्न पूछा है—

'क्यां छे मज़ा क्यां छे मजा? कहे तू मुसाफिर खल्क ना?

दुनीया महीं क्यां छे मज़ा, मानी लऊँ शेमाँ मज़ा ?
छे क्यांही खाण खुशालीनी, आ खल्क ने कोई खूणे ?
बतावी दे जो होय तो, खोदी लऊँ त्यांथी मज़ा।

इस काव्य मे सुख के स्थान के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है ; परन्तु सुख क्या वस्तु है, यदि यह समझ में आ जाय, तो स्थान का निवेडा शीघ्र ही हो सकता है , अतएव सर्व-प्रथम सुख के स्वरूप का विचार करना चाहिए। दिव्य-दृष्टि या परमार्थ दृष्टि से देखनेवाले महात्मा सासारिक सुख को मृग-मरीचिका की उपमा देते हैं। मरुदेश की रेतीली भूमि में, रेत के मैदान में तृषा से आतुर हिरनों को पानी नज़र आता है अर्थात्—रेत पर जब सूर्य की किरणें पडती हैं, तो दूर से देखनेवालों को पानी का तालाब-सा दिखाई देता है । हिरन यह देखकर वहाँ दौड़े जाते हैं; पर वहाँ रेत के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिलता। निराश होकर दूसरी ओर देखता है, तो फिर दूसरा सरोवर नज़र आता है। वहाँ भाग कर जाता है, तो वहाँ भी केवल बालू से ही पाला पडता है। इस प्रकार वह चारों ओर भटकता फिरता है। पहले कुछ आशा बँधती है, आश्वासन मिलता है , पर पास जाते ही सारी आशा निराशा में परिणत हो जाती है ; क्योंकि मृगजल कोई वस्तु नहीं है—भ्रम-मात्र है। इसी प्रकार अस्थिर और विनश्वर पदार्थ में सुख माननेवालों को पहले-पहल तो वह वस्तु कुछ चमकीली और मोहित करनेवाली प्रतीत होती है , पर कुछ ही समय के पश्चात् उसकी चमक चली जाती है, या वह स्वयं ही नष्ट हो जाती है। इस प्रकार सुख के संशोधकों—खोजियों—की आशा भग हो

जाती है और कल्पना किया हुआ सुख, दुःख का रूप धारण कर लेता है। उदाहरण के रूप में समझ लीजिए—एक आदमी के सन्तान नहीं है। वह सन्तान के लिए इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। जोगी-जती बाबा-फकीर के पीछे लगा फिरता है। वह समझता है—'धन-सम्पत्ति, जगह-जमीन, गाँव-गराव, किसी में भी सुख नहीं है, सुख है तो केवल पुत्र की प्राप्ति में ही है।' अन्त में जब पुत्र-प्राप्ति की कुछ आशा बँधती है, तो उसकी प्रसन्नता का पारावार नहीं रहता। पुत्र का जन्म होने पर और अधिक प्रसन्नता होती है, परन्तु जब पुत्र को कोई रोग घर दबाता है, तो पहले की सारी प्रसन्नता धूल में मिल जाती है। बीमारी के समय भी नीरोग होने की आशा से कुछ प्रसन्नता अव्यक्त रूप में बनी रहती है; किन्तु दैवयोग से यदि वह पुत्र परलोकवासी हो जाता है, तो पुत्रोत्पत्ति की सम्भावना से लगाकर अब तक का सारा सुख गायब हो जाता है। इतना ही नहीं, वरन् संयोग-सुख की अपेक्षा वियोग का दुःख परिमाण में अधिक हो जाता है। इस दुःख का घाव अन्त तक नहीं भरता। ऐसी परिस्थिति में पुत्र की कामना करनेवाला सोचने लगता है—'इस से तो पुत्र का न जन्मना ही अधिक अच्छा होता।' कहिए, इसके थोड़े-से मध्यकालीन सुखाभास को सुख कैसे कहा जा सकता है? उसने जिसे सुख का बीज समझा था, उसमें से जब अंकुर निकला, तो साफ मालूम हो गया कि वह तो दुःख का अंकुर है, अतएव यह कहना अनुचित नहीं होगा कि उसने जिस बीज को सुख का बीज समझा था, वह वास्तव में दुःख का बीज था। दुःख के बीज को सुख

का बीज मान लेना मृगजल की भाँति भ्रम मात्र है। इससे प्रतीत होता है कि सच्चा सुख कुछ और ही पदार्थ है ! संसारी लोगों ने जिसे सुख समझ रखा है, वह सच्चा सुख नहीं है। सच्चा सुख और ही कहीं रहता है। उसका वर्णन प्रसंग आने पर किया जायगा। इस काव्य में यही बतलाया गया है कि लोगों ने जिसमें सुख मान लिया है, उस सुख का असली रूप क्या है ? यहाँ सुख और दुःख का समानाधिकरण्य एक ही जगह रहना—प्रदर्शित किया गया है। जिस जगह एक दिन मंगल गीत गाये जा रहे थे, तरह-तरह के वाद्यों का निर्घोष हो रहा था, उत्सव का ठाट-बाट देखने के लिए नर-नारियों के झुण्ड-के-झुण्ड उमडे पड़ते थे, सब के चेहरों पर प्रसन्नता नाच रही थी, उसी जगह दूसरे दिन जिसके नाम पर गीत गाये जाते थे, उसी के नाम पर रोना-धोना सुना जाता है। आनन्द-महोत्सव की जगह उसकी ठठरी बाँधी जाती है, गीत गानेवाली स्त्रियाँ छाती पीट कर रुदन करती हैं, और उत्सव में सम्मिलित होनेवाले लोग दाग देनेवालों के टोले में सम्मिलित होकर वर-राजा को श्मशान-भूमि में चिता का भोग बना देते हैं। कहाँ गया वह ब्याह का आनन्द ? और ब्याह करानेवालों का कहाँ चला गया उत्सव का आनन्द ! मृत्यु के हमले में उत्सव, आनन्द, उत्साह और शेखी तमाम एक किनारे रह जाते हैं—जल कर भस्म हो जाते हैं। इस क्षणिक सुख को सच्चा सुख कैसे कहा जा सकता है ?

काव्य के उत्तरार्द्ध में वैभविक सुख की चर्चा की गई है। वैभव प्राप्त करने मे, उसकी रक्षा करने में और दूसरे के वैभव की तुलना

करने पर मानी हुई न्यूनता में जो दुःख रहा हुआ है, उसे एक ओर रख कर सिर्फ लोगों के माने हुए सुख पर ही यहाँ विचार किया गया है। यह सुख, सुख कहला सकता है या नहीं? इस पर लक्ष्य रखा गया है; अर्थात्—वैभविक सुख भी एक बार मनुष्य को भोगासक्त बना कर शरीर को रोग ग्रस्त बना देता है। 'भोगे रोगभय' भोग के साथ रोग का सन्निकट संबंध है। अतः एक ओर रोग और दूसरी ओर अपना काम दूसरों से करा लेने का सुभीता मिलने पर निजी परिश्रम का अभाव होता है। आलस्य और सुस्ती घर कर लेते हैं। इतना होने पर भी वह विभूति-जन्य सुख ठहरता नहीं है। उसके क्षण-भर रहने का भी विश्वास नहीं किया जा सकता। अस्थिर होने के कारण वह सुख या भोग के साधन जब नष्ट हो जाते हैं, तो भोगी और शौकीन आदमी की ऐसी दुर्दशा होती है कि उसके दुःख का अनुभव वही कर सकता है। दूसरे उसकी हँसी उड़ाते हैं और उसके हृदय में दुःख के गुब्बारे उठते हैं। इसीलिए कहा गया है—

> सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडंवियं।
> सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा॥

(उ० अ० १३, गा० १६.)

अर्थात्—सारे गीत विलाप बन जाते हैं। समस्त नृत्य विडम्बना हो जाता है। सब आभरण भार रूप हो जाते हैं और सब प्रकार के काम-भोग दुःखजनक सिद्ध होते हैं।

इसीलिए काव्य के चौथे चरण में कहा गया है —'न दृष्टं संसारे' अर्थात् ससार मे कहीं भी दुःख-रहित सुख नहीं दिखाई देता ॥ २३ ॥

क्या संसार में सुख नहीं है ?

तनोर्दुःखं भुङ्क्ते विविधगद' कश्चन जनः,
तदन्यः पुत्रस्त्रीविरहजनितं मानसमिदम् ।
परो दारिद्र्योत्थं विपसमविपत्तिं च सहते,
न संसारे कश्चित्सकलसुखभोक्तास्ति मनुजः ॥२४॥

अर्थ—किसी-किसी मनुष्य को अनेक प्रकार के रोगों का उद्भव होने से शारीरिक दुःख भोगना पडता है और किसी को स्त्री, पुत्र, भाई, बहन आदि सबधियों की प्रतिकूलता से या उनके वियोग से मानसिक दुःख सहना पडता है । किसी को व्यापार में घाटा होने के कारण दरिद्रता का दुःख उठाना पड़ता है और किसी को राजकीय मामलों में पड़नेवाली विष समान विपत्ति भुगतनी पडती है । वास्तव में देखा जाय तो ससार मे एक भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो सब प्रकार के सुखों का ही अनुभव करता हो और जिसे लेश-मात्र भी दुःखों का सामना न करना पड़ता हो । जहाँ देखो, वहीं दुःख, दुःख और दुःख ही दृष्टि-गोचर होते हैं ॥ २४ ॥

विवेचन—प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, दुःख की कोई भी इच्छा नहीं करता , परन्तु प्रकृति की लीला विचित्र है । प्राणी चाहता

कुछ है और होता कुछ और ही है। सच तो यह है, कि सुख-दुःख का आधार कर्म की शुभ-अशुभ प्रकृतियों पर है। शुभ और अशुभ प्रकृतियाँ आपस में ऐसी जुटी हुई हैं, कि कभी-कभी तो दोनों का उदय एक ही साथ होता है और कभी-कभी एक के अनन्तर दूसरी का उदय होता है। शुभ प्रकृति के उदय से एक प्रकार का सुख मिला, वह थोड़ा-बहुत भोग पाया या न भोग पाया, कि उसी समय अशुभ प्रकृति का उदय हो आता है और उससे दुःख आकर सिर पर सवार हो जाता है। पूर्वभव में किसी को शारीरिक कष्ट देने से असाता वेदनीय कर्म बँध गया था, उसका उदय होने पर शरीर में रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। शरीर का एक भी रोग ऐसा नहीं है, जिसमें रोग की सत्ता न हो—प्रत्येक रोग में शास्त्रकारों के मतानुसार पौने दो रोग होते हैं। ये रोग बाह्य निमित्त मिलते ही बाहर फूट पड़ते हैं। एक या एक से अधिक रोग का आक्रमण होने पर शरीर में पीड़ा होने लगती है। सारा शरीर या शरीर के कुछ अवयव खिंचने लगते हैं, उचक होने लगती है, हड्डियाँ टूटने लगती हैं, ज्वर आ जाता है, शूल उत्पन्न हो जाता है, छाती फटने लगती है, बेचैनी बढ़ जाती है और जिन्दगी से चिढ़ होने लगती है। रोग की यदि गहरी जड़ हुई, तो जीवन के अन्त तक रक्त-पित्त, कोढ, दम वगैरह कितनी ही तरह के रोग स्थायी रूप से आ जमते हैं और इस कारण जीवन ज़हर के समान हो जाता है। सम्पत्ति, वैभव, साम्राज्य या सत्ता चाहे जितनी हो, पर यदि शरीर का सुख न हुआ, तो वह सब निरर्थक है।

'पहला सुक्ख निरोगी काया' यह कहावत भी हमारे कथन की पुष्टि करती है। पुण्य के योग से कदाचित् शरीर सम्बन्धी सुख भी प्राप्त हो गया, तो सन्तान का दुःख रहा ; अर्थात्—पुत्र या पुत्री कुछ भी न हुआ। यदि सन्तान भी हो गई, तो उसके मूर्ख, जुआरी, स्वच्छन्दी या अविनीत होने से दुःख होता है। सन्तान यदि 'माँ-बाप को वृद्धा-वस्था में शान्ति के बदले अशान्ति पैदा करनेवाली हुई, तो वह भी एक दुःख हो गया। कदाचित् विनीत और सुशील पुत्र भी प्राप्त हो गया, पर उसकी आयु कम हुई, तो वह भरी जवानी मे माता-पिता को छोड़कर परलोक वासी हो जाता है और तब उन्हें पुत्र के वियोग का असह्य दुःख झेलना पड़ता है, परन्तु यहीं दुःखों का अन्त नहीं हो जाता। यदि गृहिणी ही परलोक सिधार गई, तब तो रही-सही कसर भी पूरी हो जाती है—दुःख और भी बढ जाता है। भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है—'कुले क्षयभय'— बडे कुटुम्ब में किसी-न किसी की मौत आती ही है और उस समय समस्त कुटुम्बियों के मन में वियोग-दुःख की ठेस लगती है। जहाँ अधिक अनुराग होता है, वहाँ दुःख भी ज्यादा होता है। ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं, कि स्नेही मनुष्य अपनी स्त्री, पुत्र या मित्र की मृत्यु के कारण पागल हो जाते हैं। उनकी ऐसी ही विकल अवस्था जीवन-पर्यन्त बनी रहती है। किसी को स्त्री-पुत्र का दुःख न हो, तो उसे आजीविका या दरिद्रता का दुःख सालता है। ससारी जीवों के लिए निर्धनता से होनेवाला दुःख भी कोई मामूली दुःख नहीं है। 'वस्तु बिन पशु' यह कथन व्यावहारिक

दृष्टि से देखने पर ज़रा भी असत्य नहीं दिखता। एक कवि ने अपने काव्य में पैसे का सच्चा चित्रण किया है—

कवित्त

पैसा बिन मात तो पूत को कपूत कहे,
पैसा बिन बाप कहे बेटा दुखदाई है।
पैसा बिन भाई-बंध संबंधी अजान रैत,
पैसा बिन भाई कहे किसका तू भाई है ?
पैसा बिन जोरू संग छोड़कर जाय चली,
पैसा बिन सासु कहे किसका जमाई है ?
पैसा बिन पड़ोसी कहत है गँवार है तू,
आज के जमाने में पैसे की बड़ाई है ॥

एक दरिद्र आदमी की तुलना मुर्दे के साथ की गई, तो दरिद्र बोला—भाई, मेरी स्थिति तो मुर्दे से भी बदतर है, क्योंकि मुर्दे को उठानेवाले चार आदमी मिल ही जाते हैं, पर मेरा हाथ पकड़ने के लिए एक भी आदमी तैयार नहीं है। एक दरिद्री ने व्याजस्तुति द्वारा दरिद्रता का असली स्वरूप बताया है—

भो दारिद्र्य ! नमस्तुभ्यं, सिद्धोऽहं तव दर्शनात्।
अहं सर्वास्तु पश्यामि, मां कोऽपि न पश्यति ॥

अर्थात्—दरिद्र कहता है—हे दारिद्र्य ! मैं तुझे नमस्कार करता हूँ, क्योंकि जब से तेरे दर्शन हुए हैं, तब से मेरी दशा सिद्ध पुरुष के

समान हो गई है, सिद्ध पुरुष अंजन गुटिका के निमित्त से जब गाँव में आता है, तब वह सब को देख सकता है ; पर उसे कोई नहीं देख सकता। उसी प्रकार मैं भी जब अपने परिचितों के झुंड में से निकलता हूँ, तो मैं सबको पहचान लेता हूँ कि यह मेरा काका है, यह मेरा भाई है, यह मेरा मौसा है, यह मेरा फूफा है आदि, पर उस समय उनमें से मुझे कोई भी पुरुष नहीं पहचान सकता, अतएव मैं सिद्ध पुरुष के समान बन जाता हूँ। हे दारिद्रय ! यह तुम्हारा ही प्रभाव है। तात्पर्य यह है कि दरिद्र का कोई सगा नहीं होता, उसे कहीं भी आदर नहीं मिलता। भले ही उसमें विद्वत्ता हो, कला हो, गुण हो, पर वे सब दरिद्रता में दब जाते हैं, अतएव दरिद्र अवस्था भी महान् दुःखदायी है।

कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिन्हे दरिद्रता का दुःख नहीं है ; पर उन पर कोई राजकीय विपत्ति टूट पड़ती है या कोई दुश्मन खड़ा हो जाता है, जो संकट में पटक देता है। इस प्रकार कोई-न-कोई दुःख कहीं-न-कहीं से आ ही पडता है। दलपतराम ने ठीक ही कहा है—

(झूलना)

तंतु काचा तणो ताणो संसार छे,
सांधीए सात त्यां तेर त्रूटे।
शरीर आरोग्य तो योग्य स्त्री होय नहि,
योग्य स्त्री होय खोराक खूटे।
होय खोराक न होय संतान उर,
होय संतान रिपु लाज लूटे।

कोइ जो शत्रु नहि होय दलपत कहे,
समीप संबंधीनुं शरीर छूटे।

इसीलिए कहा गया है कि 'न ससारे कश्चित् सकल सुख-भोक्ता।' एक घर, कुटुम्ब, गाँव या देश में नहीं, सारे ससार में चक्कर काटकर खोज करोगे तो भी ऐसा मनुष्य मिलना सुलभ नहीं है, जो सभी तरह से सुखी हो। किसी को बाहरी दुःख है, किसी को भीतरी दुःख है, किसी को मन का, किसी को तन का, एक को पुत्र का, दूसरे को पुत्री का, किसी को माँ-बाप का, किसी को स्त्री का, किसी को आजीविका का, तो किसी को बुद्धि की मन्दता का, किसी को स्थूल, किसी को सूक्ष्म, पर दुःख लगा अवश्य है। ऐसा एक भी अन्तःकरण दृष्टि-गोचर नहीं होता, जिसमें दुःख के घाव न लगे हों॥ २४॥

संसार में अशांति का साम्राज्य

क्वचिद्राज्ञां युद्धं प्रचलति जनोच्छेद जनकं।
क्वचित् क्रूरा मारी बहुजन विनाशं विदधती॥
क्वचिद् दुर्भिक्षेन क्षुधितपशुमर्त्यादि मरणं।
विपद्वह्निज्वालाज्वलितजगति क्वास्ति शमनम्?॥२५॥

अर्थ—अहो! इस ससार में कहीं-कहीं तो हजारों-लाखों आदमियों की जान लेनेवाले बड़े-बड़े युद्ध चलते हैं, कहीं-कहीं ग्रामों और देशों को नष्ट करनेवाली महामारी का त्रास फैल रहा है। किसी

जगह दुर्भिक्ष की भुखमरी से हजारों जानवरों के प्राण परलोक की ओर प्रयाण करते हैं, तो किसी जगह तरुण पुरुषों की मृत्यु के कारण हाहाकार मचा रहता है। सचमुच इस ससार में चारों ओर विपत्तिरूपी वह्नि—अग्नि—की ज्वाला फैल रही है। ऐसी दशा में शान्ति और समाधि के दर्शन कहाँ हो सकते हैं? सर्वत्र अशान्ति का ही साम्राज्य है ॥२५॥

विवेचन—भगवती-सूत्र के दूसरे शतक के पहले उद्देशक में खधक सन्यासी, भगवान् महावीर स्वामी द्वारा किये हुए शका-समाधानों से सतुष्ट होकर महावीर स्वामी के समीप दीक्षा लेने के लिए तैयार होता है, उस समय खधक ने कहा है—'आलित्तेण भते लोये, पलित्तेण भते लोये, आलित्त पलित्तेण भते लोये, जराये मरणेणय।' अर्थात्—हे भगवन्! यह ससार जरामरण, आधिव्याधि और उपाधि से लिप्त होकर जल रहा है। खधक सन्यासी के ये उद्‌गार अक्षरशः सत्य हैं। ससार में शान्ति के कारण बहुत थोडे और अशान्ति के कारण बहुत ज्यादा हैं। दैवी सपत्ति थोड़ी और आसुरी सपत्ति अधिक है। गुणीजन परिमित हैं, अवगुणी—दुर्जनों की सख्या ही नहीं! सतोषी अगुलियों पर गिनने योग्य हैं, पर असतोषियों का कोई हिसाब नहीं। सुलह करनेवाले अल्प हैं; पर क्लेश करनेवाले अधिक हैं। एक मनुष्य के हृदय को सन्तुष्ट करने के लिए हज़ारों-लाखों मनुष्यों के जान-माल को मटियामेट किया जाता है। कोणिक की रानी पद्‌मावती के मन में कोणिक के छोटे भाई हल और विहल को बपौती में मिले हुए हार तथा हाथी को हथियाने का लोभ जाग्रत हुआ, कोणिक के स्नेह का उसमें सिंचन

हुआ। विषय-जन्य प्रेमपात्र पद्मावती को प्रसन्न करने के लिए अपने छोटे और आश्रित भाइयों की पिता द्वारा दी गई संपत्ति पर कोणिक की कुदृष्टि हो गई। न्याय का आश्रय लेने के लिए दोनों निरपराध भाइयों को अपनी भूमि छोड़कर परभूमि में चेडा के राज्य में भागना पड़ा। पद्मावती का मन इतने से भी संतुष्ट न हुआ और परिणाम-स्वरूप हार-हाथी के लिए नाना और पोते में—चेडा और कोणिक में लड़ाई छिड़ी। एक की ओर से अठारह और दूसरे की ओर से दस राजाओं की सेना सहायता करने के लिए आ धमकी। लाखों आदमी लोहू-लुहान हो मरण-शरण होने लगे। मिट्टी और रक्त से बने हुए कीचड़ से ही अन्त न आया, किन्तु लोहू की रेलमपेल मची और नदी बह निकली। मनुष्यों-मनुष्यों का युद्ध मानों बस न था; अतः चमरेन्द्र और शक्रेन्द्र जैसे बड़े-बड़े इन्द्रों ने कोणिक का पक्ष लेकर लड़ाई में भाग लिया। रथमूशल और महाशिलाकटक नामक दो संग्रामों में केवल दो ही दिन में एक करोड़, अस्सी लाख मनुष्यों का बलिदान हुआ। क्या यह कम भयंकरता है? एक स्त्री के हठीले हृदय की तृप्ति के लिए करोड़ों मनुष्यों का बलिदान! यह भयंकरता, यह दुष्टता किसी एक जमाने की वस्तु नहीं है—सदा ही ऐसा होता रहता है।

दृष्टान्त—विपाक सूत्र में उल्लिखित सिंहसेन राजा का उदाहरण भी इसी विषय को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है। राजा का श्यामा नामक एक रानी पर मोह था। उस मोह के कारण राजा सिंहसेन ने

अन्य ४९९ रानियों को, उनके माता-पिता और सम्बन्धियों को छल-पूर्वक लाक्षागृह में बन्द करके, अचानक आग सुलगवाकर एक ही साथ भस्मकर हजारों निर्दोष प्राणियों के प्राण ले लिये। एक के वासनामय राग में अन्धे बनकर हजारों के साथ वैर-भाव बाँधकर लकड़ियों के बदले मनुष्यों की होली जलाना भी क्या कम भयकरता है?

इस प्रकार के अनेक उदाहरण ढूँढने के लिए भूतकाल में भटकने की आवश्यकता नहीं है। वर्त्तमान काल की ओर नजर फैलाने से भी यही दृष्टिगोचर होता है। वह यूरोप का महायुद्ध क्या कम त्रासदायक है, जिसमें लाखों मनुष्यों को प्राणों की आहुति देनी पडी, सहस्रों परिवार निराधार हो गये और देश-के-देश ऊजड़-वीरान हो गये। न जाने कितनी ऐसी-ऐसी लडाइयाँ काल के उदर में समाई हुई हैं। इनसे ससार में अशान्ति का प्रसार होता है, पर केवल लडाइयों में ही हमारी अशान्ति की सीमा समाप्त नहीं हो जाती, लडाई की अशान्ति से उसमें भाग लेनेवाले सैनिकों को और जिस देश में वह लडी जाती है उस देश को ही प्रत्यक्ष रूप से उसका फल भुगतना पड़ता है। इनके अतिरिक्त और लोगो को प्रत्यक्ष रूप से अशान्ति नहीं भोगनी पड़ती, यदि यह ठीक हो तो भी इसमे क्या हुआ? युद्ध की भाँति प्लेग, महामारी,आदि खूँख्वार रोगों की कमी नहीं है। यह रोग मनुष्यों की इच्छा या अनिच्छा की परवाह नहीं करते। एक सैनिक सेना में भर्ती होता है, तब उसे उसका फल भुगतना पडता है, पर सेना में भर्त्ती होना या न होना प्राय. उसकी इच्छा पर निर्भर है; किन्तु रोगों के विषय में

यह बात नहीं है। प्लेग महामारी आदि का आक्रमण अचानक ही स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, अपराधी-निरपराधी मनुष्य पर हो जाता है। एक के छींटे दूसरे पर पड़ते हैं और एक के बाद दूसरा उसका शिकार बन जाता है। घर-के-घर, कुटुम्ब-के-कुटुम्ब पायमाल हो जाते हैं। जिसमें पन्द्रह-बीस मनुष्य थे, उस कुटुम्ब में एक भी मनुष्य नाम-लेवा नहीं बच पाता। क्या यह प्लेग की पायमाली कठोर-से-कठोर हृदय को भी कँपाने में समर्थ नहीं है? ये ऐसी बीमारियाँ हैं, जिनमें बाप, बेटे की सार-सँभाल नहीं करता, बेटा बाप की सेवा-शुश्रूषा नहीं करता। स्त्री, पति को छोड़ कर अपने बचाव की युक्ति खोजती है तो पति, स्त्री को छोड़ कर लम्बा बनता है। इस निष्ठुरता और स्वार्थवृत्ति को उत्पन्न करने वाला और कुछ नहीं—पापी प्लेग का ही प्रभाव है। और हाँ, इस भयंकर प्लेग को भी भुला देनेवाली एक और अतीव भयङ्कर वस्तु है, उसे हम कैसे भूल सकते हैं? वह है दुष्काल। प्लेग तो चूहों के द्वारा मनुष्यों को अपने आगमन की सूचना भी कर देता है और जो साव-धान हो कर अन्यत्र चला जाता है, वह उसके पंजे से छूट भी सकता है, पर दुर्भिक्ष की पीडा तो वहाँ भी पीछा नहीं छोड़ती। भूतकाल के दुर्भिक्षों का तो सिर्फ वर्णन ही पढ़ सकते हैं, पर संवत् १९५६ का दुर्भिक्ष तो कई एक पाठकों ने आँखों देखा होगा। आह! उसके स्मरणमात्र से रोंगटे खडे हो जाते हैं। पशुओं की दुर्गति का तो ठिकाना ही न था। चौमासा लगते समय जिस घर मे पचीस-पचीस, पचास-पचास जानवर थे, उसी घर में वैशाख और ज्येष्ठ मास में मुश्किल से एक-

दो जानवर बच पाये थे। घास की तगी के कारण अच्छे-अच्छे घरानों के पशु भी भूखों मरते देखे गये थे, तो गरीबों के पशुओं की तो चर्चा ही क्या ! मानो जानवरों के भोग से दुष्काल-रूपी दैत्य की तृप्ति न हुई, इसीलिए जानवरों के बाद मनुष्यों की बारी आई। जगल में जगह-जगह मनुष्यों के माथे की खोपड़ियाँ पडी फिरती थीं। मुर्दे को उठाने वाला भी कोई मिलता न था, अतएव मुर्दों से बडे-बड़े गड्ढे भरे हुए नजर आते थे। मुट्ठी भर अन्न के खातिर माँ बाप अपने प्यारे पुत्र को बेच देते थे या एकान्त में पटक कर दूसरी जगह चले जाते थे। एक वर्ष के दुर्भिक्ष से ही यह भयकर परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी, तो जब दो-दो, चार-चार और बारह-बारह दुष्काल लगातार एक साथ पडे होंगे, तब मनुष्यों की क्या हालत हुई होगी ? तुलना करने से इस बात की थोड़ी कल्पना हो सकती है। यह कल्पना पत्थर के समान कठोर हृदय को भी पिघलाने के लिए पर्याप्त है। सुनते हैं—बारह दुष्कालों में लाखों सुवर्ण मोहरें देकर भी एक सेर अनाज पाना कठिन हो गया था। साधुओं को भिक्षा मिलना कठिन हो गया था। जहाँ अन्न के लाले पडे हों वहाँ ध्यान या धर्म कर्म किसे सूझता है ?

इन तमाम बातों को ध्यान में रखकर काव्य के चौथे चरण में कहा गया है—'विपद्-वह्निज्वालाज्वलित जगति' जैसे अग्नि की लपटें चारों ओर फैलती हैं, उसी प्रकार इस ससार में विपत्ति की ज्वाला एक ओर से नहीं; किन्तु चारों ओर से निकलने लगती हैं। एक ओर युद्ध, तो दूसरी ओर महामारी, तीसरी ओर अकाल, तो चौथी ओर हैजा वगैरह।

इस प्रकार की असंख्य विपत्तियों से संसार जल रहा है, इसमें शान्ति के लिए स्थान ही कहाँ है ? जलते हुए घर में से सारभूत वस्तु निकाल कर एकान्त में रख लेने से जैसे भविष्य में सुख मिलता है, उसी प्रकार जलते हुए संसार में से सारभूत आत्मा को पहचान कर—आत्मज्ञान प्राप्त करके उपाधियों से दूर रहे तो ही विपत्ति से उद्धार हो सकता और शान्ति प्राप्त हो सकती है ॥ २१ ॥

(४) एकत्व - भावना

एकत्व-भावना

मम गृह वनमाला वाजिशाला ममेयं,
गज वृषभगणा मे भृत्यभार्या ममेमे।
वदति सति ममेति मृत्युमापद्यसे चेत्-
न हि तत्र किमपि स्याद्धर्ममेकं विनान्यत् ॥ २८ ॥

अर्थ—हे भद्र ! कोई मनुष्य तुझे मिलता है, तो तू उससे कहता है—'यह मेरी अपनी हवेली है। यह बगीचा खास तौर पर मेरे ही लिए बनाया गया है। यह मेरे घोड़ों के लिए घुड़साल है। ये हाथी मेरे चढ़ने के लिए हैं। यह बैल सिर्फ मेरे ही लिए हैं। ये तमाम नौकर-चाकर मेरे हैं।' इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के साथ 'मम' जोड़कर तू 'मेरा-मेरा' किया करता है, पर भाई ! जब तुझे मृत्यु के मार्ग में प्रयाण करना पड़ेगा, तब बता इनमें से कौन-सी वस्तु तेरे साथ चलेगी ? विश्वास रख, उस समय तुझे अकेले ही प्रवासी बनना पड़ेगा। एक भी वस्तु न तेरे साथ आयेगी और न तेरी होगी ॥ २८ ॥

विवेचन—जिस समय बालक जन्मता है तो वह सिर्फ अपने शरीर को ही अपना समझता है। शरीर में किसी प्रकार का कष्ट होता

या भूख लगती है, तो वह रोने लगता है। शरीर के अतिरिक्त और किसी वस्तु पर उसकी ममता नहीं होती, अतः वे वस्तुएँ रहें या नष्ट हो जाएँ, इससे बालक को दुःख नहीं होता। और-तो-और, बालक को जन्म देनेवाली माता भी कदाचित मर जाय, तो भी उसे दुःख नहीं होता, कारण स्पष्ट है। अब तक माता में उसकी ममता नहीं बँधी है। जब वह कुछ बडा होता है, समझने लगता है और माता को पहचानने लगता है, तब उसकी ममता का विस्तार हो जाता है। अब वह शरीर की तरह माता को भी अपनी समझने लगता है। माता के साथ ममता का बन्धन होने पर अब माता का सहवास सुखकर और वियोग दुःखकर जान पड़ता है। माता के अतिरिक्त और कोई उसे लेता है, तो वह तत्काल रोने लगता है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों कुटुम्ब के अन्यान्य लोगों को बालक पहचानता जाता है, त्यों-त्यों उसकी ममता का क्षेत्र बढ़ता जाता है। अब तक उसे अपने खेलानेवाले, पालन-पोषण करनेवाले सबंधियों के दर्शन, स्पर्श या सहवास की आकांक्षा न थी, परन्तु उनके साथ ममता का बधन होने पर यदि उनका दर्शन स्पर्श या सहवास नहीं होता तो बालक को दुःख होता है। इस प्रकार चेतन पदार्थों के बाद जड़ वस्तुओं में उसकी ममता का बधन जुड़ता है। वह अपने खिलौनों को अपना समझने लगता है। सोने के पालने और फिरने की गाड़ी में उसकी ममता जागती है। दूसरा बालक उन्हें लेता है, तो उसे बुरा लगता है। वह मानता है—उन वस्तुओं पर मानो उस अकेले का ही एकाधिपत्य

है। वह चाहता है—मुझे मिली हुई वस्तुओं का उपयोग मैं अकेला ही करूँ। वह उन वस्तुओं में दूसरे की हिस्सेदारी पसद नहीं करता। उसकी चीज उठाने के लिए कोई हाथ लगाता है तो भी वह चिल्लाने लगता है, रोने बैठ जाता है। इसके बाद वह जब पाठशाला में जाने लगता है तो स्लेट-पेंसिल तथा पुस्तकों के साथ उसकी ममता का बंधन होता है। पढ़-लिख चुकने पर विवाह होता है और अपने धधे में लग जाता है। इस समय स्त्री और धन में ममता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार धीरे-धीरे पुत्र पुत्रियों में, सगे-सबधियों में ममता होती चली जाती है। योग्य उम्र होने पर या माँ-बाप का देहान्त हो जाने पर बपौती में मिली हुई सपत्ति आदि समस्त वस्तुओं पर गाढ़ ममता हो जाती है। इसके बाद यह ममता तृष्णा के रूप मे पलट जाती है। प्राप्त वस्तुओं मे तो प्रगाढ ममता हो चुकी, पर जो वस्तुएँ अब तक प्राप्त नहीं हुई हैं, जिन पर अपना अधिकार नहीं है, उन्हें 'अपनी' बनाने का वह प्रयत्न करता है, अर्थात्—अब अकेली ममता नहीं रह जाती; परन्तु साथ-ही-साथ तृष्णा का भी प्रादुर्भाव हो जाता है। ममता और तृष्णा के सयुक्त बल से लोभ और अनीति की उत्पत्ति होती है; क्योंकि वह छुटपन से यह मानता आया है कि जो वस्तु मेरी है, उसे भोगने का अधिकार सिर्फ मुझे ही है, अतएव वह उस वस्तु को दूसरों को भोगने नहीं देना चाहता और तृष्णा की पूर्त्ति करने के लिए चाहे जैसी अनैतिक प्रवृत्ति करता है। ज्यों ज्यो समय व्यतीत होता जाता है, त्यों-त्यों ममता का मूल गहरा हो जाता है और दूसरी ओर ममता का

विस्तार बढता जाता है। वास्तव मे कहा जाय तो उसके दुःखो का विस्तार बढ़ता जाता है। चातुर्मास की वर्षा से उगा हुआ घास-फूस पहले तो बढता है, फिर मुरझाने लगता है और अन्त मे नष्ट हो जाता है, परंतु ममता-रूपी वेल तो ज्यों-ज्यो बढती जाती है और मृत्यु की ओर प्रयाण होता चला जाता है, त्यों-त्यों वह सूखने के बदले अधिकाधिक हरी-भरी होती जाती है। बाल्यावस्था में गनीमत यह थी कि ममता का क्षेत्र बढता है, तो उन वस्तुओ की प्राप्ति भी हो जाती है—उत्तराधिकार में नई-नई वस्तुओं का संचय हो जाता है; किंतु वृद्धावस्था में इससे ठीक विपरीत ही होता है। अब सचित की हुई सपत्ति या माल-मते में हिस्सा बँटानेवाले अनेक व्यक्तियों का उद्भव हो चुका है। पुत्र-पुत्रियाँ, सगे सबधी आदि उसकी ममता की चीज़ों में से हिस्सा बँटाने के लिए तैयार होते हैं। इससे ममतावान् मनुष्य को बुरा लगता है। भीतर-ही-भीतर कशमकश होती है, क्लेश जागते है, षड्यंत्र शुरू होते हैं, खूनी हमलों की बारी आती है और अन्त में जैसे मकड़ी के रचे हुए जाल में वह आप ही फँस जाती है, उसी प्रकार स्वय बनाये हुए ममता के जाल में ममतावान् को फँसना पड़ता है। वृद्धावस्था की दुर्बलता मे उसकी अपनी मानी हुई चीजें छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और ममता ज्यों-की त्यों ताजी बनी रहती है। ऐसी दशा में ममता को जब बाहरी खुराक मिलना बद हो जाता है, तो वह भीतर-ही-भीतर हृदय को खोखला करने लगती है। जिस डाल पर वह बैठती है, उसी को काटती है—जिस मन में निवास करती है, उसी का खून

चूसती है, हृदय को जलाती है और शान्ति का सत्यानाश कर देती है; कदाचित् पुण्य का योग हुआ और उसकी अपनी मानी हुई वस्तुओं को लूटनेवाला या हिस्सा बँटानेवाला दूसरा कोई तैयार न हुआ, तो भी जब मृत्यु का अनिवार्य आक्रमण होगा, तब उन वस्तुओं को छोड़ना ही होगा—उस समय बचाव की कोई युक्ति काम नहीं आ सकती। इस समय भी यदि ममता की जड़ हृदय से न उखड़ गई तो मरनेवाले को मौत की अपेक्षा ममता की पीड़ा अधिक सहन करनी पड़ती है, फिर भी परिणाम-स्वरूप हाथ कुछ आता नहीं। 'मान न मान मैं तेरा मेहमान' इस कहावत के अनुसार मृत्यु रूपी लुटेरे के दबाव से तो जबर्दस्ती हरेक चीज़ का अधिकार त्यागना ही पड़ेगा, पर त्यागते समय उसकी आँखों में से आँसुओं की धारा फूट पड़ती है। हाय! हाय! यह मेरी हवेली, मेरा बगीचा, मेरी गाडी, मेरी स्त्री, मेरी माला, मेरा हार, मेरा हाथी, मेरा साथी, हाय! सब कुछ मुझे त्यागना पड़ता है! इस प्रकार हाय तोबा करते-करते, चीख-चिल्लाहट मचाते-मचाते, जमीन पर सर पटकते-पटकते उसके प्यारे प्राण शरीर को अन्तिम सलाम करते हैं और हाथ ज़मीन पर लटक जाते हैं। मन-की मन में रह जाती है और सञ्चित सम्पत्ति दूसरों के अधिकार में चली जाती है। उसकी सम्पत्ति और सब साथी-संगी यहीं रह जाते हैं सिर्फ मृत व्यक्ति अकेला परलोक का प्रवासी बनता है। इस विकट समय में सब उसका साथ छोड़ देते हैं, परन्तु धर्म, अधर्म, पुण्य, पाप, उसके साथ ही जाते हैं, अतएव ग्रंथकार समझाते हैं—हे भाई! जो ममता मृत्यु के समय

तुझे सर्प की तरह डसेगी, रोवा पीक मचवायेगी, अत्यन्त दुःख-दायक होगी, उसमें अभी से थोड़ी-थोड़ी कमी करता जा। जवानी में न सही, वृद्धावस्था में तो उससे अपना पिंड छुडा ले, नहीं तो अपने ही पैर पर कुल्हाड़ा मारना पडेगा—तेरी ही ममता तुझे दुर्गति में घसीट ले जायेगी। अत: ममता को दूर कर, उसके स्थान पर समता की स्थापना कर। ज़रा-सा परिवर्तन तो करना ही है—सिर्फ एक अक्षर का, 'म' की जगह 'स' ही बनाना है। ॥२६॥

अन्त में निस्सहायता

तव किल विलपन्ती तिष्ठति स्त्री गृहाश्रे,
प्रचलति विशिखान्तं स्नेहयुक्ताऽपि माता।
स्वजनसमुदयस्ते याति नूनं वनान्तं,
तनुरपि दहनान्तं निस्सहायस्ततस्त्वम् ॥२७॥

स्त्री का सम्बन्ध स्वार्थमय है

द्विरदगमनशीला प्रेमलीला किलेयं,
तव हृदय विरामा केलिकामाति वामा।
इह जनुषि सदाप्या स्वार्थसिद्धेः सखी ते,
मृतिमुपगतवन्तं साश्रयेन्ना क्षणं त्वाम् ॥२८॥

अर्थ—जिस स्त्री को तू अपनी मानकर प्रेम करता है, वह तेरी स्त्री मृत्यु के समय विलाप करती हुई घर के एक कोने में बैठ रहेगी। तुझ पर स्नेह रखनेवाली तेरी माता भी घर से बाहर निकल कर गली

तक पहुँचाने आयेगी—वहाँ से वापस लौट जायेगी। तेरे कुटुम्बी और सगे-सम्बन्धी कदाचित् और आगे तक साथ देंगे, तो श्मशान-भूमि तक आवेंगे, वे उससे आगे साथ नहीं दे सकेंगे औरों की तो बात ही क्या है, तेरा यह शरीर भी, जो अत्यन्त निकट का सम्बन्धी है, जिसका सहकार अन्य तमाम वस्तुओं की अपेक्षा अधिक समय का है, क्या तेरा हो सकेगा? कदापि नहीं। यह भी श्मशान भूमि में राख हो जायगा। तुझे तो सब से बिछुड़कर निस्सहाय हो अकेले ही गमन करना होगा॥ २७॥

हे भद्र! तेरी स्त्री तेरे पैरों में गिरती है। तू कटुवचन कहता है तो उन्हें सुनकर सहन कर लेती और प्रेम-भाव दर्शाती है। तेरी इच्छा के अनुसार वर्त्ताव कर तेरे हृदय को प्रमुदित करती है। अनुकूल चेष्टा और हाव-भाव से तेरी मनोकामना पूरी करती है। क्या तू जानता है यह सब वह किस मतलब से करती है? क्या आन्तरिक प्रेम के कारण? नहीं-नहीं। स्वार्थमय प्रेम के कारण यह सब दिखावा किया जाता है। जब तक तू उसे मुँह माँगी वस्तु, वस्त्र, आभूषण आदि लाकर देता है, तब तक ही उसका प्यार है। तेरे द्वारा सिद्ध होनेवाला स्वार्थ सधा नहीं कि प्रेम का अन्त आया नहीं। इस जन्म में भी जब स्वार्थ-सिद्धि तक ही सगापन नजर आता है, तो परलोक के लिए प्रयाण करते समय वह स्त्री एक भी क्षण आश्रय दे सकेगी, यह आशा रखना एकदम मिथ्या है॥ २८॥

विवेचन—पहले के काव्य में ममता का स्वरूप बताया गया है।

उस ममता के पात्रों का सबध किस प्रकार का है, यह बात इन दो काव्यों में बतलाई गई है। एक जीव का दूसरे जीव के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह दो प्रकार का है। एक जन्म सम्बन्ध, दूसरा ऐच्छिक सम्बन्ध। जिस कुल में जन्म लिया है, उस कुल के मनुष्यों के साथ माता, पिता, भाई, बहन, आदि का सम्बन्ध जन्म-सम्बन्ध है। स्त्री और उसके संबधियों के साथ जो संबध स्थापित किया जाता है, वह ऐच्छिक सबध है। मित्रता भी इसी प्रकार मे सम्मिलित है। जीव वस्तुतः एक होने पर भी अपने को अनेक रूप में समझता है। 'मै अकेला नहीं हूँ, वे सब सबधी मेरे हैं, मेरा बडा कुटुम्ब है,' मुझे चिन्ता किस बात की है। ऐसा समझकर वह किसी प्रकार तसल्ली कर लेता है। यह मान्यता उल्लिखित सबधों के कारण पैदा होती है। इन सम्बन्धो में जीव को एक प्रकार की मधुरता का आस्वाद मिलता है। इन्हीं के कारण जीव को एक तरह का अहकार होता है। इन सबधों की मधुरता, रमणीयता और स्थायिता कहाँ तक है, इसी विषय पर यहाँ विचार किया गया है। ग्रथकार कहते हैं—माता, पिता, भाई, बहन, स्त्री, पुत्र, पुत्री आदि अदरूनी सम्बन्धी और मामा, मौसा, भुवा, समधी, दामाद, आदि बाहर का सबध कहीं-कहीं रमणीय अवश्य प्रतीत होना है, पर ज़रा गम्भीर दृष्टि से गहरा विचार कर देखा जाय, तो मालूम होगा कि यह रमणीयता वास्तविक नहीं है। माता-पिता, पुत्र का पालन-पोषण करते हैं। पुत्र के आराम के लिए कितनी ही कठिनाइयों को अपने माथे ले लेते हैं। रुपये-पैसे खर्च करके पढाने-लिखाने का प्रबन्ध करते हैं। यह सब

अवश्य होता है, पर आम तौर पर मा बाप को प्रेरणा करने में मा बाप की स्वाभाविक इच्छा है- या पिता पुत्र का सम्बध, अथवा कोई और कारण है ? प्राय देखने में यही आता है कि माता पिता पुत्र का लालन पालन स्वाभाविक प्रेरणा के वश हो करते हैं—और उनके प्रति पुत्र का प्रेम भी स्वाभाविक होता है। परन्तु इस स्वाभाविक प्रेम और स्वाभाविक सम्बन्ध के परदे में स्वार्थ निहित है। माता पिता का पुत्र के प्रति, और पुत्र का माता पिता के प्रति जो स्नेह और सम्बन्ध है—उसका वास्तविक कारण स्वार्थ है। माता पिता समझते हैं कि यह बड़ा होकर कमाएगा और हमारा—जब हम थक जाएंगे—लालन पालन करेगा। हमें कमा कर देगा, हमारा नाम कायम रखेगा। इस तरह पुत्र अनेक आशाओं को सफल करने का साधन मात्र है। इसी लिए उनके सम्बन्ध में मिठास रहती है। किन्तु जैसे ही उनकी समझ में यह बात आ जाती है कि यह पूत कपूत है, हमारा लालन पालन नहीं करता—हमें कमा कर नहीं देता, दुराचारी है—और हमारा नाम बदनाम करता है—तो क्या माता पिता का पुत्र के प्रति प्रेम रहता है ? क्या उस स्वाभाविक और प्राकृतिक स्वभाव में मिठास रहती है। कदापि नहीं। एक क्षण भी उनके सम्बन्ध में मिठास नहीं रहती। जैसे ही स्वार्थ की मात्रा में त्रुटि आती है प्रेम सम्बन्ध शिथिल हो जाते हैं। स्वाभाविक प्रेम का परदा उसी क्षण उठ जाता है—और सचाई प्रकट हो जाती है। बाकी सम्बन्धियों की प्रेम-लीला का भी यही हाल है। संसार में माता पिता और पुत्र से बढ कर और क्या सम्बन्ध हो सकता है ? जब वही स्वार्थपूर्ण और अस्वाभाविक सिद्ध हुआ—तो बाकी सम्बन्धियों की तो चर्चा ही क्या है ?

दृष्टान्त—कुन्दनपुर नामी शहर में एक लखपति सेठ रहा करता था। उसकी एक पुत्री और एक पुत्र—२ सन्तानें थीं। पुत्र का नाम फकीरचन्द और पुत्री का नाम चन्दा था। सेठ ने योग्य आयु में दोनों का विवाह कर दिया। कुछ दिन बाद सेठ का देहान्त हो गया। सारा कारोबार फकीरचन्द के हाथ आ गया। भाग्य की अजब लीला है। मनुष्य की कभी एकसी दशा नहीं रहती। यहां राजा को रंक और रंक को राजा बनते देर नहीं लगती। सूर्य की एक दिन में तीन अवस्थाएं बदलती हैं—सुबह सवेरे जब निकलता है—तेज कम होता है, दोपहर को उसका तेज असह्य बन जाता है—शाम को वह निस्तेज और प्रकाशहीन हो जाता है, संसार में अंधकार छा जाता है। यदि मनुष्य की अवस्था बदल जाए तो फिर आश्चर्य क्या! पिता का तो स्वर्गवास हो ही गया था—व्यापार में भी दिनों दिन घाटा आने लगा। कारबार गिरने लगा। जिस कारिन्दे के जो हाथ लगता—खा जाता। पूंजी और व्यापार को दिनों दिन घटता देख कर फकीर चन्द को चिंता हुई। पर वह कोई उपाय न कर सका। आखिर एक दिन वह भी आ गया जब लखपति फकीर चन्द फकीरचन्द हो गया। सम्पत्ति जाती रही। देनदारी बढ़ गई। कुछ देर तो सम्बन्धियों ने भी साथ दिया। पर वे कब तक साथ निभाते? विपत्ति पड़ने पर और फिर गरीबी आने पर सम्बंधी कब आंख मिलाते हैं! फकीरचंद के घर में अन्न-वस्त्र तक की तंगी हो गई। शरीर तो भला फटे पुराने चीथड़ों से भी ढका जा सकता है—पर पेट तो रोटी मांगता है—वह किसी और चीज से सन्तुष्ट नहीं होता। भूख और दुख से तंग आकर फकीरचंद ने पत्नी को उस के पीहर भेज दिया और स्वयं परदेस के लिये चल खड़ा

हुआ। जो फकीरचन्द कभी घोड़ा गाड़ी के बिना एक कदम भी न चलता था—आज उसे इतनी लम्बी यात्रा पैदल करनी पड़ी। हा दैव! तुम्हारी गति विचित्र है। पर मनुष्य भी जैसा समय आता है—वैसा ही बन जाता है। किसी दिन फकीरचन्द के शरीर पर हजारों के मूल्य के वस्त्र रहा करते थे और वह लाखों के मूल्य के हीरे माणिक्य पहना करता था—पर आज तो फटे पुराने चीथड़ों के सिवाए उसके शरीर पर और कुछ नहीं था। चलते चलते फकीरचन्द को ध्यान आया कि इस राह में बहिन का घर आता है—और वह घर बड़ा धनी है। चलो, बहिन को भी मिलते चलें। शायद वहीं आश्रय मिल जाए। यह सोच कर वह उस गांव की ओर चल दिया। उसे इस फटे पुराने हाल बहिन के घर जाते लज्जा भी आई। क्या ऐसी दशा में मुझे वहां आदर मिलेगा? उसके मन में प्रश्न उठा। आखिर वह अनेक संकल्प विकल्प करता हुआ बहिन के घर पहुँच ही गया। उस समय फकीरचन्द ने एक फटी पुरानी सी धोती बांध रखी थी, तीन चार जगह से फटा हुआ अंगरखा पहना हुआ था। पगड़ी की हालत भी बहुत बुरी थी, पांव में जूती न थी। इस लिये पांव धूल से भरे हुए थे। बाएं हाथ में एक थैला था जिस में कुछ सामान पड़ा हुआ था। धनहीन होते ही मुख की कान्ति भी जाती रही थी। फिर मुसाफिरी के कष्टों ने और भी निस्तेज कर दिया था। चेहरे से ही दरिद्रता टपक रही थी। आंखों से निराशा बरस रही थी। दरिद्र फकीरचन्द को बहिन पहचान भी न सकी। परिचय पाकर भी उसने फकीरचन्द का आदर न किया और आवेश में आकर बोली—तू दरिद्र मेरा अपमान करता है! उस ने सोचा यह भिखारी यहां से किसी तरह चला जाए तो ही ठीक है। यदि

इसे यहा खाने पीने को मिला तो यह यहीं रह जाएगा। इस लिए इस का अपमान करना चाहिए जिस से यह यहा से भाग जाए। फकीरचन्द यों ही खडा रहा—उसे बैठने को किसी ने नहीं कहा। जब सगी बहिन ने आदर सत्कार न किया तो फिर दूसरा कौन आदर देता ? भाई बोले बगैर ही एक खाट पर बैठ गया। घर के सभी व्यक्ति भोजन कर गए—पर उसे किसी ने भी न टोका! सहनशील होने पर भी मनुष्य को इस प्रकार का अनादर और उदासीनता देखकर खेद तो होता ही है। फकीरचन्द सोचने लगा कि यदि यहा न आया होता—तो ही अच्छा था। मैं तो बहिन की हालत अच्छी देख कर आश्रय लेने की आशा से यहा आया था—वह आशा तो दूर रही यहा तो आश्वासन भी न मिला। हा देव! यह दोष किसी का भी नहीं है। मेरी दशा का ही दोष है। यह अनादर तो मौत से भी बढकर दुखदायी है। हे प्राण! तू इस अभागे शरीर को क्यों नहीं छोड़ जाता। आखिर किसी ने अफसोस करते हुए भाई फकीरचन्द को खाना खाने के लिए कहा। फकीरचन्द भोजन करने गया—पर वहा भी अपमान ही पल्ले पडा। अच्छे भोजन की आशा की थी—पर भाग्य तो साथ था। नौकर चाकरों की पक्ति में बिठा कर खट्टी छाछ और मोटी रोटी मिली। बहन के घर कई साल बाद आकर भी यह व्यवहार हुआ—यह बात फकीर चन्द के लिए कम दुखदायक न थी। पर इसका उपाय क्या था ? यदि वह ठाठ बाट से आता और बहन को कुछ भेंट देता तब तो अच्छा आदर सत्कार होता। पर आज अच्छी तरह बात कौन पूछता! पाठक! सांसारिक सम्बन्धों की वास्तविकता का यह कैसा वीभत्सरूप है! जब फकीरचन्द खट्टी छाछ और रोटी नौकरो के साथ

बैठा गा रहा था तो बहन अन्दर पलग पर आराम कर रही थी। अधिक रोटी देने का आग्रह कौन करता ? गुस्से और खेद को दबा कर फकीरचन्द हाथ धो कर खाट पर आकर पड रहा। खेद और दिलगीरी से नींद कहां आनी ? कुछ देर बाद उसे अन्दर से अपनी बहन और उसकी सहेलियों के हास परिहास की आवाज सुनाई दी। उनमें से एक ने पूछा यह सामने खाट पर जो महमान पड़ा है-वह कौन है ? चन्दा बहन को सच्ची बात कहते शर्म आई। हिचक कर बोली यह हमारे पीहर के गाव का आदमी है। दूसरी सखी बोली—तो क्या यह तुम्हारा सम्बन्धी है ? चन्दा बोली—ना, सगा सम्बन्धी कुछ भी नहीं है। पहले हमारे बाप के घर में रसोइ बनाया करता था। अब भी वहीं नौकर है बहन की इन बातों ने फकीरचन्द के मर्माहत दिल पर तीर की तरह चोट की। अब उसे वहां एक क्षण भी ठहरना भारी हो गया। वह तुरन्त उठा और अपना थैला उठा कर चल दिया। उसे बहन किसी ने न पूछा कि अब इस समय रात को कहां जा रहे हो ? उसे अधिक अफसोस इस बात का था कि मैं इतने प्रेम से बहन को मिलने आया था--पर वह मुंह से भी नहीं बोली, हाल चाल नहीं पूछा। पर अब अफसोस करने से क्या लाभ ! गरीब का सहायक तो ईश्वर ही है। उसी का आधार लेकर वह चल दिया। आखिर किसी देश में पहुंचा और कुछ धन्दा करने लगा। समय ने पलटा खाया। दिनों दिन लक्ष्मी की कृपा होने लगी। ५-१० वर्ष में उसने भारी सम्पत्ति पैदा करली और स्वदेश की ओर चला। इस बार भी वह उसी राह से आया जिस में बहन का गाव आता था। इस बार सेठ फकीरचन्द अकेला नहीं था, नौकर चाकरों का लाव लश्कर

साथ था। दो चार सिपाही और घोड़ा गाडी भी थी। अमीराना ठाठ था। वह बहन के घर न जा कर गाव के तालाब के किनारे पर ठहरा। पनहारियो ने किसी यात्री का यह वैभव और ठाठ देख कर कौतूहल पूर्वक उसका परिचय पूछा और चन्दाबाई को जा कर खबर दी। भाई को इस वैभव के साथ आया सुन कर बहन प्रसन्न हो उठी—और उसके स्वागत का प्रबन्ध करने लगी। शृङ्गार कर के और २-४ सखियो तथा नौकरों को लेकर वह उस डेरे पर तालाब के किनारे पहुची। भाई से मिली और बोली—भाई! यह तू ने क्या किया? क्या हमारा यहां घर नहीं था जो तू तालाब के किनारे आकर ठहरा? तू क्यों हमारा अपमान और मजाक कराता है? भाई! तुझे यह खयाल क्यों न आया! तू पैसे वाला है—हमारे घर जवार बाजरे की ही रोटी खा लेता भाई बोला—बहन! मै अकेला नहीं था। मेरे साथ और भी बहुत से आदमी हैं फिर सामान भी बहुत है। इसे कहा रखते उठाते फिरेंगे? इसलिए अब तो माफ कर। फिर कभी तुम्हारे घर आऊगा।

चन्दा—वाहरे भाई वाह! बहन पर तू दया तो बहुत रखता है, भाई चिन्ता कोई नहीं। परमेश्वर की कृपा है। तुम्हारे प्रताप से रोटी पानी की तगी नहीं है। तुम्हारे खा जाने से कोई घाटा तो आ नहीं जायगा? इसलिए मेरा आग्रह मत टालो। तुम्हे भोजन कराये बिना अन्नजल करना मुझे हराम है।

सेठ फकीरचन्द ने मन में विचार किया 'एक दिन वह भी था जब बहन मुह से भी न बोली थी और रोटी खाने को भी न पूछा था एक दिन आज है। वह मुझे भोजन कराये बिना अन्न जल करना

हगाम बना रही है। जब बहन इतना आग्रह करती है तो चलो।' नौकर चाकरों और सामान समेत वह बहन के घर चला गया। आज चन्दा के हर्ष का वार पार न था। भाई की सेवा में २-४ नौकर लगा दिए। दासियां रसोई बनाने लगीं। तेल से मालिश करा कर भाई को स्नान कराया। सोने चान्दी के बरतनों में भोजन परोसा गया। फकीरचन्द खाने बैठा। बहन मोतियों से जड़ा हुआ पंखा लेकर हवा करने लगी। एक एक चीज कह कर परसवाने लगी। भोजन करते करते फकीरचन्द सोचने लगा यह इतना आदर किस का हो रहा है? मैं तो वही का वही हूं। अन्तर केवल वस्त्रों का है। उस दिन फटे पुराने कपड़े थे—आज अच्छे वस्त्र हैं। इसलिए यह सन्मान मेरा नहीं—उजले वस्त्रों का है। बहन जानती है कि भाई पहली बात को भूल गया होगा। पर वह अपमान और अनादर मुझे कभी विस्मृत हो सकता है? फकीरचन्द एक एक गहने को उतार कर थाल में रखने लगा। अरी माला! अरे हार! यह षट्रस भोजन तेरे लिए ही बना है। खा! मुझे भी आज यह पदार्थ तुम्हारे प्रताप से ही मिल रहे हैं! बहन भाई की ऐसी बातें सुनकर हैरान हो गई और बोली भाई तुम यह क्या कह रहे हो? यह भोजन करने का कौन ढंग है?

फकीरचन्द ने कहा—बहन! मैं तो चूल्हा फूंकने वाला रसोइया हूँ। दस बरस पहले तेरे घर में मेरा जो अपमान हुआ था—उसे मैं भूला नहीं हूँ। परन्तु उसमें तेरा कोई दोष नहीं था। वह मेरा दुर्भाग्य था। चन्दा यह सुनकर झेंप गई और अपनी भूल के लिए क्षमा मांगने लगी। भाई ने क्षमा के साथ ही मय भारी रकम भेंट में दी। बहन का भारी आग्रह देख कर वहां २-४ दिन रहा और फिर चल पड़ा।

हर जगह स्वार्थ प्रधान है । यदि स्वार्थ न हो तो माता पिता, सन्तान, बहन, भाई और पति पत्नी कोई किसी की बात न पूछे। कौन सेठ और कौन नौकर ? सब स्वार्थ से बन्धे हुए हैं । समय पड़े पर कोई किसी के काम नहीं आता । अपवाद हैं सही—पर ऐसे आदमी विरले निकलते हैं । मृत्युकाल का साथी कोई नहीं है । स्त्री घर के कोने में सिर छिपा कर रोने लगती है । मा याद आने पर रोया करती है, सम्बन्धी श्मशान से लौट आते हैं । फिर साथ देने वाला रहा कौन ? देह भी श्मशान में ही जल जाती है । जैसे ही अकेला आया था वैसे ही अकेले जाना भी पड़ेगा ।

मित्रों की सहायता

विपुल विभव सारं रम्यहारोपहारम् सकृदपि ।
च दत्वा तोषिता ये सखायः ।
अति परिचय वन्तस्तेप्य दूरं वसन्तः ।
भयदमरण काले किं भवेयु सहायाः ॥२६॥

अर्थ—जिन मित्रों को विपुल वैभव का सार समर्पित कर या अच्छे अच्छे हारों और मालाओं का उपहार देकर प्रसन्न किया है, जिनके साथ लम्बे समय का परिचय और गाढ़ सम्बन्ध हैं, वे मित्र अन्तकाल की बीमारी के समय पास बैठे भी होंगे परन्तु क्या वे तेरा दुःख बँटा कर सहायता कर सकेंगे या मृत्यु के समय तेरे साथ जा सकेंगे ? नहीं, जीवनांत के साथ ही मित्रों की मित्रता का भी अन्त आ जायगा । तू मान ले कि अन्त में तू अकेला ही है ॥ २६ ॥

विवेचन—ऊपर की कविता में मित्रता के सम्बन्ध का विचार कर

अन्त में उसकी सहायता का अभाव भी बताया है। साधारणतया मित्र तीन प्रकार के हैं। कनिष्ट, मध्यम और उत्तम। जो मित्र अपना स्वार्थ निकालने के समय तक प्रेम प्रदर्शित करते हैं, देने की नहीं, मित्र से कुछ न कुछ लेने की ही आशा रखते हैं, ऊपर से मीठी मीठी बोली बोलकर भीतर से स्वार्थ साधन का षड्यन्त्र करते हैं, गुण के स्थान पर अवगुण करते हैं, ऐसे मित्रों को अधम-कनिष्ठ मित्र कहा जा सकता है।

दृष्टांत—वामदेव और रूपसेन की मित्रता इसी प्रकार की थी। वामदेव ब्राह्मण का और रूपसेन बनिये का लड़का था। दोनों के घर पास-पास थे अतएव दोनों की मित्रता लड़कपन से चली आ रही थी। दोनों एक ही पाठशाला में साथ ही साथ पढते थे। विद्यालय के बाहर भी दोनों एक ही जगह पर मिलकर बैठते थे। उन दोनों मित्रों के परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। बड़े होने पर दोनों ने अपनी अपनी जाति की साधारण कुटुम्ब की लडकी के साथ विवाह भी किया, परन्तु कुटुम्ब के निर्वाह होने लायक आमदनी न होने से वामदेव ने रूपसेन से कहा, कि हमको परदेश चलना चाहिये। परदेश गये विना पैसा पैदा न होगा। रूपसेन को भी पैसे की जरूरत थी। अतएव दोनों मित्रों का मन मिल गया। अपने अपने माता पिता से आज्ञा लेकर दोनों परदेश चल दिये। बम्बई या कलकत्ता जैसे बड़े शहर में पहुँच गये। व्यापार के लिए तो लम्बी पूँजी चाहिए और वह इनके पास थी नहीं, अतएव नौकरी ढूढ कर दोनों अलग अलग जगहों पर नौकर होगये। रूपसेन बनिये का बेटा था इसलिए उसमें

व्यापार के स्वाभाविक सस्कार थे और प्रकृति भी अच्छी थी, अतएव उसका मालिक उसे दिन दिन प्यार करने लगा और उसकी तनख्वाह भी हर साल बढने लगी। सच्चाई, समझदारी और स्थिरता होने से मालिक प्रसन्न हो ही जाता है। दो-तीन वर्ष बाद इनाम में उसका हिस्सा रख दिया गया और रूपसेन सेठ का विश्वास पात्र हिस्सेदार बन गया। दूकान की वार्षिक आमदनी अच्छी थी और रोज़गार बिना जोखिम का था, इससे रूपसेन के पास पैसा जमा होने लगा। दूसरी ओर वामदेव के व्यापार के सस्कार भी न थे, वह लालची भी था और अस्थिर भी। वैसे भी वाछित ईमानदारी का भी अभाव था—फलत उसका कहीं पैर ही न टिकता था। महीने दो महीने में ही उसे मालिक बदलना पडता था। दूसरी जगह ढूढना और वहाँ वामदेव को रखने का काम भी रूपसेन को ही करना पडता था। जरूरत पर जमानत देनी पड़ती थी। रूपसेन का व्यापारी वर्ग में बहुत मान था अतएव उसकी ज़मानत सब मान लेते थे। जब वामदेव खाली बैठा रहता था, तब उसका खर्चा भी रूपसेन ही चलाता था और घर भेजने के लिए रुपया भी देता था। वह सोचता था कि वामदेव मेरा मित्र है, हम दोनों साथ आये हैं, मित्र की सहायता करना मेरा धर्म है। जब रूपसेन वामदेव के साथ ऐसा भला व्यवहार कर रहा था तब वामदेव ऊपर से तो मीठा बना रहता था, परन्तु भीतर ही भीतर उसकी उन्नति देखकर ईर्ष्या से जलता था और चाहता था कि इसकी हालत खराब हो जाय। मुझे कुछ मिलता नहीं और रूपसेन कमाता है—

यह ठीक नहीं। यह भी मेरी ही तरह रहे तो अच्छा—यह भावना वामदेव के मन में हमेशा बनी रहती। लेकिन जब तक पुण्य का सितारा चमकता है तब तक कितने ही शत्रु क्यों न हों, कोई कितनी ही बुराइयाँ क्यों न सोचता रहे—उसका किसी का बिगड़ ही क्या सकता है? वामदेव के हृदय में ईर्षा जैसे जैसे बढ़ती गई रूपसेन का लाभ भी वैसे ही वैसे होता रहा और वह वामदेव की सहायता भी करता रहा। वामदेव के कूट-कौशल से रूपसेन को उसकी आन्तरिक इच्छा का पता आज तक न चला। भला आदमी सब को भला और बुरा आदमी सब को बुरा ही समझता है—यह एक सामान्य नियम है। रूपसेन ने वामदेव की इतनी सहायता की लेकिन वह उसकी कोई न कोई बुराई ही देखता रहता। एक दिन रूपसेन ने वामदेव से कहा—मित्र! घर से बहुत बुलावे आये और हमें भी घर छोड़े बहुत दिन हो गये अतएव अब हमें चलना चाहिये। वामदेव बोला, भाई! तुम्हारे लिए घर जाना खुशी की बात है, कारण तुमने अच्छी रकम पैदा कर ली है, लेकिन मैं घर कैसे जाऊँ? इतने दिन परदेश में रहा लेकिन जेब तो खाली ही है। जब माता-पिता और गाँव के लोग पूँछेंगे तो क्या जवाब दूँगा? तुम प्रसन्नता के साथ जाओ, मैं तो अभी न जाऊगा। रूपसेन ने कहा, मित्र चिन्ता न करो। मुझे जो रकम मिली है उसमें से तुम्हें भी दूगा। ऐसा समझ लूगा कि मुझे पाँच हज़ार कम मिले हैं। हम जैसे साथ आये थे वैसे ही साथ चलेंगे। वामदेव ने स्वीकार कर लिया। एक दिन दोनों घर की तरफ चले।

उन दिनों रेल तो थी नहीं, पैदल के रास्ते से गाड़ी पर यात्रा करनी थी। रास्ते में वामदेव को अपने कुटिल स्वभाव के अनुसार रूपसेन का सारा धन छीन लेने की दुष्ट-वृत्ति जाग्रत होगई। रूपसेन के जीते जी तो उसकी इच्छा पूरी होने वाली न थी। अतएव उसने अपने मित्र को मार डालने का विचार ठीक किया और मौका ढूँढ़ने लगा। बीच जंगल में एक जगह दो रास्ते फूटे थे। वामदेव ने सामान की गाड़ियाँ तो एक रास्ते से भेज दीं और रूपसेन से यह कहकर कि दूसरे रास्ते से जल्दी पहुँच जायँगे—दूसरा रास्ता पकड़ लिया। साथ के आदमियों को आगे पीछे भेज कर उसने एकान्त स्थान खोजा और थकने के बहाने से वहाँ ठहर गया। थोड़ी देर में रूपसेन की आँखें नींद से भर आईं तो वामदेव ने कहा कि तुम सो जाओ। जब रूपसेन सोगया तब वामदेव ने अपने पास से गुप्ती निकाली, आस-पास नजर दौड़ाई और जब देखा कि कोई आता जाता नहीं तब रूपसेन की छाती पर चढ़ बैठा। रूपसेन जागा और घबड़ा कर पूछने लगा—वामदेव! यह तुम्हें क्या सूझा? मेरी छाती पर क्यों बैठे हो?

वामदेव—बस, रूपसेन! अब मैं तुम्हारा मित्र नहीं, अपने इष्टदेव का ध्यान करो तुम्हारा अन्तिम समय आगया।

रूपसेन—लेकिन क्यों? मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? मैंने तुम्हारी मदद की है, पैसा दिया है, नौकरी दिलाई है। उस सब का यह बदला!

वामदेव—हाँ, उसी का बदला है। अब सब कामों को याद करने

और गिनने का समय नहीं। मै फिर कहता हू अपने इष्टदेव का ध्यान करो!

रूपसेन—अरे, तुम मुझे किसी तरह न छोड़ोगे? तुम्हे पैसा चाहिए तो ले जाओ लेकिन मेरी जान न लो।

वामदेव—अब इन बातो से काम न चलेगा। मैं किसी भी तरह तुम्हे न छोड़ूगा। तुम्ह माँ-बाप से कुछ कहना हो तो कह दो!

रूपसेन—अच्छा भाई, तुम्हारी जैसी इच्छा, मै अब क्या कहू। फिर भी यदि मेरे माँ-बाप बहुत रोये-धोये तो ये चार अक्षर कह देना 'वा० रू० घो० ल०।'

रूपसेन ने सोचा कि यह सच्ची बात तो कहेगा नहीं। मेरा धन हजम करने के लिए उल्टी-सीधी बातें बनायेगा। इस लिए इन मर्म भरे शब्दों में समाचार देना ही ठीक है। रूपसेन ने वा० रू० घो० ल० का उच्चारण किया ही था कि वामदेव ने गुप्ती गले मे पार कर दी वामदेव ने ब्राह्मण होकर भी धन के लोभ में दुष्ट राक्षस की तरह हजारों बार उपकार करने वाले मित्र के प्राण ले लिए। रूपसेन की लाश को गढे मे डाल कर यह वहाँ से चल दिया और सामान वाली गाडियों के पास पहुँच गया। गाड़ी वालों को बता दिया कि रूपसेन आगे चला गया है और यात्रा आगे बढ़ा दी। रास्ते में पुराने आदमियों को निकाल कर नये आदमी और नई गाडियाँ ले लीं। जिसमे कोई यह न कहे कि यह दौलत दूसरे आदमी की है। रूपसेन की सारी दौलत को हजम कर लेने से खुश होता हुआ वामदेव अपने घर पहुँचा।

मां बाप और सगे सम्बन्धियों से मिला। उसकी इतनी ज्यादा कमाई देखकर सब उसे मान की दृष्टि से देखने लगे। वामदेव भी उनके सामने अपनी चतुरता और व्यापार की बातें बना बना कर कहने लगा। रूपसेन के मा बाप वामदेव के आने की खबर सुनकर उसके पास अपने बेटे की खबर पूछने आये। वामदेव ने उन्हें प्रणाम कर कहा चाचा जी! आप रूपसेन के समाचार पूछने आये हैं परन्तु उनका हाल बताते हुए मुझे बहुत दुःख होता है। मैं और रूपसेन दोनों एक साथ परदेश गये थे, वहाँ जाकर काम में भी लग गये, लेकिन रूपसेन कहीं टिक नहीं सका, कहीं डटकर काम नहीं कर सका, मैंने उसकी बहुत सहायता की, अन्त मे मैं घर आने के लिए तय्यार हुआ, उससे भी मैंने साथ आने के लिए बहुत कहा, अपनी कमाई में से उसे कुछ भाग देने का विश्वास दिलाया, लेकिन उसने नहीं माना। अन्त में मैंने पूछा कि तुम्हें कोई सदेशा देना है तो उसने कहा मैंने कुछ पैदा नहीं किया समाचार क्या दूं! मेरे बार बार कहने पर उसने कहा कि वा० रू० घो० ल० यह चार अक्षर मेरे माता-पिता से कह देना। फिर वह न जाने कहाँ चला गया और मैं यहाँ चला आया।"

इस खेदजनक समाचार से रूपसेन के घर में कोहराम मच गया। इतने बरस परदेश में रहने के बाद भी उसने कुछ कमाया नहीं—एक तो यह निराशा, इसके सिवा वह कोई समाचार भी न देकर न जाने कहाँ चला गया—इस बात से सब को दुःख होने लगा। बाद में वा० रू०घो०ल० का क्या अर्थ है, उन्हें यह जानने के लिए उत्कण्ठा बढी।

कुछ लोगों को तो वामदेव की बातों पर शक हुआ, सब जानते थे कि रूपसेन काफी चतुर युवक था फिर वह परदेश मे असफल कैसे रह गया—इन बातों ने लोगों की शका बढ़ी—और एक दिन रूपसेन के पिता ने राज दरबार में वा० रू० घो० ल० का अर्थ जानने के लिए प्रार्थना कर दी। राजा ने पण्डितों को बुलाया और उनसे इन चार अक्षरों का अर्थ बतलाने के लिए कहा। पण्डित भी चक्कर में पड़ गये।

"वा-रू घो-ल" यह कोई एक शब्द नहीं था। आखिर एक विद्वान् को सरस्वती का साक्षात्कार प्राप्त था, उस ने राज सभा मे इन का अर्थ इस प्रकार किया —

उस ने 'वा' से वामदेव और 'रू' से रूपसेन, 'घ' से घोर और 'ल' से लक्ष, बनाया गया। अर्थात् वामदेव का मित्र बनने से रूपसेन नामी व्यक्ति को घोर निद्रा की अवस्था में एक लाख रुपये प्राप्त हुए। रहस्य प्रकट हो गया। रूपसेन सम्बन्धी समाचार जब उस के पिता ने पूछे तो उसे सब कुछ मालूम हो गया। निश्चय हुआ कि वामदेव ने रूपसेन की सम्पत्ति छीनने के लिए एकान्त जगल में उस की हत्या कर दी। जब वह जगल में से जा रहा था तो रूपसेन ने वामदेव को ललकारा और धमकाया, पर वह जरा भी विचलित न हुआ। तब उसे निर्दयतापूर्वक मार दिया गया। बाद में रूपसेन ने यह सब बातें स्वीकार कर लीं। राज्य की ओर से उसका देहान्त सस्कार किया गया और उस की सारी सम्पत्ति उसके पिता को दिला दी।

वामदेव रूपसेन का मित्र था। पर वह स्वार्थी और कृतघ्न था। वह भलाई का बदला बुराई में दिया करता था। मित्रद्रोही होने के कारण वह अधमकोटि का मित्र था। यदि मित्र का उपकार न करे तो अपकार भी न करे, हर अवस्था में मित्रता का दम भरता रहे और अपनी आवश्यकता में मित्र से सहायता न पाने की दशा में यदि कोई मित्रता छोड़ दे - तो वह मध्यम कोटि का मित्र समझा जाता है। उत्तम कोटि का मित्र वही है जो हर अवस्था में, विशेषकर दुःख और विपत्ति में, साथ दे और मित्रता निभाए। पहले दो प्रकार के मित्रों का जगत् में कोई और कहीं अभाव नहीं है। परन्तु तीसरी प्रकार के मित्र ससार में विरले ही मिलते हैं। इस श्लोक में यही दर्शाया गया है कि अधम और मध्यकोटि के मित्र विपत्ति आने पर साथ छोड़ जाते हैं। पर उत्तमकोटि के मित्र प्रेम निभाते हैं। वह मृत्यु सकट उपस्थित हो जाने पर भी उसे बचाने का प्रयत्न करता है। परन्तु जब मौत का सन्देश आ जाता है तो वह भी पास बैठा रह जाता है और किसी प्रकार से सहायता नहीं कर सकता। और अकेले ही परलोक यात्रा करनी पड़ती है। (२६)

द्रव्य भी साथ नहीं जाता—

बहुजनमुपसेव्योपार्जित द्रव्यजातम्,
रचितमतिविशाल मन्दिर सुन्दर वा।
मृतिपथमवतीर्णे वेदनानष्टभाने।
तृणमपि नहि किञ्चित्त्वत्पथं चानुगच्छेत॥

अर्थ :—अनेक व्यक्तियों की सेवा करके पैदा किए हुए धन से विशाल और सुन्दर मकान बनवाए। जब तुझे मौत के घाट उतरना पड़ेगा तो क्या यह विशाल और अतुल वैभव तेरे साथ जाएगा? कदापि नहीं। अन्तिम समय परिजन, और यह सम्पत्ति तेरे साथ नहीं जायेगी। मृत्यु मार्ग में ये सब तेरा साथ छोड़ देंगी और उस राह तुझे अकेले ही सफर करना पड़ेगा। (३०)

विवेचन :—धन और सम्पत्ति का संग्रह करते समय इस बात का किसी को भी ध्यान नहीं आता कि सब चीजें मेरे साथ तो आई नहीं थीं, और न ही हमारी कल्पना और इच्छानुसार स्थिर रहेंगी। यदि मनुष्य इस वास्तविकता को समझ जाए और उसे इस जीवन की निस्सारता हृदयंगम हो जाए तो वह धनोपार्जन और धनसंग्रह करने में धर्म अधर्म और नीति तथा अनीति का अवश्य ही विचार करे। बात तो स्पष्ट है—पर लोभ का पर्दा बाधक बनता है और वास्तविकता को आँखों के आगे से ओझल कर देता है। लोभ और तृष्णा के कारण सत्यासत्य का निर्णय करने की शक्ति नष्ट हो जाती है और वह धन कमाने में धर्म अथवा अधर्म का विचार नहीं करता—कर नहीं सकता। चाँदी के सफेद टुकड़े पाने की आशा के सामने विवेक शक्ति तिरोहित हो जाती है। यह काम करना उचित है या नहीं—यह भी उसे सुझाई नहीं देता। मुम्मण सेठ की कथा इस बात को भली प्रकार स्पष्ट कर देगी।

दृष्टान्त :—श्रेणिक राजा के शासन-काल में राजगृही नामक नगर

में, महावीर स्वामी का मुम्मण सेठ नामी सेवक था। उस के जीवन का एक मात्र उद्देश, जैसे बने, धन कमाना था। वह हरेक काम में कंजूसी से काम लेता। "चाम जाए पर दाम न जाए"—यह उस का सिद्धान्त था। यह लोकोक्ति उस पर अक्षरश: चरितार्थ होती थी। वह स्वय न तो कभी एक घडी चैन करता और न कभी घर वालों को चैन से बैठने देता। काम करते रहना ही उसकी खुराक थी। जिस दिन वह अपने कोष में कुछ न कुछ डाल देता तो वह रात को चैन की नींद लेता। पर यदि किसी दिन कुछ कमाई न होती, तो उसे आधी रात तक नींद ही न आती। उसके घर में निकम्मे से निकम्मा अन्न खाया जाता था। फिर घी और खाण्ड जैसे पदार्थों की तो चर्चा ही क्या थी? घर वालों को कभी इन पदार्थों का दर्शन भी न होता। सब के शरीर पर फटे पुराने चीथडे होते थे जिन्हें वे गाँठें दे देकर काम चलाया करते थे। स्वय तो क्या दान देना था—पर जब वह दूसरों को भी दान देते या खर्च करते देख लेता था—तो उस रात भी उसे बेचैनी के मारे नींद न आती। एक दिन वह दुकान से घर आ रहा था। कि एक कजूस स्त्री ने उसका चेहरा बदला हुआ और ठण्डी साँसें लेते देखकर पूछा—

> सूमनी पूछें सूम को कहा से वदन मलीन?
> कहा गाँठ से गिर पडो, कहा किसी कू दीन?

उसने समझा होगा कि इसकी कोई दमडी या तो कहीं खो गई है और या इसने कहीं किसी को कुछ दे दिया है। इसी लिए इसकी यह

दशा हो रही है। मुम्मण ने उत्तर देते हुए कहा—

नहीं गाँठ से गिर पड्यो, नहिं काहू को दीन।
देतो दीठो और को, वा से वदन मलीन॥

अरी मूर्खा! क्या तू अभी तक मुझे जानती न थी? क्या मेरी गाँठ से पैसा निकल सकता है? जब तक बाहर की गाँठ न खुले—तब तक अन्दर की गाठ कैसे खुल सकती है? इस तरह क्या मैं किसी को दमड़ी दे सकता हू। मैंने राह में एक गृहस्थ को देखा। वह भिखारियों को अन्न वस्त्र बांट रहा था। उसे इस तरह अपनी सम्पत्ति लुटाते देख कर मेरे पेट मे दर्द हो गया है। चित्त विक्षुब्ध होगया है—और बेचैनी बढ गई है। बस इसी के मारे निढाल हूँ।

वह दिन मुम्मण सेठ के जीवन में महासकट का दिन था। उस दिन के बाद उसने उस गह से आना जाना ही छोड दिया, ताकि कोई याचक भीख माँगता और कोई दाता दान करता दिखाई न पड़े और फिर उसी प्रकार की वेदना न सहनी पडे। इस प्रकार लोभ और कजूसी मे उसने धन सग्रह किया। एक बार बरसात का मौसम था और चारों ओर पानी बरस रहा था। नदियों में बाढ आ रही थी आकाश मेघाच्छन्न रहता था। यहाँ तक कि कई कई दिन सूर्य दर्शन न होता। खराब मौसम के कारण काम काज बन्द हो गए। मुम्मण सेठ का दिन चिन्ता मे कटता। रात भर नींद न आती। बैठे बैठे खाना उसे बिलकुल पसन्द न था। उसका कायदा था कि जिस दिन काम न हो सके उस दिन वह स्वय तो उपवास करता ही

था—घर वालों से भी उपवास कराता! उस का विचार था कि आज जब कमाया ही नहीं है तो फिर खाएँ क्यों? पिछली कमाई में से खाकर उसमें घाटा क्यों डाला जाए? उसे उपवास करते करते चार दिन बीत गए। चौथे दिन रात के १० बजे भूख के कारण बेचैनी ने उसे सताया। जब नींद न आ सकी तो वह बाहर निकल आया। वह सोचने लगा—कहाँ जाऊँ! क्या करूँ! धन कैसे कमाया जाए? आखिर सोचते सोचते उसे एक विचार सूझा। अरे! गाँव के पास वाली नदी में बाढ आ रही है। उसमें लकडियाँ भी बहकर आई होंगी। चलो लकडियाँ ही पकडे। इस तरह सोचकर वह नदी के किनारे की तरफ चला—आधी रात का अवसर और फिर बरसात का मौसम होने से आकाश मेघाच्छन्न था—इस लिये चारों ओर घोर अन्धकार छाया हुआ था। छमाछम पानी बरस रहा था और कभी कभी बादल में बिजली भी चमकती थी। उस के सहारे वह राह देखता जा रहा था, श्याम वर्ण मुम्मण सेठ ने किनारे पर पहुँच कर लँगोट बाँध कर पानी में उतर लकड़ियाँ पकडनी शुरु कर दी। वह पानी से लकडियाँ पकड़ पकड कर किनारे पर जमा करने लगा। इसी नदी के किनारे पर श्रेणिक राजा का महल भी था। दैवयोग से राजा और रानी जल-विहार करते हुए उधर आ निकले। बिजली के प्रकाश में रानी ने उसे लकडियाँ पकडते देखा। आधी रात के समय—ऐसे मौसम में, एक लँगोटबन्द आदमी को इस प्रकार का परिश्रम करते देख कर रानी को बड़ी दया आई। उस ने सोचा—"ओ हो! यह आदमी कितना दरिद्र और

दुखी है। यह रात को भी चैन से नहीं सोता और प्राणों का मोह छोड कर चढी हुई नदी मे लकडियाँ पकड रहा है। शायद इन्हीं को बेच कर गुजारा करता है। बिचारे के शरीर पर वस्त्र भी नहीं हैं।" राजा को सम्बोन्धित करते हुए रानी बोलीं—हे स्वामी! क्या आप को इस आदमी पर दया नहीं आई? यदि पैसा टका दान देना हो तो ऐसे आदमियों को दे कर उनका दुख दूर करना चाहिए। नदियों का पानी बह कर समुद्र में ही जाता है, मरु भूमि में क्यों नहीं जाता? क्या समुद्र को भी पानी की प्यास है? क्या यह सही नहीं है कि जिसे आवश्यकता है उसे मिलता नहीं है और जिसे आवश्यकता नहीं उसे अनायास ही मिल जाता है? हे स्वामिन्! अब आप विलम्ब न करिये। इस दुखी मनुष्य की सहायता कीजिए।

रानी का आग्रह देख कर राजा ने नाव को किनारे लगाने की आज्ञा दी। किनारे पहुँच कर मुम्मण को समीप बुलाकर ऐसे खराब समय में इतना कठिन परिश्रम करने और जान जोखम में डालने का कारण पूछा। मुम्मण ने कहा—महाराज! मेरे पास बैलों की जोडी थी। एक बैल तो है—पर अगली फसल बोने के लिए बीज का भी अभाव है। इसलिए लकडी जमा कर रहा हूँ ताकि इसे बेच कर बीज खरीद सकू। राजा ने कहा अरे बूढे! तू एक बैल से खेती कैसे करेगा? इस आदमी के साथ जा और हमारी गोशाला में तुझे जो बैल पसन्द आए, ले आ। मुम्मण राजा के नौकर के साथ उसकी गोशाला में गया। उसने वहाँ बहुत से बैल देखे, पर कोई उसे पसन्द

न आया। नौकर से बोला मुझे इन मे से कोई बैल पसन्द नहीं है। वह उसी नौकर के साथ फिर राजा के पास वापस आया।

नौकर ने राजा को सारा माजरा सुनाया। राजा ने हैरान होकर पूछा—तुम्हारा बैल कैसा है जिसकी जोडी का बैल तुम्हे हमारी गोशाला में नहीं मिला? मुम्मण ने नतमस्तक होकर कहा 'महाराज! आप मेरे घर पधारिये तो मैं आपको अपना बैल दिखा सकूगा' राजा ने उसकी यह बात स्वीकार कर ली।

दूसरे दिन राजा रानी के साथ मुम्मण के घर गया। श्रेणिक राजा को मुम्मण के बैल देख कर अपार विस्मय हुआ। वह बैल सजीव न था—हाड मांस का नहीं था, वह असाधारण बैल था। अर्थात् हीरा, माणिक्य और मोती का बना हुआ, एक एक नगीना लाखों की कीमत का था। उस बैल की रचना में ऐसे अनेक बहुमूल्य नगीने लगे हुए थे। राजा ने कहा भाई! यह बैल तो हमारे सारे राज्य से कहीं अधिक मूल्य का है! मुम्मण ने कहा—राजन! दूसरा बैल भी तय्यार हो रहा हैं। अब उसका एक सींग ही बनना बाकी है। उसी कमी को पूरी करने के लिए आधी आधी रात उठ कर कठोर परिश्रम करता हूं।

रानी इस दृश्य को देख कर स्तब्ध रह गई। यह देहधारी मनुष्य है कि पशु? इस के पास अपार द्रव्य और अतुल सम्पत्ति मौजूद है। इतने पर भी यह ६६ के फेर में पडा हुआ है। धन-सग्रह के लिए इतने भीषण कष्ट और यन्त्रणाएँ भुगत रहा है। राजा और रानी को

अब उस की मूर्खता पर हँमी आने लगी। उन्हों ने कल रात जिस आदमी को दरिद्र समझा था—वह तो उन से भी धनी है! राजा ने पूछा—क्या यह हीरे, माणिक्य और मोतियों से बना हुआ बैल तुम्हारी गाड़ी को खींच कर परलोक पहुँचा देगा? राजा ने उसे बहुत प्रकार से समझाया—पर वह न माना। राजा और रानी वापस चले गए। मुम्मण जीवन भर उसी प्रकार धन-सचय करता रहा। मरने के बाद लोभ वृत्ति के कारण वह नरक में गया। वह मरने मे पहले पहले बैल जैसा ही एक दूसरा बैल भी तय्यार कर गया, जिसे राजा ने उस के घर आ कर अधूरा देखा था। पर वह उस के किस काम आया? वह उसे नरक मे जाने म न रोक सका। इस का सारांश यह हुआ कि मनुष्य माता के गर्भ से बँधी मुट्ठी आता है और अन्तिम समय हाथ पसार कर जाता है। इस श्लोक के पिछले भाग मे लिखा है—

मृति पथमवतीर्णे वेदनानष्टभाने।
क्षणमपि नहि किंचित्त्वत्पथं चानुगच्छेत॥

हे मनुष्य! जब तुझे अन्तिम समय मे मृत्यु की यन्त्रणा सहनी पडेगी तो कोई पार्थिव पदार्थ तेरी सहायता न कर सकेगा—और न ही उन मे से कोई तेरे साथ ही जाएगा। उस राह तो तुझे अकेले ही जाना और चलना पडेगा॥ ३०॥

खाली हाथ जायगा

समजनि जनिकाले मानवो वस्त्रवित्ता-
शनजनवलहीनो बद्धमुष्टिस्तथापि ।
वदति तव महत्व पुण्यशालित्वमेव-
न्मृति समयकरोय रिक्तभाव व्यनक्ति ॥३१॥

अर्थ.—हे भद्र ! जब तेरा जन्म हुआ था, तो तू अपने पहनने के लिए वस्त्र, खर्च करने के लिए पैसा, खाने को अन्न, सेवा करने के लिए नौकर और देह धारण करने के लिए बल ले कर नहीं आया था। तू नगे शरीर पैदा हुआ था। उस समय तेरी मुट्ठी बँधी हुई थी। यह बँधी हुई मुट्ठी तुम्हारी महत्ता, भावी सुख और पुण्य की सूचना देती है। मुट्ठी बन्द होने से यह भ्रम होता है कि तुम कुछ ले कर आ रहे थे। पर अन्त समय में तो तुम्हारा हाथ खुला और खाली होगा। इस • त्य बात की सूचना है कि तू यहाँ आ कर जो कुछ जमा करेगा—वह यहीं धरा रह जाएगा और तुझे खाली हाथ जाना पडेगा। निस्सन्देह यह मेहनत करके जमा किया था—पर हाथ में कुछ भी न रह सका।

विवेचन.—हानि-लाभ के विचार से लोगो को तीन भागों मे बाटा जा सकता है। एक वर्ग दीवाली के अवसर पर ५-१०-२०-२५ हजार रुपया जमा कर लेता है। दूसरा वर्ग वह है जो लाभ प्राप्त नहीं कर सकता—पर अपने मूल धन की रक्षा करता है। और उसे घटने

नहीं देता। तीसरा वर्ग वह है जो अपनी सारी जमा पूँजी गँवा बैठता है। जीवन रूपी मण्डी सब को समान रूप से प्राप्त हुई है। उस में सज्जन पुरुष आ कर सत्कार्य परोपकार और परमार्थ से जीवन बिताते हैं, तथा सदाचार से रहते हैं। अपने पुण्यकर्मों के प्रभाव से वे अगले जन्म में दिव्य जीवन प्राप्त करते हैं। मनुष्य जीवन में खरा व्यापार और सच्चा सौदा करने से उच्च गति के रूप में पुष्कल लाभ प्राप्त होता है। हम इन की गणना पहले वर्ग में कर सकते हैं।

सामान्य गृहस्थ व्यवहार कुशल बन कर नीति का पालन करते हुए और गृहस्थ धर्म की सारी रीतियों का पालन करते हुए, अपने मूल की रक्षा करते हैं। वे शायद नफे के रूप में उच्चगति प्राप्त नहीं कर सकते, तो भी उन्हें घाटा सहना नहीं पडता। वे अपने स्थान से भ्रष्ट नहीं होते। मनुष्य जन्म त्याग कर फिर भी मानव शरीर प्राप्त करते हैं। इन लोगों की गणना मध्यम वर्ग में हो सकती है।

तीसरा वर्ग उन अधम मनुष्यों का है जो मनुष्य जीवन रूपी अमूल्य रत्न पाकर भी उसका दुरुपयोग करते हैं। उन का जीवन हिंसा, खून, चोरी, जारी, झूठ, प्रपञ्च, विश्वासघात और लूटमार में ही बीतता है। इस प्रकार के दुराचरण और अधम कामो के फलस्वरूप उन की दुर्गति होती है। वे मानव जन्म रूपी अमूल्य रत्न गँवा बैठते हैं। इस तरह अपना मूल भी गँवा देने के कारण इन लोगों की गणना तीसरे वर्ग में ही हो सकती है। इस संसार में पहले और दूसरे वर्ग के आदमी विरले ही देखने में आते हैं। इन की संख्या तो शायद ही ५

फ़ी सदी होती हो। परन्तु तीसरे वर्ग वालों की संख्या ९५ सैकड़ा जरूर दिखाई देती है। यह श्लोक उन की जन्म और मृत्यु-स्थिति की ओर ध्यान खींचता है। अन्न, धन, नौकर, चाकर, वस्त्र, आभूषण, घरबार, और धन-दौलत ले कर यहाँ कोई नहीं आता। और मरते समय कोई साथ ले कर नहीं जाता। नगा आता है और नगा ही चला जाता है। अन्तर केवल शरीर की छुटाई-मुटाई का ही है। जन्म के समय शरीर नन्हा-सा था और मरते समय शरीर भारी भरकम होता है। पर वह विनाशकारी है। वह देखते देखते जल जाता है—और यहीं भस्म हो जाता है—साथ नहीं जाता। जन्म के साथ वह नन्हा होने पर भी विकासाभिमुख (फलने फूलने वाला) था, तो भी यह अन्तर जन्म काल की विशिष्टता प्रकट करता है। परन्तु विशेष विशिष्टता बताने वाली बात तो हाथ की स्थिति है। जन्म के समय मुट्ठी बंद होती है। और मरते समय खुली होती है। यह अन्तर प्राकृतिक है। बन्द मुट्ठी इस बात की सूचना है कि उस के अन्दर बहुमूल्य चीज़ होगी। बहुमूल्य चीज को खुली ले कर कोई नहीं चलता। मुट्ठी को बन्द करके या छुपा कर ले जाते हैं। हाथ की बन्द मुट्ठी इस बात का प्रमाण है कि यह आदमी ५०, ६०, ७०, ८०, या ९०, साल का जीवन-काल ले कर आया है। इस जीवन-काल को पुण्य और शुभ कर्मों में बिताना उस के हाथ में है।

इस समय में वह इहलोक और परलोक में सुख पाने के लिए पर्याप्त सामग्री का संग्रह कर सकता है। यही बन्द मुट्ठी का सन्देश है।

मरते समय हाथ की हालत कुछ और ही होती है। मुट्ठी बन्द होने के बजाए खुली होती है। यह इस बात की सूचना है कि हम जीवन में जो चाहते—कर सकते थे—पर सुकर्मों की जगह कुकर्म करते रहे। पुण्य की जगह पाप कमाते रहे। लाभ की जगह हानि उठाई और इसी तरह यह अमूल्य समय खो दिया सो अब खाली हाथ जा रहे हैं। धन धान्य जो जमा किया था—वह साथ नहीं जा रहा। साथ जाने वाली चीज़ धर्म थी—सो जमा नहीं किया। इस लिए अब खाली हाथ जा रहे हैं। सुलतान महमूद गज़नवी की मौत इस बात का ज़बरदस्त उदाहरण है।

दृष्टान्त—सन् ९९७ ई० में सुलतान सुबक्तगीन का पुत्र महमूद गजनवी अपने बाप की गद्दी पर बैठा। उसके राज की सीमा पजाब से मिलती थी। उसने पश्चिम और उत्तर में अपने राज्य का विस्तार किया। उसके बाद उसकी नजर भारत पर पड़ी। उसने भारत को लूटने के लिए आगे बढ कर आक्रमण किया।

(१) पहली बार सन् १००१ ई० में उसने पजाब के राजा जयपाल पर हमला किया। जयपाल ने हार मानते हुए कर देना स्वीकार कर लिया।

(२) दूसरा आक्रमण सन् १००४ ई० में पजाब के राजा विजयराय पर किया गया। विजयराय को हरा कर उसके राज्य को खूब ही लूटा।

(३) १००५ ई० में पजाब के राजा अनगपाल को हराया।

(४) १००६ ई० में उसके आक्रमण का सामना राजपूत राजाओं ने मिल कर किया। राजपूत रमणियों ने अपने आभूषण बेच कर धर्म-युद्ध में धन से सहायता दी। इस बार उसने नगरकोट (कांगडा) को लूटा।

(५—६) १०१० और १०११ ई० में उसने थानेसर के मंदिर तोडे और उन्हे लूटा।

(७—८) १०१३—१४ ई० में काश्मीर को लूटा।

(६) १०१७ ई० में कन्नौज के राजा कवर राय को अधीन किया। लौटते समय मथुरा के मन्दिर लूटे और अपार सम्पत्ति जमा करके ले गया।

(१०-११) १०२१-२३ ई० में फिर अनगपाल पर आक्रमण किया और उस का राज्य अपने राज्य में मिला लिया।

(१२) १०२४ ई० मे सोमनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर लूटा। मन्दिर की रक्षा के लिए हिन्दू राजाओं ने भरसक प्रयत्न किया—पर वे मन्दिर को बचा न सके। महमूद ने मन्दिर की सम्पत्ति लूटी। अपार सोना चादी, हीरा माणिक्य और जवाहरात समेट कर ले गया। पुजारियों ने शिव-लिंग न तोड़ने की प्रार्थना की—पर महमूद ने उसे भी तोड दिया और उस के नीचे से भी हीरे, माणिक्य और जवाहरात काफी मात्रा में हाथ आए। यह मन्दिर बहुत पुराना था और चढावे के रूप में आई हुई अपार सम्पत्ति जमा थी। इस लूट के साथ गुजरात प्रात से गुजरते समय अनहलपुर पाटन की भूमि उसे बहुत पसन्द आई। वहा एक साल रह कर फिर स्वदेश की ओर रवाना हुआ। अजमेर के रास्ते में राजपूत

राजाओं से सामना हुआ। कच्छ, सिंध और मुलतान की राह वह स्वदेश लौट गया। राह में लश्कर को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। लश्कर का अधिकांश भाग नष्ट हो गया। बड़ी मुसीबतें भुगत कर वह गजनी पहुँचा। उस के बाद वह फिर कभी हिन्दुस्तान नहीं आया। उसे मुसलमान राजाओं से मुलतान का पद मिला। उस की तृष्णा अगाध थी। उस ने भारत को १७ बार लूट कर अपार सम्पत्ति जमा की। आखिर १०३० ई० में बीमार पड़ गया। और ऐसा बीमार हुआ कि उसे अपने जीवन की आशा न रही। तब उसने अपने वजीर को बुला कर आज्ञा दी कि हम ने आज तक जितनी सम्पत्ति जमा की है—उसे बाहर निकाल कर एक मैदान में सजाया जाय, ताकि मैं उसे अन्तिम बार देख सकूं। तदनुसार हीरे, माणिक्य, मोती, नीलम, पन्ना, पुखराज, सोना-चादी आदि बहुमूल्य पदार्थ, हाथी घोडे रथ, पैदल आदि सारा लश्कर तरतीब से सजाया गया। एक तरफ जवाहरात सजाए गए, दूसरी तरफ सोना-चादी, तीसरी तरफ हाथी-घोड़े सजाए गए, चौथी तरफ पैदल-लश्कर, नौकर-चाकर खड़े किए गए। महमूद पलग पर लेटा हुआ आया। उसे यह सब सामान दिखाया गया। उस ने हर एक चीज को ध्यान पूर्वक देखा। वह देखता जाता था और रोता जाता था। उस ने कहा—मैं ने इतनी सम्पत्ति जमा की पर अब यह मेरे किस काम की? यह मेरे साथ नहीं जाएगी। उसने अधीर हो कर वजीर से पूछा 'हे वजीर! यदि मैं इस बीमारी से न उठा—तो यह दौलत मेरे किस काम आएगी?

वजीर—हुजूर ! अब यह आपके किसी काम नहीं आएगी ।

सुलतान—(ठडी सास लेकर) तो क्या मरने के बाद यह सम्पत्ति मेरे किसी भी काम न आएगी ?

वजीर—जहाँपनाह ! पहले भी कितने ही बादशाह हो गुज़रे हैं—पर आखिर सब को अकेले ही जाना पडा। किसी के साथ धन-दौलत और माल असबाब नहीं गया।

सुलतान—क्या राह में सवारी के लिए एक हाथी, घोडा या रथ भी साथ ले जाना सभव नहीं है ? काम काज करवाने के लिए दो चार नौकर और घर बनवाने के लिए कुछ दौलत भी नहीं चाहिए ?

वजीर—आप यहा आते हुए भी तो एक दमडी साथ नहीं लाए थे।

सुलतान—तो मैंने इतनी लड़ाइयाँ करके निर्दोष आदमियों के प्राण लेकर और धर्मस्थानों को लूट कर जो बदी कमाई वह अब साथ रहेगी ?

वजीर—जी हाँ !

सुलतान—अफसोस ! अफसोस !! मैंने इन्सान के रूप मे शैतान जैसे काम किए, प्रजा को त्रास देकर धन दौलत जमा की। पर अब इन मे से एक चीज भी मेरे काम न आएगी। मैं कितना मूर्ख रहा ! निष्प्रयोजन ही बदी के काम करके बदनामी उठाई ! हे वजीर ! जब मैं मर जाऊँ—और मेरी लाश को दफनाने के लिए ले जाया जाए, तो मेरे दोनों हाथ जनाजे से बाहर रखना ताकि लोगों को पता

लग जाए कि महमूद ने इतनी सम्पत्ति जमा कर ली थी, पर वह अपने साथ एक फूटी कौडी भी नहीं ले जा सका और बिलकुल ही खाली हाथ गया है।

सुलतान के मर जाने के बाद वजीर ने उसकी आज्ञानुसार उसके दोनों हाथ जनाजे से बाहर रखे ताकि लोगों को कुकर्म-करने की चेतावनी मिले। ३१ ॥

फिर ममता क्यों ?

प्रतिदिवसमनेकान्प्राणिनो नि सहाया-
न्मरणपथगतास्तान्प्रेक्षते मानवोऽयम् ।
स्वा ।तिमपि तथा तां बुध्यते भाविनीं वा
तदपि नहि ममत्व दु खमूल जहाति ॥३२॥

राजे महाराजे भी गए

दिशि दिशि तत्कीर्त्तिर्भोजभूप- सुनीति
रिपुकुलबलदारी विक्रमो दु.खहारी ॥
अकबरनरपालो दुर्नयारातिकालो ।
मरणमुपययुस्ते मृत्युना नि सहाया॰ ॥ ३३ ॥

अर्थ —हा ग की गणना के अनुसार इस पृथ्वी पर फी मिनिट ३३ आदमी मरते हैं। उन में गरीब अमीर सभी शामिल होते हैं। परन्तु किसी के साथ कोई नहीं जाता। हरेक प्राणी परलोक की तरफ अकेला ही प्रयाण करता है। इतने पर भी प्राणी 'मेरा, मेरा' करता रहता है वह मोह ममता में फँसा रहता है—यह आश्चर्य की बात है। (३२)

जिस की कीर्ति चारों दिशाओं में फैली हुई थी—वह दानेश्वर राजा भोज, शत्रुओं के बल का मर्दन करके उन का अभिमान तोड़ने और प्रजा का दुख हरण करने वाला राजा विक्रम, और अन्याय रूपी शत्रु के लिये काल समान दिल्लीश्वर अकबर जैसे नृपतिगण मौत को जीत न सके। वे सब माल-दौलत, दल बल और परिजनों को छोड़ कर अकेले ही परलोकगामी हुए, वे किसी को भी साथ न ले जा सके। फिर दूसरों की तो बात ही क्या है? इस लिए यह बात याद रखनी चाहिये कि अकेले ही आता है और अकेले ही चला जाता है। ॥३३॥

विवेचन.—दूसरे श्लोक में मृत्यु समय का खाका खींचा गया है। मोह और माया में फँसा हुआ आदमी यह समझता है कि मौत दूसरों के लिये ही है, मैं थोड़े ही मरूंगा। यदि उसे मौत का डर हो तो क्या वह धन-सम्पत्ति जमा करने में पाप और पुण्य कर्म का ध्यान न रखे? आश्चर्य तो यह है कि मोह का पर्दा कई बार दूर हो भी जाता है—और उस की विचार-शक्ति जाग जाती है। वह यह समझ जाता है कि पैसा टका और परिजन अन्तिम समय में साथ नहीं चलते—पर इतने पर भी ममता पिशाचिनी पीछा नहीं छोड़ती। मोह और माया की वासना ने अपनी जड़ इतनी गहरी जमा ली है कि विचार शक्ति सत्संग, शास्त्र-श्रवण और सद्बोध आदि किसी भी उपाय से वह जड़ नहीं कटती। मोहमदांध मनुष्य की बुद्धि पर कोई असर नहीं होता। विचार शील व्यक्ति यह समझते हैं कि ममता का एक मात्र अनिवार्य परिणाम-दुख है। यदि कोई चीज साथ आए और उस से ममता की जाए तो

यह बात तो समझ में आ सकती है—परन्तु ऐसी बात देखने में नहीं आती। अर्थात् माता के गर्भ से शरीर के साथ और कोई चीज नहीं आती। अधिक ममता करने वाले अधिक दुखी देखे जाते हैं। ममता वाला आदमी मृत्यु शय्या पर पडा जहाँ रोग के कारण दारुण पीडा सहन करता है—वहाँ उसे धन-माल और परिजनों के वियोग की पीड़ा भी सताती है, इस तरह दोहरी पीडा उस का प्राण सोखा करती है। बोलने की शक्ति नष्ट हो जाने के कारण यह विचार उसे आन्तिरक और मानसिक क्लेश देते हैं। क्योंकि वह बोल कर अपनी व्यथा को प्रकट नहीं कर सकता। हाय हाय ? मेरी इस जमा की हुई सम्पत्ति को कौन सम्भालेगा। देशान्तर में जो कारबार चल रहा है—उस का हिसाब-किताब कौन देखेगा ? कारिन्दों की निगरानी कौन करेगा ? इस तरह के अनेक तर्क-वितर्क उस के मन में उठते हैं। यह सब कुछ छोड़ना पडेगा। इस का विचार आते ही उसे बिजली का-सा धक्का लगता है। इस तरह उस का यह जन्म तो निष्फल जाता ही है—पर साथ ही वह अपना अगला जन्म भी बिगाड़ लेता है। इस कल्पना के जाल में पड कर वह स्वय तो दुखी होता ही है—उस के चेहरे पर दुख की रेखा देख कर उस के सम्बन्धी भी दुखी होते हैं। उस की धन-सम्पत्ति मौत के लिये रिश्वत का काम नहीं कर सकती है। यदि ससार में ऐसा होता तो बड़े बडे राजे महाराजे कभी न मरते। जो लोग परिजनों और धन-सम्पत्ति से बहुत ममता रखते हैं, उन्हें ज़रा पूछो तो कि राजा भोज, वीर विक्रम और अकबर शाह कहाँ गए ? ये तीनों

राजा असाधारण बलवान थे। भोज राजा के खजाने धन से भरपूर थे। उस के पास जो कोई विद्वान आता—तो वह उसे धन धान्य से परिपूर्ण कर देता। कहा जाता है कि नया श्लोक बना कर लाने वालों को वह सवा लाख अशर्फियाँ इनाम दिया करता था। विद्या की ओर उस का विशेष झुकाव था। उस की राज-सभा में ५०० पण्डित रहा करते थे जिन का मुखिया कालिदास था। उस ने संस्कृत भाषा का भारी अभ्यास किया था। उस का लिखा हुआ भोज व्याकरण अभी तक मौजूद है। अनेक विद्वानों से पूछे हुए प्रश्नोत्तरी श्लोकों का संग्रह भी मौजूद है। जो इतना विद्वान था—जो इतना नीतिमान था—वह महा प्रतापी और विद्वानों का आदर करने वाला भोज राजा अब कहाँ गया ?

जिस वीर राजा के नाम से विक्रमी सम्वत् जारी है—जिस ने शकों और सिथियनों को हराकर भगा दिया और जिन्होंने उसके बल विक्रम के भय से फिर कभी चढ़ाई न की, जिसकी राज-सभा में महाकवि कालिदास, अमरकोष के रचयिता अमरसिंह, ज्योतिर्विद्या निपुण क्षपणक, वैद्य धन्वन्तरि, प्राकृत व्याकरणकर्त्ता वररुचि, प्रसिद्ध ज्योतिषी वराह मिहिर, शिल्पकार घटकर्पर, भूमितिनिपुण शंकु और मन्त्र-शास्त्रवेत्ता वेतालभट्ट आदि नवरत्न रहते थे वह प्रतापी राजा विक्रम अब कहाँ चला गया ?

मुगलवंश के प्रतापी बादशाह अकबर ने कितने ही राजपूत राजाओं को अपना सम्बन्धी बना कर उनकी सहायता से अपने राज्य की सीमा

का विस्तार किया। बिहार, बंगाल, उड़ीसा, काश्मीर, सिंध, मालवा, गुजरात, खानदेश, काबुल और कंधार आदि प्रान्तों को अधिकृत किया। उसने अपने राज्य में गोवध की मनाही का प्रचार किया। वह अकबर बादशाह भी कहाँ चला गया? यहाँ अनेक राजा महाराजा सार्वभौम मण्डलेश्वर और चक्रवर्ती हुए और चले गए। आज उनका कहीं नाम-निशान भी बाकी नहीं है। वे सब अकेले ही आए और अकेले ही चले गए। उनके साथ कोई पार्थिव पदार्थ नहीं गया।

पृथ्वी कहे मैं नित्य नवीं, के नी न पूरी आश।
कईक राणा रम गए कईक गए निराश॥ १॥

इन ऐतिहासिक उदाहरणों और वर्तमान अनुभव का सारांश यही है कि जो अकेला आया है—वह अकेला ही जाएगा भी। इस सिद्धान्त को मन में धारण कर के, ममता दूर कर दे, एकत्व भावना बनाए। इस भावना के कारण मृत्यु-समय दुख में भारी कमी हो जाती है। मौत के समय धीरज मिलता है। शान्ति रहती है और सदगति प्राप्त होती है। (३२—३३)

❀

❀ ❀

५-अन्यत्व भावना

(जन्म और मरण की अवस्था में एकत्व भावना बताई थी, अब हम अन्यत्त्व भावना बताते हैं)

पाँचवीं अन्यत्व भावना

कोऽहं जगत्यथ कदा प्रभृतिस्थितिर्मे ।
मातापिता च तनुजा ममके इमे स्युः ॥ .
संयोग एभिरभवन्मम किं निमित्त-
स्तत्त्व विचिन्तय च पचमभावनायाम् ॥३४॥

अल्पकालिक सम्बन्ध

गावो हया गजगणाः महिपाभुजिष्य
वेश्मानि वैभवचया वनवाटिकाश्च ॥
एभिस्तवाऽस्ति कियता समयेन योग-
स्तत्व विचिन्तय च पचभावनायाम् ॥३५॥

अर्थ—मैं कौन हू ? इस ससार में मेरी क्या स्थिति है ? माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि हमारे कौन हैं ? इनके साथ हमारा सम्बन्ध किस निमित्त से है ? ये सब विचार पाँचवीं भावना मे कर ॥३४॥

गौ, भैंस, हाथी, घोड़ा, नौकर, चाकर, घर-बार, हाट-हवेली, बाग-बगीचा और यह सब वैभव कितने समय तक हमारे साथ रहेगा ? यह तू पाचवीं अन्यत्त्व भावना में विचार कर ॥ ३५ ॥

विवेचन —जिस तरह मिले हुए दूध और पानी में से हस अपनी विलक्षण प्राकृतिक शक्ति की सहायता से दूध को पानी से अलग कर लेता है उसी तरह आदमी को अपनी विवेक बुद्धि के बल से—आत्मा और अनात्मा के मेल को जो अनादि काल से मिश्रित हैं—स्पष्ट रूप से अलग अलग समझ लेना चाहिए। यही पृथक्करण भावना अन्यत्व भावना है। इस भावना के अनुसार मैं कौन हू ? ये सम्बन्धी क्या हैं ? आदि प्रश्नों पर विचार किया जाता है। सर्व प्रथम विचारणीय प्रश्न यह है कि मैं कौन हू ? 'मैं' अनेक जगह आता है, जैसे मैं खाता हूँ, मैं पीता हू, मैं बैठा हू, मे धनवान हू, मै बुद्धिमान हू, मै दान देता हू, मैं यह करता हू, इन सब वाक्यों में 'मैं' वाचक शब्द का क्या अर्थ है ? शरीर के बाहर का कोई अवयव 'मैं' वाचक नहीं बन सकता। हाथ पाँव और अन्य इन्द्रिया 'मैं' नहीं हैं। मैं यह जानता हूँ, मैं यह विचार करता हू, आदि वाक्यों की सगति इससे नहीं लग सकती। जानना और विचार करना स्थूल इन्द्रियों का कर्म नहीं हो सकता। यह शब्द इन्द्रियों और बुद्धि पर भी लागू नहीं हो सकता। मैं खाता हू, मैं दौड़ता हू, इन वाक्यों में से कुछ और ही ध्वनि निकलती है। खाने और दौड़ने का काम इन्द्रियाँ और बुद्धि स्वय नहीं कर सकती। मैं शब्द शरीर, इन्द्रियों और मन का वाचक है।

खाना, पीना, हिलना, जुलना, जानना, विचारना, बैठना, उठना, आदि क्रियाओं का सम्बन्ध मैं से है और यह कर्म तभी सम्पादित होता है जब शरीर, मन और इन्द्रियों का पारस्परिक सहयोग हो।

उस सहयोग की प्रेरणा करने वाली शरीर के अन्दर एक और शक्ति है—और वह है जीवात्मा। देहधारी स्वस्थ जीव में हरेक क्रिया सम्भव है। हाथ, पाँव, शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि उस के साधन-मात्र हैं—प्रेरक नहीं। इन सब का प्रेरक, अधिष्ठाता और नियामक जीवात्मा ही है। यह अन्य नश्वर पदार्थों की तरह नश्वर नहीं है, वरन, अमर, अविच्छिन्न और शाश्वत है। माँ, बाप, भाई, बहन, स्त्री, पुत्र, पुत्री और अन्य परिजनों का सम्बन्ध आत्मा के साथ है। यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या यह सम्बन्ध स्थायी है? यदि यह सम्बन्ध वास्तविक है तो फिर इस के टूटने का कोई भय नहीं है। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। सम्बन्ध तो आत्मा और शरीर का भी स्थायी और वास्तविक नहीं है। फिर परिजनों के साथ स्थायी सम्बन्ध होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मा और शरीर के सम्बन्ध का निमित्त कारण कर्म है। जिस तरह दीपक तेल के सहारे जलता है और तेल समाप्त होते ही बुझ जाता है। इसी तरह प्राकृतिक नियमानुसार शरीर और आत्मा का सम्बन्ध कर्म की समाप्ति पर भग हो जाता है। माता पिता के बाद स्त्री, पुत्र, पुत्री, नौकर, चाकर, घर बार, बाग, बगीचा, घोडा, हाथी, गाय, भैंस आदि के साथ सम्बन्ध होता है। इस तरह सम्बन्ध का क्रम बढता ही रहता है—पर यह सब सम्बन्ध अस्थायी और क्षणिक हैं। दूसरी आत्मा के साथ साक्षात सम्बन्ध नहीं होता। शरीर का अस्तित्व और वस्तुओं का सम्बन्ध अनित्य होने से टूट जाता है। उन मे वियोग होता है। तब ऐसी दशा में अहम भाव

या ममत्त्व की भावना पैदा करना बुद्धिमत्ता है ? इस ममत्व का तादात्म्य है—सुख की अपेक्षा अधिक दुख। दुख को भूल कर नश्वर वस्तुओं में ममता पैदा होती है। जिस तरह किसी वस्तु के साथ हुआ सम्बन्ध आँख से दिखाई नहीं पड़ता—उसी तरह संयोग वियोग के कारण पैदा हुए सुख दुख को इन आँखों से नहीं देखा जा सकता। यदि किसी के घर में चोरी हो जाए, आग लग जाए, या किसी युवक की मौत हो जाए तो उस घर वाले को अपार दुख होता है। परन्तु उस के पड़ोसी को दुख नहीं होता। इस का क्या कारण है ? दोनों घर वालों की सम्पत्ति अलग है ? उस की जो चीज चोरी जाती रही, या जो सामान जल गया अथवा जो युवक मर गया—उस से दूसरे पडोसी का कोई सम्बन्ध नहीं था। यही अन्यत्व भाव है। इसी कारण उसे दुख नहीं हुआ। जिसे उन चीजों अथवा दिवगतात्मा से ममता तादात्म्यभाव होगा—उसी को दुख होगा। जितनी आसक्ति उतना ही दुख। यह चीज मेरी है—यही भावना दुख का कारण है—यह बात निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी।

दृष्टान्त —एक छोटे से गाँव में प्रेमचन्द नामी गृहस्थ रहा करता था। दुर्भाग्यवश वह दिनों दिन दरिद्र होता गया। उस का अर्थ संकट बढ़ता ही रहा। कुछ ही सालों में वह अर्थ-संकट के कारण पैदा हुई चिन्ताओं से इतना कृश और निर्बल हो गया जैसे कोई यक्ष्मा का असाध्य रोगी हो। उसे देनदारी भी काफी हो गई। इस तरह दुखी और तंग हो कर उसने विदेश जाने का विचार किया। उस ने निश्चय

कर लिया कि जब तक काफी धन पैदा न कर लूंगा—स्वदेश नहीं लौटूंगा। उस समय सन्तान के नाम उस के घर एक ३ मास का पुत्र था। वह अपनी स्त्री और पुत्र के खाने-पीने का प्रबन्ध करके जल-मार्ग से विदेश चला गया। उसे एक बड़े व्यापारी के घर नौकरी मिल गई, ईश्वर दया से सेठ को प्रेम चन्द की ईमानदारी पर विश्वास हो गया। कार्य-कुशलता और बुद्धि-चातुर्य के कारण अब उस का मान भी बढ गया। मण्डी में भी उस का आदर होने लगा। कुछ दिन बाद वह स्वय व्यापार करने लगा। और सौभाग्य से उस में प्रेमचन्द को खूब लाभ रहा। कुछ ही दिनों बाद उस के पास काफी रकम जमा हो गई। समय समय पर उसे घर से सन्देश आया करते, परन्तु प्रेम चन्द हर बार यही जबाब दिया करता कि मैं अपना काम छोड़ कर नही आ सकता क्योंकि इससे हान होगी। इस तरह उस ने विदेश में १५-१६ साल बिताए। आखिर प्रेम चन्द ने अपने लड़के के विवाह के लिये ऊपरी मन से पत्र लिखा और इस सिलसिले में उसे स्वदेश लौटना पड़ा। उस ने पत्र में लिखा कि मैं अमुक तारीख पर, अमुक दिन को, अमुक बन्दरगाह पर जहाज़ से उतरूंगा और वहाँ से चल कर अमुक दिन घर पहुँचूंगा। पिता का पत्र पढ कर युवक पुत्र ने उस के स्वागतार्थ बन्दर पर पहुँचने का विचार किया। माता की अनुमति ले कर वह निश्चित तारीख पर बन्दरगाह पहुँच गया। एक धर्मशाला में ठहरा, प्रेम चन्द को राह में एक दो दिन अधिक लग गये। इसी बीच में एक दिन उस लडके के पेट में दर्द उठने लगा। वह दर्द के कारण

बेहाल हो गया। वहाँ उस की जान-पहचान का भी ऐसा कोई आदमी नहीं था जो उस की खबरगीरी करता और उस का इलाज कराता। दैवयोग से एक मुसाफिर को उस की यह हालत देख कर दया आई और उस ने उसे दवाई दिलाई, आखिर प्रेम चन्द भी अपने दो चार नौकरों के साथ, सामान लिये हुए, उसी धर्म शाला में आ गया और एक कमरे में डेरा किया। रसोई की तय्यारी होने लगी और वह स्वयं बाजा ले कर गाने बजाने में मस्त हो गया। वह तो धन-धान्य से परिपूर्ण हो कर स्वदेश लौट रहा था—इस लिये अपनी खुशहाली में मस्त था। धनमद पूरे जोर पर था। वैसे तो धर्मशाला में उस के बीमार पुत्र की उस परोपकार प्रिय दयालु यात्री की कृपा से देख भाल हो रही थी—पर प्रेम चन्द को इस बात का कोई ज्ञान न था कि मेरा एक मात्र युवक पुत्र जिस का मैं विवाह करने जा रहा हूँ—इसी धर्म शाला में निस्सहायावस्था में बीमार पड़ा है। कोई मुसाफिर बीमार है—इससे हमें क्या ? दो चार दयालु गृहस्थों ने उस के इलाज के लिये वैद्य डाक्टर की व्यवस्था करने के विचार से चन्दा जमा करना शुरु किया। वे चन्दा मांगने के लिए राग-लीन सेठ प्रेम चन्द के पास भी आए। परन्तु वह तो अपनी तान में मस्त था—उस ने उन्हें कोई उत्तर न दिया। उन के बहुत अनुनय विनय पर भी प्रेमचद ने चन्दा देने से साफ इनकार कर दिया और कहा "मैं इस काम के लिये चन्दा देना नहीं चाहता और यदि हमारा विचार होगा भी—तो हम उस की देख भाल स्वयं कराएँगे। तुम्हारी तरह उस का इलाज

कराने के लिए, भीख नहीं माँगेंगे।" दयालु गृहस्थों ने उस की बहुत खबरगीरी की, दवा दारू और डाक्टर का प्रबन्ध किया। पर टूटी को जोड़ने वाला कौन है ! जब आयु बढी हुई हो तो उपाय भी तभी चलता है। मर्ज बढता गया ज्यों-ज्यों दवा की। आखिर पेट का दर्द उसके प्राण ले कर ही शान्त हुआ। धर्मशाला में मुसाफिर की मौत का समाचार पा कर पुलिस भी मौके पर आ गई। लाश की तलाशी लेने पर उस की कमीज की जेब से एक कागज निकला। वह कागज़ सेठ प्रेम चन्द का ही लिखा हुआ था—पुलिस ने इस बात की तहकीकात शुरु की कि क्या सेठ प्रेम चन्द नाम का कोई यात्री यहाँ आ कर ठहरा है ? वह अपने नाम की चर्चा सुन कर चौंका और पूछने लगा कि हमें कौन बुलाता है, पुलिस ने कहा यदि प्रेमचन्द तुम्हारा ही नाम है तो नीचे आओ। देखो यह चिट्ठी तुम्हारी लिखी हुई है क्या ? प्रेमचन्द ने नीचे आ कर जब चिट्ठी देखी और अपने अक्षर पहचाने तो उस के पैरों तले से धरती निकल गई। उस के होश उड़ गए। वह उसे देखते ही समझ गया कि यह कागज़ मेरे ही पुत्र के पास से निकला है। हो न हो यह लडका मेरा ही था। आगे जा कर जाँच करने पर उसे पता लगा कि यह लडका मेरा ही है। मेरा एक मात्र पुत्र मेरी ही असावधानी के कारण अकाल ही मर गया—इस बात से उसे असह्य वेदना हुई। प्रेमचन्द बेहोश हो कर गिर पडा। एक तरफ पुत्र का शव था और दूसरी ओर पिता बेहोश पडा था ? बडा ही करुणा जनक और मर्मस्पर्शी दृश्य था। कठोर हृदय भी यह हालत देख कर

पिघल गए— और सब के दिल मे दया आई। प्रेम चन्द को जब होश आई तो वह अर्त्तस्वर मे रोने लगा। अरे ! मै कितना अभागा हू ? २ मास की उम्र में इस पुत्र को घर पर छोड कर पैसा कमाने के लिए परदेश गया था। आज बडी बडी आशायें लेकर, इस का विवाह रचाने के लिए, स्वदेश आया था। अब इस का शव मेरे आगे पड़ा है। जिन्दगी में दर्शन ही न हुए। अरे ! तू यहीं बीमार था—मैं तेरी सभाल न कर सका। तेरी देख भाल और दवा दारू भी दयालु गृहस्थों ने ही की। हा पुत्र ? जब मैं घर जाऊ तो तेरी मा को तेरी ओर से क्या सन्देश दू ? अरे ? हम भी साथ ही मर जाते तो अच्छा था। इस तरह वह फूट फूट कर रोने लगा। शव को ठिकाने लगा कर उस का दाह करके, वह घर गया। उस की मा पुत्र की मौत का समाचार पाकर बेहोश हो गई और दिल की धड़कन बन्द हो जाने से वह भी चल बसी, पुत्र और स्त्री की मौत से दुखी हो कर प्रेम चन्द ने ससार त्याग दिया और विराग धारण कर लिया। यदि प्रेम चन्द को यह ज्ञान न होता कि यह मृतक मेरा पुत्र है तो उसे कदापि दुख न होता और दुखी हो कर अपार सम्पत्ति छोड़ कर विरागी न बनता। पर ज्यों ही उसे यह पता लगा कि मेरा लडका मर गया है—उसे दुख और सन्ताप ने घेर लिया, वह धैर्य खो बैठा। इस तरह इस दृष्टान्त का साराश यह है कि दुख की अनुभूति का मूल कारण ममता है। अन्यत्त्व भावना के कारण दुख नहीं होता। यह समझ का फल है। (३४—३५)

शरीर और आत्मा का सम्बन्ध

एतच्च पुद्गलमय क्षणिक शरीर—
मात्मा च शारद् शशाङ्कसदृश रूपः ।
बन्धस्तयोर्भवति कर्मविपाकजन्यो,
देहात्मधीर्जडधियामविवेकजन्या ॥२९॥

अर्थ—यह आंखों दिखाई देने वाला शरीर जीव-आत्मा स्वरूप नहीं, बल्कि पुद्गल—जड़—रूप है। क्षण-भर में नष्ट हो जाने का स्वभाव वाला है। इस से विपरीत आत्मा जड़ नहीं, चैतन्य स्वरूप है, शरद् ऋतु के चन्द्रमा की नाईं निर्मल प्रकाशमय है और नित्य-अखण्ड अविनाशी है। आत्मा और शरीर का जो सम्बन्ध हो रहा है वह कार्माण-वर्गणाओं के कारण, स्वाभाविक नहीं। इस प्रकार शरीर और आत्मा जुदे-जुदे हैं। फिर भी जो लोग शरीर को ही आत्मा मान लेते हैं, सो वह उन की भ्रान्ति है और ऐसी भ्रान्ति अविवेक के कारण जड़-वादियों को होती है ॥२९॥

विवेचन—इस काव्य में आत्मा और शरीर की भिन्नता बतलाई

गई है। चार्वाक् दर्शन के अनुयायी नास्तिक मानते हैं कि आत्मा, शरीर से भिन्न पदार्थ नहीं है। पृथ्वी, पानी, तेज तथा वायु के संयोग से एक प्रकार की चैतन्य शक्ति शरीर के साथ उत्पन्न होती है। जब शरीर का नाश होता है, तब उस शक्ति का भी नाश हो जाता है, क्योंकि इस शक्ति का आधार शरीर ही है। शरीर की उत्पत्ति होने से पहले और शरीर के विनाश होने के बाद रहने वाली कोई भी चैतन्य शक्ति नहीं है। नास्तिक मातानुयायी केवल प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण मानते हैं; अतएव वे अनुमानगम्य आत्मा के पूर्व जन्म और पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करते। इनके अतिरिक्त कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं, जो आत्मा को तथा आत्मा के पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को स्वीकार तो करते हैं, परन्तु मोह के कारण शरीर में ही तादात्म्य-बुद्धि रखते हैं— शरीर और आत्मा को अभिन्न मान रहे हैं। इन्हीं दोनों प्रकार के पात्रों को ध्यान में रखकर इस काव्य की रचना की गई है।

उपर्युक्त दोनों वर्ग पुद्गल में आनन्द का अनुभव करते हैं। वे रात-दिन जड़ पदार्थों को प्राप्त करने का ही प्रयास किया करते हैं। विचार भी वे जड वस्तुओं का ही करते हैं। इस कारण उनकी बुद्धि जड-सी हो जाती है। वे मनुष्यत्व में भी जडता ही देखते हैं और जड देह में आत्मत्व समझते हैं। तात्पर्य यह कि उन्हें शरीर में ही आत्मबुद्धि होती है। यही उनकी भ्रान्ति है, यही उनकी जडता है, यही उनका अविवेक है। विवेक-बुद्धि का लोप होने से उन्हें भ्रान्ति या विपर्यास होता है। नास्तिक-वर्ग परदेश से पत्रों द्वारा आनेवाले वृत्तान्त को

प्रत्यक्ष न होने पर भी सही मानते हैं और उसके आधार पर लाखों-करोड़ों का व्यापार भी करते हैं। अपने दादा-परदादा को प्रत्यक्ष न देखने पर भी किसी समय में उनका अस्तित्व था, ऐसा स्वीकार करते हैं; पर आप्त-पुरुषों द्वारा उपदिष्ट आगम के वाक्यों को वे स्वीकार नहीं करते, यही उनका अविवेक है। एक ओर कहते हैं—अनुमान और शब्द (आगम) प्रमाण नहीं हैं, और दूसरी ओर पत्र के वृत्तान्त तथा पूर्वजों के अस्तित्व को प्रमाण-सिद्ध स्वीकार करते हैं। यही उनकी भ्रान्ति है। अनुमान के बिना एक पैर भी वे आगे नहीं बढ़ सकते। जब इच्छा न होने पर भी उन्हें अनुमान मानना पड़ता है, तो उसी अनुमान से इस संसार में प्राणियों के सुख-दुःख की विचित्रता से पुण्य-पाप को एवं उनके भोगने के लिए नरक और स्वर्ग को भी मानना चाहिए। एक रोगी दूसरा निरोगी, एक धनवान् दूसरा निर्धन, एक राजा दूसरा रंक, एक बुद्धिमान् दूसरा बुद्धिहीन, एक समृद्धिमान् दूसरा दरिद्र, एक इष्ट वस्तु प्राप्त करनेवाला, दूसरा अनिष्ट वस्तु प्राप्त करनेवाला, यह सब भेद क्यों होता है? भूतों का संयोग तो सब समान ही है। एक ही माँ-बाप से जन्मे हुए, एक साथ ही जन्मे हुए दो भाइयों में उल्लिखित भेद देखा जाता है, इसका कारण क्या है? कहना ही चाहिए कि पुण्य पाप के योग से, शुभ-अशुभ कर्म के विपाक से यह भेद होता है। कर्म देहाश्रित नहीं हो सकते, बल्कि आत्माश्रित हैं। बालक के जन्म होने के साथ ही सुख, दुःख, रोग, आरोग्य, आदि देखा जाता है। इस देह से कर्म किया नहीं है, तो फिर ये कर्म आये कहाँ से? यही

मानना पड़ेगा कि कर्म पूर्व-जन्म के हैं और आत्मा के साथ आये हैं। इस प्रकार युक्ति से—अनुमान से आत्मा का अस्तित्व पृथक् सिद्ध होने पर भी 'आत्मा,शरीर से भिन्न नहीं है' ऐसा कहना अज्ञान—अविवेक—से परिपूर्ण है। इन्हीं नास्तिकों और देहाध्यासियों से ग्रंथकार कहते हैं—यह (प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला) शरीर और इसके भीतर व्याप्त होकर रही हुई आत्मा—ये दोनों जुदे-जुदे हैं। दोनों का स्वभाव अलग-अलग है। शरीर जड परमाणुओं-द्वारा निर्मित अत पौद्गलिक है। क्षण में घटता, क्षण में बढ़ता, और क्षण-भर में नष्ट होने के कारण विनाशशील है। रोग से, जरा से और शस्त्र आदिक से छिन्न-भिन्न होनेवाला विकृति-स्वभाव है, परन्तु आत्मा में ये धर्म नहीं पाये जाते। गीता में कहा है—

> नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
> न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥
> अच्छेद्योऽयमदाह्योऽय-क्लेद्योऽशोष्य एव च।
> नित्यः सर्वगतः स्थाणु-रचलोऽयं सनातनः॥

अर्थात्—आत्मा को शस्त्र से छेद नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, पानी भिगो नहीं सकता और वायु सोख नहीं सकती। आत्मा छेदा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता, भिगोया नहीं जा सकता और सोखा नहीं जा सकता। वह नित्य—सदा स्थायी है, सर्वत्र उपयोग लगानेवाला है, स्थिर, अचल और सनातन है। शस्त्र, अग्नि, पानी, वायु, बिजली, भाप आदि की दुर्घटनाएँ शरीर को आघात पहुँ-

चाती हैं, शरीर को चोट पहुँचाती हैं, परन्तु आत्मा पर इनका असर नहीं हो सकता। आत्मा का स्वरूप चद्रमा से भी अधिक निर्मल है। कर्म के बंध और उदय से ही आत्मा को शरीर के साथ संयुक्त होना पड़ता है, बंधन में पड़ना पडता है। कर्म की उपाधि से मुक्त होते ही शरीर का सम्बन्ध भी टूट जाता है। इस प्रकार ये दोनों पदार्थ जुदे-जुदे हैं, किन्तु इन्हें एक मान लिया जाता है और इसी अज्ञान के कारण दुःखों की परम्परा चलती रहती है। अज्ञानी जीव, शरीर को ज़रा-सा धक्का लगते ही हाय-तोबा मचा देता है। चिल्लाहट मचाकर धमा चौकड़ी करता है। आर्त्तध्यान करता और सिर पीटता है। इस समस्त दुःख का कारण देहाध्यास ही है। जरा विचार करो—मै जुदा हूँ, शरीर जुदा है, शरीर का दंड शरीर को भुगतना पड़ता है, इसमें मेरा क्या बिगड़ता है? कर्म किस प्रकार सहज ही बँध जाते हैं; पर कितनी कठिनाई से भोगे जाते हैं, इस बात का ध्यान रखते हुए, कर्मों का तमाशा देखकर मुझे आनन्दित नहीं होना चाहिए? देह की दुविधा में मुझे क्यों उलझना चाहिए?

इस प्रकार अन्यत्व भावना मन में उत्पन्न होते ही दुःख का संकल्प तक विलीन हो जाता है ॥२६॥

शरीर की दुर्बलता में आत्मा की दुर्बलता नहीं

रोगादिपीडितमतीव कृशं विलोक्य,
किं मूढ! रोदिषि विहाय विचार कृत्यं।

नाशे ततोस्तव न नश्यति कश्चिदंशो,
ज्योतिर्मयं स्थिरमजं हि तव स्वरूप ॥३०॥

बहिरात्मभाव का त्याग

मृत्युर्न जन्म न जरा न च रोगभोगौ,
ह्रासो न वृद्धिरपि नैव तवास्थि किञ्चित्।
एतान्नु कर्ममय पुद्गलजान् विकारान्,
मत्वा निजान् भजसि किं बहिरात्मभावम् ॥३१॥

आत्मा में जन्म-मृत्यु-व्यपदेश क्यों होता है?—

जन्योस्ति नो न जनकोस्ति भवान् कदाचित्—
सच्चितसुखात्मकतया त्वमसि प्रसिद्धः।
रागाद्यनेकमललब्धशरीरसङ्गो,
जातो मृतोऽयमिति च व्यपदेश मेसि ॥३२॥

अर्थ—हे मूढ! जब शरीर मे कोई रोग आदि उत्पन्न होता है, या तप अथवा परमार्थ का कार्य करने मे शरीर को कुछ कष्ट उठाना पड़ता है, तब तेरे मन मे ग्लानि होती है और साथ ही तू व्यर्थ रोने बैठ जाता है। यह तेरी कितनी बड़ी अविचारकता है? क्या शरीर के घिसने से तेरी आत्मा का भी कोई अश घिस जाता है? कदापि नहीं। क्योंकि आत्मा का स्वरूप ज्योतिर्मय और पूर्ण निश्चल है ॥३०॥

जन्म, जरा, मरण, रोग, भोग, हानि, वृद्धि आदि सब शरीर के धर्म हैं। इनमे एक भी धर्म आत्मा का नहीं है। ये तमाम धर्म-कर्म

पुद्गल के विकार हैं। पुद्गल के विकार पुद्गल-निर्मित शरीर को ही लागू पड सकते हैं, पुद्गल से सर्वथा निराले आत्मा को लागू नहीं हो सकते, इसलिए हे आत्मन्! तू पुद्गल के विकारों को आत्मा का विकार समझकर क्यों बहिरात्मा बनता है और दूसरे की हानि-वृद्धि में क्यों दुःखी होता है? ॥३१॥

हे आत्मन्, तू न किसी से उत्पन्न हुआ है और न किसी को उत्पन्न करनेवाला है। न तेरा विनाश होता है, न उत्पत्ति होती है। तू तो नित्य सत्-चित् और आनन्दमय है। तो अमुक जीव अमुक गति में गया, फलाँ जीव मर गया, ऐसा व्यवहार क्यों होता है? इस शका का समाधान यह है कि राग-द्वेष-रूपी बीज से उत्पन्न होनेवाले कर्म-रूप अकुर से प्राप्त होनेवाला शरीर आत्मा के साथ लगा हुआ है और इसी कारण आत्मा में जन्म-मृत्यु का व्यवहार होता है। वास्तव में तो ये धर्म शरीर के ही हैं, परन्तु सगा-दोष के कारण एक के धर्मों का दूसरे में आरोप किया जाता है ॥३२॥

विवेचन—उल्लिखित तीन काव्यों में बहिरात्म-भाव से अन्तरात्म-भाव में आने के लिए अन्तरात्मा की पहचान कराई गई है। बहिर, अन्तर और परम के भेद से आत्मा के तीन भेद किये गये हैं—बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा। ज्ञानार्णव में इनके लक्षण यों बताये हैं—

आत्मबुद्धिः शरीरादौ, यस्य स्यादात्म विभ्रमात्।
बहिरात्मा स विज्ञेयो, मोहनिद्रास्त चेतनः ॥

अर्थात्—जिस मनुष्य को शरीर, कुटुम्बी, घर-द्वार, नौकर-चाकर,

घोड़ा, बैल, भैंस आदि बाह्य वस्तुओं में आत्म-बुद्धि हो, आत्मीयता का भान हो, मोह की निद्रा में जिसकी चेतना का लोप हो गया हो, अनात्मीय—आत्मा से भिन्न—पदार्थों को आत्मीय मानकर जो 'मेरा-मेरा' करे, वह बहिरात्मा है।

बहिर्भावानतिक्रम्य, यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः।
सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञै-र्विभ्रमध्वान्तभास्करैः॥

अर्थात्—जिसने बाह्य पदार्थों में से आत्म-भाव हटा लिया हो, आत्मा में ही आत्मभाव स्थापित किया हो, उसे ज्ञानी पुरुष अन्तरात्मा कहते हैं।

निर्लेपः निष्कलः शुद्धः, निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः।
निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा, परमात्मेति वर्णितः॥

अर्थात्—जिसे कर्मों का लेप नहीं है, शरीर का बन्धन नहीं है, जो रोग आदि विकार से रहित है, जिसने समस्त कार्यों की सिद्धि कर ली है, जिसने अविनाशी अनन्त सुख प्राप्त कर लिया है, जो विकल्प से अतीत है, ऐसे शुद्ध आत्मा को परमात्मा कहते हैं।

बहिरात्मा जीव क्षण में सुखी, क्षण में दुःखी, क्षण में खुश, क्षण में नाखुश होता है। पल-भर में राजा बनता है और पल-भर में फिर रंक का रंक रह जाता है। पैर में ज़रा-सा काँटा चुभ जाय, सिर में दर्द होने लगे या चार पैसे चले जायँ, तो वह कोहराम मचा देता है, इधर-उधर रोना रोता फिरता है। किसी जीव की रक्षा करने के लिए पाँच डग चलना हो, व्रत, नियम, एकाशन, चौविहार उपवास करना हो, तो

कहता है—ऐसा करने से मेरा शरीर घिस जायगा। मैं ऐसा कोई काम नहीं कर सकता; जिसमें मेरे शरीर को कष्ट पहुँचता हो। इस अवस्थावाले प्राणी बाह्य सुख को ही सुख मानते हैं। सच्चा सुख कहाँ है, इस बात का उन्हें पता ही नहीं होता। इन्हीं को लक्ष्य करके ये काव्य लिखे गये हैं। बहिरात्मा जीव मोह से मुग्ध होता है; अतएव उसे 'मूढ' कहकर सम्बोधन किया गया है।

हे मूढ! तू किस लिए रुदन-विलाप करता है? तेरा शरीर मोटा हो या पतला हो, काला हो या गोरा हो, सबल हो या दुर्बल हो, जवानी का हो या बुढापे का हो, पर रोने का कोई कारण नहीं है। दूसरों के पास सपत्ति अधिक हो और तेरे पास कम हो, दूसरे श्रीमान्-साहूकार हों और तू गरीब हो, इसमें भी खेद करने का कोई कारण नहीं है। बाहरी समस्त सम्पत्ति कम-ज्यादा पुण्य के अनुसार प्राप्त होती है। थोडे ही समय रहती है, फिर गायब हो जाती है। सुख इस लक्ष्मी पर आश्रित नहीं समझना चाहिए; क्योंकि लक्ष्मी वृक्ष की छाया की भाँति अस्थिर है। यों तो छाया स्थिर-सी दिखती है; पर वास्तव में वह एक भी क्षण स्थिर नहीं रहती। छाया की भाँति माया भी कदाचित् स्थिर नजर आती हो; परन्तु वास्तव में वह क्षणभर भी स्थिर नहीं रहती। जिसकी नींव ही अस्थिर हो, उसके ऊपर खड़ा किया हुआ महल—सुख का महल—कैसे स्थिर हो सकता है? जो वस्तु स्वभाव से अस्थिर है, उसे स्थिर मानने पर स्थिर बनाने का प्रयत्न करने से परिणाम में दुःख के अतिरिक्त और

क्या हो सकता है ? क्या पत्थर में भी कभी पानी निकल सकता है ? अग्नि का भक्षण करने से कभी किसी की भूख मिटी है ? क्या बालू को पेरकर कभी किसी ने तेल निकाला है ? इन तमाम प्रश्नों के उत्तर 'न' में ही देने पड़ेंगे। ठीक इसी प्रकार चंचल माया—लक्ष्मी—से न तो किसी को सुख मिला है और न मिल ही सकता है ? मृग-तृष्णा से मृग की प्यास बुझने के बदले उलटी बढ़ती ही है, इसी प्रकार बहिरात्मपन से सुख के बदले दुःख की ही वृद्धि होती है ; अतएव हे जीव ! तू अपने 'आपे' को पहचान। जिसका नाश हो जाता है, वह तू नहीं है। जिसकी हानि वृद्धि होती है, वह तू नहीं है। जिसका उदय-अस्त होता है, वह तू नहीं है। जिसे रोग-शोक होता है, वह तू नहीं है। जो आहार मिलने से बढ़ता और न मिलने से सूख जाता है, वह तू नहीं है। जो शस्त्र से कट जाता है, बिंध जाता है, छिद जाता है, भिद जाता है, जुड़ जाता है, बिखर जाता है, वह तू नहीं है। जिसे चोर चुरा लेते हैं, अग्नि जला देती है, पानी बहा ले जाता है, धूल के ढेर दबा लेते हैं, वह तू नहीं है। जिसके लिए लड़ाइयाँ लड़ी जाती हैं, मार-काट मचती है। वह तू नहीं है, तू कौन है, तेरा स्वरूप क्या है, यह बात इन तीन काव्यों में बताई गई है, अर्थात्—तू जड़ नहीं बल्कि ज्योति-स्वरूप चैतन्यमय है। तेरा प्रकाश सूर्य से भी अधिक है। सूर्य का प्रकाश थोड़ी देर उदित रहकर अस्त हो जाता है, परन्तु तेरा प्रकाश प्रकट होने के पश्चात् कभी अस्त नहीं होता। तू वृक्ष की छाया की नाईं अस्थिर नहीं, वरन् स्थिर है। शरीर जन्मता-

मरता है, तू नहीं। तू शरीर से भिन्न है; अतः तू न जन्मता है, न मरता है। पुत्र के जन्म से हर्ष मानने और मृत्यु से विषाद मानने का भी कोई कारण नहीं है।

दृष्टान्त—एक श्रीमान् गृहस्थ का एकलौता पुत्र बीमार हो गया। उसके माता-पिता सिर धुनकर रोने लगे। हाय! हाय! अब क्या होगा? लडके का नाम चिमन था। उन्होंने कहा—यदि चिमन को आराम होगा, तो हम खायेंगे-पीयेंगे, अन्यथा आज से खाना-पीना बन्द है। वे ज्यों-ज्यों रोने लगे, त्यों-त्यों चिमन की बीमारी बढती गई। वे चिमन की जिन्दगी की आशा प्रायः त्याग बैठे और रोते-रोते बोले—'बस, अब हमें जीना नहीं है।' बहुतेरे मनुष्यो ने उन्हें समझाया कि इस प्रकार अधीर न हो। संभव है, चिमन स्वस्थ हो जाय, अन्यथा संसार मे जन्म और मृत्यु तो लगी ही रहती है। इस प्रकार समझाने-बुझाने पर भी सेठजी के हृदय में धीरज न आया। इसी समय एक महात्मा वहाँ आ पहुँचे। वे सेठजी को पहचानते थे; अतः बोले—क्यों, आज इतने अधीर क्यों बन रहे हो?

सेठजी ने कहा—महाराज! मेरा भाग्य फूट गया, मेरे दिन बदल गये, मेरे सिर पर विपत्ति का पहाड आ पड़ा।

महात्मा—पर हुआ क्या? इतने घबरा क्यों रहे हो? क्या तुम्हें घाटा पड़ गया है?

सेठजी—महाराज! इससे ज्यादा घाटा क्या होगा? मेरा एकलौता पुत्र चिमन मृत्यु-शय्या पर पड़ा है।

महात्मा—ऐं ! कहते क्या हो ?

सेठजी—महाराज ! देखते नहीं, वह पड़ा हुआ है सामने ?

महात्मा—किन्तु तुम्हारा चिमन कहाँ है ?

सेठजी—यही तो, जो सामने लेटा हुआ है।

महात्मा—मुझे ठीक समझ में नहीं आता। आज मेरा दिमाग फिर गया है। तुम हाथ से उसे दिखाओ।

सेठजी—(हाथ लम्बाकर चिमन का हाथ पकड़कर दिखाया) देखिए, यह रहा चिमन।

महात्मा—यह तो चिमन का हाथ है, चिमन कहाँ है ?

सेठजी—(पैर पकड़कर) यह देखिए।

महात्मा—यह तो चिमन का पैर है, यह छाती है, यह मस्तक है, यह मुख है, यह पेट है, यह भुजा है, यह कधा है, यह आँखें हैं, यह कान है, यह नाक है, इनमें से चिमन कौन है ? हाथ, पैर, पेट, छाती, मुँह, आँख, नाक, कान आदि चिमन के शरीर के अवयव हैं। इनमें कहीं भी तो 'चिमन' नाम लिखा हुआ नहीं है।

सेठजी—महाराज ! इसी को हम चिमन कहकर पुकारते हैं।

महात्मा—यही बात है, तो प्राण निकल जाने के बाद भी यह शरीर यहीं पड़ा रहेगा। उसी को सभाल रखना। चिमन चला जायगा, मर जायगा, इस डर से शोक क्यों करते हो ?

सेठजी—महाराज ! जीव निकलने पर तो मुर्दा—शव—रह जायगा, उसका क्या करेंगे ?

महात्मा—तब क्या शरीर और शरीर के अवयवों को तुम चिमन नहीं मानते ? चिमन इनसे कोई अलग ही है ?

सेठजी—जी हाँ, शरीर में रहनेवाला आत्मा—चैतन्य ही मेरा चिमन है।

महात्मा—तब तो शोक करने की आवश्यकता नहीं है। यदि शरीर में बसनेवाला आत्मा ही तुम्हारा चिमन है, तो मौत उसका स्पर्श भी नहीं कर सकती, वह मर नहीं सकता, वह अजर है, अमर है, शाश्वत है। इस शरीर को त्यागेगा, तो पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्रों को पहनने के समान फिर नया शरीर धारण कर लेगा। सेठजी ! यदि पुत्र पर तुम्हें स्नेह है, तो यह कामना करो कि उसे—चिमन की आत्मा को—यहाँ या किसी भी दूसरे स्थान पर शान्ति—समाधि प्राप्त हो।

महात्मा के कथन से सेठजी की समझ में बात आ गई। उन्होंने बहिर्भाव को त्यागकर आत्मभाव में आकर, मोह के पर्दे को हटाया और चित्त को शान्त किया। इससे चिमन को भी शान्ति मिली।

हे भद्र ! इस दृष्टान्त से यह समझना चाहिए कि जन्म-मरण शरीर के होते हैं, आत्मा के नहीं। जरा, रोग, हानि, वृद्धि, ये सब शरीर के धर्म हैं, देह के दड हैं, बहिरात्मभाव के कारण इन धर्मों को तू अपना समझता है, इसी से तुझे दुःख होता है, शोक-संताप होता है। तू सत्, चित्, आनन्द रूप से प्रसिद्ध है। यही तेरा स्वरूप है। फिर आनन्द को त्यागकर दुःख उठाना तुझे क्या उचित है ? राजा होते हुए रंक बनना, श्रीमान् होते हुए कगाल बनना, सुखी होते हुए दुःखी बनना,

बलवान्-वीर्यवान् होते हुए दुर्बल और निर्वीर्य बनना कितना लज्जास्पद है ! सियारों के टोले में रहने से क्या सिंह का सिंहत्व चला जाता है ! अनतप्रकाशी, चैतन्यस्वरूपी, आनन्दमय होते हुए भी क्या जड़ शरीर के साथ रहने से ही चैतन्य नष्ट हो गया ? कदापि नहीं। वह केवल छिप गया है, भूल गया है, यही तो अज्ञान है। भूल सुधारकर ज्ञान प्राप्त करना, यही तेरा कर्तव्य है। बहिरात्मभाव का सर्वथा परित्याग कर अन्तरात्मभाव में स्थित होकर परमात्मभाव में पहुँचना, यह तेरे कर्तव्य की श्रेणी है। गजसुकुमाल ने इस मार्ग को किस प्रकार साधा था, इसे जानना हो तो सुन।

दृष्टान्त—गजसुकुमाल, महाराज श्रीकृष्ण के छोटे भाई होते थे। उनकी माता देवकी के सात पुत्रों का पालन-पोषण दूसरी जगह हुआ था ; अतएव एक पुत्र को स्वय पालने-पोषने की इनकी उत्कट लालसा थी। महाराज श्रीकृष्ण ने हरिणगमेषी देवता की आराधना करके एक छोटे भाई होने की अभ्यर्थना की। देवता ने कहा—'तथास्तु।' यथा-समय गजसुकुमाल का जन्म हुआ। उस पर माता बहुत लाड़-प्यार रखती थी। गजसुकुमाल प्यार की गोद में द्वितीया के चन्द्रमा की भाँति बढने लगे। पढ-लिखकर युवा अवस्था में आये। इसी बीच बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ प्रभु द्वारिकानगरी के बाहर सहस्राम्र नामक उद्यान में पधारे। कृष्ण महाराज गजसुकुमाल को साथ लेकर प्रभु के दर्शनार्थ जा रहे थे कि रास्ते में सोमिल ब्राह्मण का घर मिला। उसके घर के ओसारे में अत्यन्त सुन्दरी, सोमिल ब्राह्मण की कुँआरी कन्या सोमा

अपनी सखियों के साथ सुवर्णमय तारों से गुँथी हुई गेंद खेल रही थी। कृष्ण महाराज की नजर उस पर पड़ी और तत्काल ही गजसुकुमाल के साथ उसे ब्याहने का उन्हें विचार हो आया। सोमिल को बुलाकर सोमा के विवाह की उससे बातचीत की। सोमा, कुमारी ही अन्तःपुर में भेज दी गई। तत्पश्चात् दोनों भाई सहस्राम्र वन पहुँचे। प्रभु की देशना सुनकर गजसुकुमाल को वैराग्य उत्पन्न हो गया। घर आकर माता से प्रभु के दर्शन करने और देशना सुनने का वृत्तान्त कहा। यह सुनकर माता बहुत प्रसन्न हुई, किन्तु जब संसार छोड़ने और दीक्षा लेने की बात कही, तो देवकी को एकदम मूर्च्छा आ गई। उपचार करने पर जब उसे होश आया, तब माता ने पुत्र को संसार में रखने का बहुत प्रयत्न किया। कृष्ण महाराज को बुलाकर उनके द्वारा भी रोकने का बहुत प्रयास किया, पर गजसुकुमाल का वैराग्य-रंग उड़ न सका। बहुत आग्रह करने पर एक दिन का राज्य स्वीकार कर दूसरे दिन बड़ी धूम-धाम के साथ नेमिनाथ प्रभु के समीप गजसुकुमाल ने दीक्षा धारण कर ली। उस समय माता ने रोते-रोते कहा—पुत्र! तूने मुझे रुलाया है; पर अब ऐसी 'करनी' करना कि दूसरी माता को न रुलाना पड़े; अर्थात्—संयम का भलीभाँति पालन कर जन्म, जरा, मृत्यु के बंधन का अन्त करना।

गजसुकुमाल ने दीक्षा लेने के बाद तत्काल ही पूछा—'प्रभो! थोड़े समय में सिद्धि प्राप्त करने का भी कोई मार्ग है?' भगवान् ने कहा—"हाँ, शरीर और आत्मा की भिन्नता का दृढ़तर निरन्तर अभ्यास

और उसकी कसौटी के रूप में भिक्षु की बारहवीं प्रतिमा। श्मशानभूमि में कायोत्सर्ग करके, भेदज्ञान में निरन्तर स्थिरता प्राप्त करने से शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। चाहे जैसा उपसर्ग आये, उससे पीछे न हटना चाहिए।' गजसुकुमाल बोले—'प्रभो! मैं इस मार्ग पर चलना चाहता हूँ। आपकी आज्ञा हो तो श्मशान में जाकर निश्चल ध्यान धारण करूँ।" भगवान् नेमिनाथ ने पात्रता देखकर जाने की आज्ञा दे दी। गजसुकुमाल ने अकेले श्मशान में जाकर कायोत्सर्ग किया। संध्या का समय था। सोमिल जंगल से अग्निहोम के लिए समिध की लकड़ियाँ लेकर उसी रास्ते वापस लौटा। उसकी नजर गजसुकुमाल पर पड़ी और नजर पड़ते ही वह मारे क्रोध के आग बबूला हो गया! अरे! जिस गजसुकुमाल के साथ सोमा का विवाह होने जा रहा था, वह तो साधुड़ा बनकर यहाँ बैठा है! दुष्ट कहीं के! तुझे मूँड़ ही मुँड़ाना था, तो क्यों मेरी लड़की को कुमारी अवस्था में अन्तःपुर में ले जाकर रँडापा भुगतवाया?" सोमिल जाति से ब्राह्मण था, पर स्वभाव का चाण्डाल-जैसा। साथ ही पहले का वैरभाव भी उमग आया। उसने गजसुकुमाल को सख्त दंड देने का निश्चय किया। लकड़ियाँ नीचे पटक दीं। तालाब की गीली मिट्टी लाकर गजसुकुमाल के मस्तकपर चारों ओर पाल बनाई। जलते हुए खैर के अंगारों से उस पाल को भर दिया—गजसुकुमाल के मस्तक को जलती सिगड़ी बना दिया। मस्तक की चमड़ी चटाक-चटाक कर जलने लगी। चमड़ी के बाद मांस और मांस के बाद मगज़ सुलगने लगा।

एक मच्छर के डंक से मनुष्य का धैर्य छूट जाता है। यहाँ तो मस्तक का मुलायम भाग अग्नि से जल रहा था। इस पीडा का पूछना ही क्या है? पर धन्य गजसुकुमाल, जिसने मस्तक या शरीर का कोई भी भाग ज़रा भी न हिलाया! उन्हें सोमिल पर भी द्वेष उत्पन्न न हुआ। गजसुकुमाल प्राणीमात्र को अपने समान समझते थे, अतएव सोमिल को भी शत्रु न समझ मित्र ही समझा। गजसुकुमाल मुनि सोचने लगे—'किसी का ससुर तो दस-बीस रुपये की पगड़ी बँधाता है, पर मेरे ससुर मुझे मोक्ष की पगड़ी बँधा रहे हैं।' अहा! कैसी उच्च श्रेणी की समता! सुमेरु के समान निश्चलता, समुद्र की तरह गंभीरता, महान्-से-महान् योद्धा में भी न मिल सकनेवाली शूरता, धीरता, गजसुकुमाल मुनि में प्रतीत होती थी। यह सारा प्रभाव भेदविज्ञान का था। गजसुकुमाल का आत्मा आत्मभाव में ऐसा तत्मय हो गया, मानों शरीर के साथ उसका जरा भी सबंध नहीं है और वह शरीर से बाहर निकलकर कर्मों को परास्त करने के लिए मैदान में आ डटा है। वह अन्तरात्मभाव से आगे बढकर परमात्मभाव में जाने की तैयारी कर रहा है। क्षपक श्रेणी पर चढ़कर, शुक्ल के पाँयों का एकदम स्पर्श कर समस्त कर्मों का अन्त करके अतगड केवली अवस्था प्राप्त कर गजसुकुमाल मुनिराज मोक्ष को प्राप्त हुए।

मुनिवर गजसुकुमाल बाहरी वस्तुओं से आत्मीयता हटाकर शरीर से भी आत्मभाव को दूर कर, अतरात्म में लीन हो गये। इसी कारण जलते हुए शरीर की असह्य वेदना भी आत्मा पर कुछ प्रभाव उत्पन्न न कर

सकी। इसी प्रकार अंतरात्मभाव में लीन होने से परमात्मा पद की प्राप्ति होती है ॥ ३०-३१-३२ ॥

कुटुम्बियों का संयोग पक्षी और पेड़ का संयोग है—

भार्या स्नुषा च पितरौ स्वसृ पुत्र पौत्रा,
एते न सन्ति तव केऽपि न च त्वमेषाम् ॥
संयोग एष खगवृक्षवदल्पकाल—
एवं हि सर्वजगतोऽपि वियोगयोगी ॥३३॥

'न मैं किसी का कोई न मेरा'

एकैकजन्मनि पुनर्बहुभिः परीतः
प्रान्ते तथापि सहकारिविनाकृतस्त्वम् ।
तस्माद्विभावय सदा ममतामपास्य,
किञ्चिन्न मेऽहमपि नास्मि परस्यचेति ॥३४॥

अर्थ—हे भद्र! तू एक घर में माँ-बाप, भाई, स्त्री, पुत्र, पौत्र और पुत्रवधू आदि के साथ रहता है, उनके साथ परस्पर संबंध भी जुड़ा हुआ है, परन्तु वास्तव में वे सब तुझसे जुदे हैं। तेरा उनके साथ जो संबंध है, वह पक्षी और पेड़ के संबंध की भाँति है। साँझ के समय भिन्न-भिन्न दिशाओं से आकर अनेक पक्षी पेड़ पर बैठते हैं, रातभर रहते हैं और भोर होते ही जुदे हो जाते हैं। इसी प्रकार एक घर में भिन्न-भिन्न गतियों से आये हुए कुटुम्बी इकट्ठे हुए हैं, पर आयु-रूपी रात्रि समाप्त होने पर सब जुदे हो जाते हैं। जगत् के समस्त संयोग इसी प्रकार वियोग के सहचर हैं ॥३३॥

भूतकाल में, प्रत्येक जन्म में बहुतेरे जीवों के साथ संबंध जोड़ा है। वास्तव में देखा जाय, तो इस संसार में एक भी प्राणी ऐसा नहीं है, जिसके साथ माता, पिता, पुत्र, कलत्र आदि का संबंध न रह चुका हो। इतने अधिक संबंध जोड़ने पर भी पहले का कोई संबंधी सहचारी होगा, इसका क्या भरोसा ? तो फिर, जीव ! तू ममता क्यों करता है ? त्याग दे इस ममता के बंधन को और निश्चय कर ले कि 'मैं न किसी का, कोई न मेरा।' ॥३४॥

विवेचन—सूयगडांग सूत्र में कहा है—

न सा जाई न सा जोणी, न तं कुलं न तं ठाणं।
न जाया न मुआ जत्थ, सव्वे जीवा अणंतसहो ॥

अर्थात्—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय, इन पाँच जातियों में ऐसी एक भी जाति नहीं है, जिसमें एक-एक जीव अनन्त-अनन्त बार उत्पन्न होकर मृत्यु को न प्राप्त हुआ हो। योनियाँ—जीवों की उत्पत्ति के स्थान चौरासी लाख हैं। इनमें एक भी ऐसी योनि नहीं, जहाँ एक जीव अनंत बार उत्पन्न न हुआ हो। एक करोड़ साढ़े सत्तानवे लाख कुल-कोटि हैं। इनमें से एक भी कुल ऐसा नहीं बचा, जहाँ प्रत्येक जीव ने अनन्त बार जन्म-मरण न किया हो। यह जीव जहाँ उत्पन्न हुआ, वहीं संबंधियों के साथ अनेक संबंध जोड़े। किसी जगह माता, पिता, भाई, भगिनी, पुत्र, पुत्री, स्त्री, सास, ससुर आदि अनेक संबंध स्थापित किये, शास्त्रकार कहते हैं—संसार के प्रत्येक प्राणी ने अनंतानंत संबंध जोड़े हैं। एक भी जीव ऐसा नहीं बचा, जिसके साथ

कुछ न कुछ सबंध न हुआ हो, यदि ये संबंध स्थायी होते, तो प्रत्येक जीव को इतनी सहायता मिलती कि उसे किसी भी प्रकार की तगी न भोगनी पड़ती, परन्तु संबंध स्थायी नहीं होता, क्षणिक होता है। ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आनन्दघनजी कहते हैं—

प्रीत सगाई ते जगमाँ सहु कहि रे, प्रीत सगाई न कोय,
प्रीत सगाई ते निरुपाधिक कही रे,
सोपाधिक धन खोय, ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे ॥१॥

अर्थात्—संसार में सब जीवो के साथ नातेदारी कर चुका, किन्तु अन्त में कोई भी सगा न हुआ। स्थायी प्रीति कहीं नज़र नहीं आई। इसका का कारण यही है कि जगत् के जीवों के साथ जो सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, वह किसी-न-किसी स्वार्थ को लेकर ही होता है। माता पिता और पुत्र का संबंध जन्म से प्राकृतिक ही होता है, यह ठीक है, पर माँ-बाप के मन में एक प्रकार की आशा लगी रहती है, कि लड़का जब बड़ा हो जायगा, तो हमारे बुढापे का सहारा होगा और हमारा नाम क़ायम रखेगा। इस प्रकार की आशा की उपाधि से पुत्र पर माता-पिता का प्रेम रहता है। किसी कारण से जब यह आशा भंग हो जाती है, तो प्रेम भी हवा हो जाता है। इसी प्रकार अन्यान्य सांसारिक संबंधों में भी उपाधि (स्वार्थ) छिपी रहती है, अतएव जब तक उपाधि रहती है, तभी तक वह प्रेम रहता है, बाद में लुप्त हो जाता है। सच्चा प्रेम वह है, जो निरुपाधिक हो—निस्स्वार्थ हो। ऐसा प्रेम केवल आत्मीय स्वरूप के साथ ही हो सकता है और वही सच्चा प्रेम है।

उस प्रेम का प्रवाह गुप्त होता है, वह अन्तर से प्रकट होता है, वह बाहर नहीं आता। बाहर के संबंधियों का प्रेम, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सोपाधिक और स्वल्पकाल - स्थायी है। इसी विषय का स्पष्टीकरण करते हुए 'सयोग एव खगवृक्षवत्' इस वाक्य द्वारा पेड़ पर बैठे हुए पक्षियों का उदाहरण दिया गया है। संध्या-समय भिन्न-भिन्न दिशाओं से पक्षी आते और पेड़ पर बसेरा लेते हैं। रात वहाँ बिताकर भोर होते ही सब अपना-अपना रास्ता लेते है। दिन में अपनी-अपनी जीविका कमाने में लगे रह कर रात्रि में संबंधियों के समागम का भान भूल जाते हैं। ठीक इसी प्रकार भिन्न-भिन्न योनियों से जीव आकर एक कुल-रूपी वृक्ष का आसरा लेते हैं और वहाँ उनका समागम होता है। जीवन-रूपी शाखा पर वे ठहरते हैं। आयुष्य-रूपी रात व्यतीत होने पर सब अलग-अलग बिखर जाते हैं। मृत्यु का पर्दा गिरते ही समस्त सबंधियों का संबन्ध छिप जाता है। अगले जन्म में, पूर्व-जन्म के नाते-रिश्तेदारों में से कोई किसी को नहीं पहचान पाता, अतएव कभी-कभी पहले के सगे-सम्बन्धी अगले जन्म में दुश्मन हो जाते हैं और दुश्मन सगे बन जाते हैं। जन्म-परंपरा में ऐसी अनेक घटनाएँ घटती रहती हैं। महेश्वर-दत्त ने अपने पिता के श्राद्ध में, भवान्तर को प्राप्त हुए अपने पिता को ही मार डाला था। यह दृष्टान्त इस जगह भूल न जाना चाहिए।

दृष्टान्त—विजयपुर में महेश्वरदत्त नामक एक क्षत्रिय रहता था। वृद्धावस्था के कारण उसके माता-पिता ने काम-काज से छुट्टी ले ली थी। फिर भी घर पर उनकी ममता अत्यधिक थी। उस घर के किसी

भी व्यक्ति का धर्म की ओर ज़रा भी लक्ष्य न था। उसके कुटुम्ब में मांसाहार की प्रवृत्ति भी थी। महेश्वरदत्त रात-दिन अपने धंधे में जुटा रहता और उसके बूढे माता-पिता आशा, तृष्णा और पापमय वृत्तियों के वश होकर कुवासना और कर्मों का संग्रह करने में लगे रहते। एक बार महेश्वरदत्त का पिता रोग-ग्रस्त हुआ। चिकित्सा करने पर भी वह नीरोग न हुआ। अन्त समय समीप जानकर महेश्वरदत्त ने अपने पिता के पास बैठकर कहा—'पिताजी! आप किसी प्रकार की चिन्ता को मन में स्थान न दीजिए। अपनी जाति के रिवाज के अनुसार जो कृत्य करना उचित होगा, वह सब मैं करूँगा। इसके अतिरिक्त आपके हृदय में और कोई इच्छा हो तो कहिए, मैं उसी के अनुसार करूँगा।' पिता बोला—'बेटा, मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं सिर्फ यही प्रेरणा करना चाहता हूँ कि खर्च ज्यादा न करना। अपने जानवरों-गायों-भैंसों को ठीक तरह से सँभालना और पिता की बरसी के दिन एक पाड़ा मारकर श्राद्ध करने का अपने कुल में रिवाज है, मुझे विश्वास है कि तुम भी इसी रिवाज के अनुसार चलोगे।' महेश्वरदत्त ने कहा—'पिताजी! निश्चिन्त रहिए। यह मुझे मालूम है और इसी प्रकार मैं करूँगा।' अन्त में वृद्ध पिता परलोक सिधार गया। घर, जानवर और भैंसे की भावना करते हुए मरने के कारण वह अपनी वासना के अनुसार महेश्वरदत्त के यहीं भैंस के पेट में पाड़ा हुआ। कुछ समय पश्चात् महेश्वरदत्त की माता भी बुढापे की बीमारी से मर गई। मौत के समय उसकी वासना भी घर-द्वार में होने के कारण तथा अशुभ कर्म के योग से वह गली की एक कुत्ती के पेट

में गर्भ में आई। एक हुआ भैंसा और दूसरी हुई कुत्ती। माता-पिता की मृत्यु के बाद महेश्वरदत्त और उसकी स्त्री गांगिला के अतिरिक्त घर में तीसरा कोई व्यक्ति न रहा। गागिला का रूप मनोहर था और वह धर्महीन तथा विषय-लम्पट थी। सास-ससुर के जीते जी तो उसकी बाह्य पवित्रता किसी तरह कायम रही थी, पर बाद में जब महेश्वरदत्त धन्धे के लिए बाहर जाता, तो एकान्त का मौका पाकर वह किसी परपुरुष के प्रेम में पड़ गई। एक ओर महेश्वरदत्त सिर से पैर तक पसीना बहाकर पैसा पैदा करता, दूसरी ओर उसकी स्त्री जार के प्यार में पड़ गुलछर्रे उडाती और पसीने के पैसे को पानी की तरह बहाती थी। कुछ समय बाद उसके पाप का घड़ा भर गया। महेश्वरदत्त अचानक ही घर आ पहुँचा। देखा तो भीतर से दर्वाजा बन्द था। उसे सन्देह हुआ। खिड़की में से देखा, तो भीतर दूसरा पुरुष दिखाई दिया। किवाड़ों की साँकल खड़खड़ाई, तो दोनों के हाथों के तोते उड़ गये। भीतर छिपने की कहीं जगह न थी, अतएव घबराहट और ज्यादा बढ़ गई। गागिला ने सोचा—कोई और होगा, उसे बाहर से ही लौटा दूँगी। इस विचार से गागिला ने किवाड की दरार में से बाहर देखा। उसी समय आवाज आई—'किवाड़ खोल!' यह आवाज सुनते ही उसके होश-हवाश ठिकाने न रहे। 'हाय! यह तो घर-धनी ही हैं। किवाड़ खुले बिना छुटकारा नहीं और यार को बचाने का कोई दूसरा उपाय नहीं! अब क्या गत होगी? सचमुच मेरे पाप का घड़ा अब भर गया है। फिर भी कुछ-न-कुछ बचाव करना चाहिए।' इस विचार से

उसने कहा—'शारीरिक कारण से किवाड़ बन्द कर लिये हैं, थोड़ी देर में खोल दूँगी। तब तक कुछ काम हो तो कर आओ।' महेश्वर दत्त ने कहा—'राँड़ किवाड खोलती है या नहीं? नहीं, तो किवाड़ तोड़कर भीतर आता हूँ। अन्दर क्या तेरा बाप घुसा हुआ है? जल्दी खोल!' गागिला की करतूत प्रकट हो गई। किवाड़ खुले और उसका यार पकडा गया। क्रोध से जलते हुए महेश्वरदत्त ने उस पर खूब हाथ आजमाये, खूब मजा चखाया। उसके मर्मस्थान में कोई सख्त चोट लग जाने के कारण उसके प्राण-पखेरू उड़ गये; परन्तु मरते समय उसे अपने दोषों का ही खयाल आया। 'मैंने दुराचार किया तो उसका मुझे दण्ड मिल गया। मेरे कर्म या मेरी दुष्टता का ही यह फल है।' इस वृत्ति के साथ मरकर स्त्री में वासना होने के कारण वह स्त्री की कोख से ही अपने वीर्य में उत्पन्न हुआ। महेश्वरदत्त ने यार को मार डाला पर स्त्री को विशेष उलहना न दिया। उसके दोष को प्रकट भी नहीं किया, वह जानता था कि घर का छिद्र प्रकाश करने से अपनी ही इज्ज़त में धब्बा लगता है। नीतिशास्त्र में कहा है—

आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं, मंत्रं भेषजमैथुनं।
दान मानं चापमानं, नवकार्याणि गोपयेत्।

अर्थ—आयुष्य, धन, घर का छिद्र, मन्त्र, औषध, कामक्रीड़ा, दिया हुआ दान, मान और अपमान, इन नौ कार्यों को गुप्त ही रखना चाहिए, प्रकाशित नहीं करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त महेश्वरदत्त ने सोचा—जार के मर जाने से यह

ठिकाने आ जायगी, इससे मेरी गिरस्ती जैसी की तैसी बनी रहेगी। स्त्री के दिल से भी जार का प्रेम कम होता गया और पति पर प्रेम जाग्रत हुआ। खराब चाल-चलन को पति ने जान लिया, फिर भी उसे कुछ नहीं कहा। पति की इस भलमनसाई का स्मरण उसे होने लगा। थोड़े समय में दोनों के मन का मैल धुल गया—दिल मिल गया। इतना ही नहीं; किन्तु पुत्र की आशा जानकर संतति चाहने वाले महेश्वरदत्त का मन स्त्री की ओर अधिक प्रेममय हो गया। यथासमय पुत्र का प्रसव हुआ। बालक कुछ बड़ा हुआ, तो पति-पत्नी—दोनों बड़े चाव से उसे खेलाने लगे। इसी बीच श्राद्ध का समय आया। महेश्वरदत्त ने दूसरे भैंसे की तलाश न कर घर के भैंसे को ही श्राद्ध में मारने का निश्चय किया। श्राद्ध में सगे-संबंधियों को निमत्रण दिया गया। महेश्वरदत्त ने अपने हाथों भैंसे को मारा, स्वयं मांस पकाया और स्वयं ही मेहमानों को जिमाने लगा। इतना ही नहीं, महेश्वरदत्त की माता, जो कुत्ती के रूप में जन्मी थी, स्नेह और वासना के कारण घर के आस-पास ही रहा करती थी। वह कुछ खाना पाने के लोभ से घर में घुसी। महेश्वरदत्त (पुत्र) ने बाहर निकालने के लिए ज़ोर से एक लाठी जमाई, तो उसकी कमर टूट गई। कुत्ती बाहर निकली। बाहर भैंसे की हड्डियाँ पड़ी थीं, उन्हें चाटने लगी। महेश्वरदत्त को अपना पुत्र बड़ा ही प्यारा था। वह उसे बार-बार गोद में लेता, खेलाता और चुमकारता। उस समय उसकी प्रसन्नता का क्या कहना ? इसी अवसर पर एक ज्ञानी मुनि गोचरी के लिए निकले थे। वे महेश्वरदत्त के घर के पास होकर निकले।

ज्ञान के प्रभाव से। उन्होंने यह घटना जानी। इस विचित्र घटना को जान कर वे सिर पीटने लगे, महेश्वरदत्त ने मुनिजी को मस्तक धुनते देखा, तो वह उनके समीप आया और कारण पूछा। मुनि ने कहा—'भाई, यह सब मोह की लीला है। मोह के कारण कैसी-कैसी अघटित घटनाएँ घटती हैं, उसका एक नमूना आज मुझे नज़र आया है।' महेश्वरदत्त ने पूछा—'महाराज, यहाँ आज ऐसा क्या अघटित घटा है, जिससे आपको सिर धुनना पड़ा?' मुनिराज बोले—'भाई, बात कहने योग्य नहीं है, सिर्फ समझने योग्य है। हाँ, यदि तुम्हें सुनने की अधिक उत्कंठा हो, तो मुझे कहने में कोई बाधा भी नहीं है।' महेश्वरदत्त ने सुनने की उत्कंठा प्रकट की और मुनि कहने लगे—'भद्र, आज तुम अपने पिता का श्राद्ध कर रहे हो, पर तुम्हें पता नहीं कि तुमने जिस भैंसे का आज वध किया है वह कौन था?' महेश्वरदत्त ने पूछा—'महाराज, वह कौन था?' मुनिजी बोले—'भद्र, वही तो तुम्हारा पिता था।' तुम्हारे पिता का जीव ही भैंसे के रूप में जन्मा था जिसकी गर्दन तुमने तलवार से उड़ा दी है।' महेश्वरदत्त ने कहा—'क्या यह बात बिलकुल सच्ची है?' मुनिजी कहने लगे—'हम असत्य नहीं बोलते। जैसा ज्ञान में झलका वैसा तुम्हें कहा है; परन्तु बात यहीं समाप्त नहीं होती। अघटित सिर्फ इतना ही नहीं हुआ है। वह कुत्ती, जिसे तुमने लकड़ी मारकर चोट पहुँचाई है, तुम्हारी माता है। तुम्हारी माता ही माया और लोभ के कारण मरकर कुत्ती हुई है। आज तुमने लकड़ी से उसकी बड़ी बढ़िया सेवा बजाई है!' इन शब्दों को सुनते ही महेश्वरदत्त लज्जा से

मानों गड गया, मन में पश्चाताप के साथ उसे अत्यन्त खेद हुआ। इतने में ही मुनि फिर बोले—भाई, इस गड़बड-झाला का अन्त यहीं नहीं होता, जिसे तुम खेला रहे हो, जिसपर नजर पडते ही तुम खिल उठते हो, वह बालक तुम्हारी स्त्री का जार है। तुम्हारे हाथ से जिसके प्राणों का अन्त हुआ था, वही तुम्हारा शत्रु तुम्हारा पुत्र होकर जन्मा है। हे भद्र! यदि यह बात तुम्हारे दिल में जमती न हो, तो यह कुत्ती, जिसे यह बात सुनने से ईहापोह हुआ और उससे जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया है, तुम्हें यक़ीन दिलायेगी।' इतना कहकर मुनि वहाँ से रवाना होकर अपने स्थान पर चले गये। फिर कुत्ती ने अपने पूर्वभव के पुत्र को घर में एक खजाना बताया। महेश्वरदत्त को मुनि के कथन पर विश्वास हो गया। वह मुनिजी के पास गया और बोला—'महाराज! अज्ञानवश यह दुष्कृत्य मेरे हाथों हो गया है, मैं इससे किस प्रकार छुटकारा पा सकता हूँ? यह पाप कैसे दूर हो? आप पतित-पावन हैं, मेरा उद्धार कीजिए।' गुरुजी ने ठीक अवसर देखकर बोध दिया। मिथ्यात्व का मार्ग छुडाया। महेश्वरदत्त ने इस सारी घटना का हाल अपनी स्त्री से कहा। इससे उत्पन्न हुए वैराग्य का भी हाल सुना दिया। अन्त में मिला हुआ खजाना और घर-बार स्त्री को सँभलाकर स्त्री की सम्मति लेकर प्रसन्नता के साथ गुरु के पास जाकर उसने दीक्षा अंगीकार कर ली। महेश्वरदत्त मुनि-सयम पाल कर, धर्म की आराधना करके सद्गति को प्राप्त हुआ।

संसार में महेश्वरदत्त के समान और भी बहुत-सी घटनाएँ घटती होंगी। महेश्वरदत्त को ज्ञानी गुरु का सयोग मिला, तो उसका निस्तार

हो गया, पर बहुतेरे अज्ञानी जीव इस प्रकार के कृत्यों से भव-भ्रमण करते हैं और अनन्त सबध जोडते हैं। इन सबधियों में से परलोक में एक भी काम नहीं आता, इसीलिए सगे-सबधियों और कुटुम्बियों वगैरह का सबध पक्षियों के मेले के समान बताया गया है। मनुष्यों का जीवन मानो पक्षियों की रात्रि है और मृत्यु पक्षियों का प्रभात है। प्रभात होते ही पक्षी अलग हो जाते हैं और सब अपना-अपना रास्ता लेते हैं। पक्षी तो फिर इकट्ठे भी हो जाते हैं और एक दूसरे को पहचान भी सकते हैं, परन्तु मनुष्य एक बार जुदा होकर दूसरे भव में किसी को न पहचानता है न स्मरण करता है, अतएव एकत्व-भावना द्वारा एकता का सच्चा स्वरूप विचार कर जजाल को त्याग कर निरुपाधिक सुख और निरुपाधिक प्रेम को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए॥ ३३-३४॥

(६) अशुचि-भावना

[पिछली भावना में बाह्य पदार्थों को भिन्न मानकर उनसे ममत्व हटाने को कहा गया है। बाह्य पदार्थों में सर्व प्रथम शरीर है। इस भावना में शरीर की क्या दशा है, यह बतलाया जायगा।]

अशुचि-भावना

दृष्ट्वा बाह्यं रूपमनित्यं क्षणकान्तं,
हे मित्र त्वं मुह्यसि किं फल्गुशरीरे।
नान्तर्दृश्यं रोगसहस्राश्रितमेतत्—
देहं निन्द्यं रम्यमिमं हा कथयेत् कः ? ॥ ३५ ॥

शरीर में मोह वस्तु क्या है ?

चर्माच्छन्नं स्नायु निबद्धास्थिपरीतं,
क्रव्यव्याप्तं शोणितपूर्णं मलभाण्डम्।
मेदोमज्जामायुवसाढ्यं कफकीर्णं,
को वा प्राज्ञो देहमिमं वेत्ति पवित्रम् ? ॥ ३६ ॥

शरीर के अवयव भी अपवित्र हैं

चक्षुर्युग्मं दूषिकयाक्तं श्रुतियुग्मं
कीटव्याप्तं सन्ततलालाकुलमास्यम्।

नासाजलं श्लेष्ममलाढ्यान्तर देशा,
गात्रे तत्त्वं नोच्चतरं किञ्चन दृष्टम् ॥ ३७ ॥

जिह्वा और उदर का स्वरूप

बीभत्सोऽथ कीट कुलागारपिचण्डो,
विष्ठावासः पुक्कसकुण्डाऽप्रियगन्धः।
लालापात्रं मांसविकारो रसनेयं,
दृष्टो नाशः कोऽपि च काये रमणीय ॥ ३८ ॥

शरीर के भयंकर रोग

कण्डूकच्छूस्फोटक फार्शो व्रणरोगैः,
कुष्ठैः सोफैर्मस्तक शूलैर्भयशोकैः।
कासश्वासच्छर्दि विरेकज्वर शूलैः,
व्याप्तो देहो रम्यतरः स्यात् कथमेष ॥ ३९ ॥

शरीर की अपवित्रता

यत्संगात्स्याद्भोज्य मुपात्तं रमणीयम्,
दुर्गन्धाढ्यं कृमिकुल बहुलं क्षणमात्रात्।
मूल्यं वस्त्रं स्वच्छमपि स्यान्मल दुष्टम्,
सोऽयं देहः सुन्दर इत्थं कथयेन् कः ? ॥ ४० ॥

अर्थ—हे भद्र ! इस शरीर के बाह्य रूप को जो एक क्षण मनोहर और दूसरे क्षण अमनोहर हो जाता है, देखकर शरीर पर मोहित क्यों हो जाता है ? यह शरीर भीतर रोगों से भरपूर है, हजारों व्याधियों

का घर है। इस शरीर के सयोग से ही अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। शरीर ऊपर से देखने में ही सुन्दर दिखाई देता है। चमड़ी उतार कर देखा जाय तो हाड़, मांस, और रक्त के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई न देगा, अतएव निन्दनीय और तुच्छ वस्तुओं से भरे हुए इस शरीर को कौन बुद्धिमान् रमणीय कहेगा? ॥ ३५ ॥

इस शरीर को अन्तर-दृष्टि से देखा जाय तो क्या दिखाई देता है? ऊपर चमड़ी का वेष्टन है। उसके नीचे छोटी-मोटी हड्डियाँ एक दूसरे से गुँथी हुई हैं। चमडी के नीचे मांस के लोथे हैं और उनके ऊपर मोटी-पतली अनेक नसें बिछी हुई हैं। इन नसों में होकर सारे शरीर में खून चक्कर काटता रहता है। चरबी, मज्जा, पित्त, कफ, मूत्र और विष्ठा से शरीर व्याप्त है। ऐसे गन्दे अरमणीय शरीर को कौन विवेकी पवित्र कहेगा? ॥ ३६ ॥

आइए, हम शरीर के कुछ उपयोगी अवयवों को देखें कि वे कितने पवित्र हैं? आँखों में कीचड़ भर जाता है। सुनने की शक्ति रखने वाले दोनों कानों में से हमेशा मैल निकलता रहता है। मुँह से लार टपकती और थूक गिरता है। नाक में से श्लेष्म बहता रहता है। तब पवित्रता है कहाँ? जो अवयव उपयोगी और पवित्र गिने जाते हैं, वे भी अपवित्र पदार्थों से रुँधे हुए हैं। सारे शरीर में एक भी पवित्र तत्त्व तो दिखाई नहीं देता! ॥ ३७ ॥

जो होज़री अन्न को पकाती है और जो शरीर में एक अत्यावश्यक अवयव है, उसकी भी रचना या स्वरूप देखें, तो अत्यन्त बीभत्स—भय-

कर मालूम होता है। अनेक प्रकार के कीडे उसमें उत्पन्न होते हैं। उसी के पास विष्ठा और मूत्र के रहने के स्थान बने हुए हैं, जिनकी गंध चमार के कुण्ड-जैसी अप्रिय लगती है। हम लोग जिससे बोलते और स्वाद चखते हैं, वह जीभ भी किसकी बनी हुई है? वह क्या सोने, चाँदी, कस्तूरी या कपूर की है? नहीं-नहीं, वह भी मास का एक पिंड है, भीतर से अरमणीय है। अहा! शरीर के तमाम हिस्सों की जाँच कर लीजिए; पर एक भी हिस्सा रुचिर-रमणीय नजर नहीं आता ॥ ३८ ॥

अरे रे! कोई-कोई शरीर दाद से ऐसा व्याप्त हो गया है, कि अँगुली रखने की भी जगह खाली नहीं है। कोई-कोई खुजली से भरा हुआ है और बडे बडे घाव पड गये हैं। कोई फोड़ों से व्याप्त है, तो कोई अन्यान्य बीमारियों से घिरा हुआ है। कोई शरीर कोढ से सफेद या लाल पड गया है, तो कोई सूजन से स्थूल और भयंकर दिखाई देता है। किसी को खाँसी, किसी को सिर-दर्द, किसी को दमा, किसी को उलटी (वमन), किसी को अतिसार, और किसी को ज्वर, किसी को शूल, किसी को मूत्रकृच्छ्र आदि रोगों की वेदना देखी जाती है। अरे! जिसके वर्णन करने से भी त्रास उत्पन्न होता है और जिसकी अपेक्षा मृत्यु का कष्ट भी कम माना जाता है, ऐसी वेदना को उत्पन्न करनेवाला, अनेक रोगों का घर यह शरीर मोहक कैसे हो सकता है? ॥ ३९ ॥

जिसके संसर्ग से सुन्दर, सुगंधित और स्वादिष्ट भोजन दुर्गन्धि-

वाला एवं नीरस बन जाता है, पल भर में बिगड़ जाता है, इतना ही नहीं, वरन् उसमें छोटे-छोटे कीडे तक पड जाते हैं, तथा जिसके स्पर्श से स्वच्छ और कीमती ज़री या रेशम के वस्त्र भी गन्दे मैले-कुचैले बन जाते हैं, वह 'शरीर सुन्दर है', ऐसा कौन कहेगा ॥ ४० ॥

विवेचन—ऊपर के छ काव्य शरीर की भीतरी हालत बतलाते हैं। जो लोग ऊपरी चमडी का रग या चेहरे की खूबसूरती देखकर किसी स्त्री पर फिदा हो जाते हैं, उसकी सुदरता का बखान करते हैं, उनकी नजर भूल भरी है। स्थूल या बाहरी दृष्टि से वस्तु का असली स्वरूप उनकी समझ में नहीं आता। वे लोग पतगे से भी अधिक भूल करते हैं। पतगा दीपक की ज्योति में मुग्ध होकर, दीपक के तेज तथा सौन्दर्य से आकर्षित होकर, उसकी उष्णता और भस्म कर डालने के स्वभाव को जान नहीं पाता, इसी से वह बेचारा अपने प्यारे प्राणों को खो बैठता है। इसी प्रकार केवल बाहरी रूप को देखनेवाले, उसी पर मोहित हो जानेवाले मनुष्य विषय के आवेश मे आकर शरीर की भीतरी हालत का खयाल न करते हुए पतगे की तरह पर-स्त्री के सौन्दर्य-रूपी दीपक में भस्म होकर अपने प्राणों से हाथ धो बैठते हैं। ऐसे लोगों को शरीर की भीतरी हालत का अशुचि-भावना द्वारा खयाल कराने के लिए इन काव्यों की रचना की गई है। इनमें यह बतलाया गया है कि शरीर के भीतर का भाग तो अरमणीय है ही, परन्तु बाहर का सौन्दर्य भी लालची भोगी पुरुषों को जितना भला लगता है, उतना भला नहीं है। तिस पर वह सौन्दर्य स्थिर या

चिरस्थायी नहीं है। भर्तृहरि ने कहा है—'रूपे जराया भयं', 'काये कृतान्ताद् भय'—रूप को बुढापे का भय है और शरीर को मृत्यु का भय है। वास्तव में देखा जाय, तो रूप-सौन्दर्य को नष्ट करनेवाली अकेली मृत्यु ही नहीं है, और भी अनेक कारण हैं। प्रथम तो सन्ध्या के रंग की भाँति उसका स्वभाव ही अस्थिर है। अनेक प्रकार के रोगों से भी वह पल भर में बदल जाती है, इसीलिए 'क्षणकान्तं' अर्थात् एक क्षण सुन्दर और दूसरे ही क्षण असुन्दर है। ऐसे अस्थिर विकारी और क्षणिक सौन्दर्य पर मरना या मुग्ध हो जाना बुद्धिमत्ता नहीं है। मल्लिकुमारी की सुदरता पर रीझे हुए छः राजाओं को मल्लिकुमारी ने ज्ञान की जो फटकार दी थी, वह भूलने योग्य नहीं है।

दृष्टान्त—मल्लिकुमारी के पिता कुंभराजा विदेह देश के अधिपति थे। उनकी राजधानी मिथिला थी। मल्लिकुमारी की माता का नाम प्रभावती था। मल्लिकुमारी की आत्मा कोई साधारण आत्मा न थी। वह तीर्थङ्कर-नाम कर्म की समृद्धि से संपन्न थी। वर्त्तमान जन्म में ही तीर्थङ्कर होने का सौभाग्य प्राप्त होने पर भी स्त्री के रूप में अवतार लेना एक ऐसी असाधारण घटना है, जो आश्चर्यजनक है। इसका कारण था पूर्वभव में (महाबल के भव में) मित्र साधुओं के साथ किया हुआ मायाचार। मल्लिकुमारी में स्त्री वेद के अतिरिक्त तीर्थङ्कर में होनेवाले और सब गुण मौजूद थे। मति श्रुति और अवधि ज्ञानों के साथ उनका जन्म हुआ था। शारीरिक सुन्दरता का तो जितना वर्णन किया जाय, उतना ही थोड़ा है। उनका रूप अनुपम था। युवावस्था में मल्लि-

कुमारी के रूप की चारों ओर खूब प्रसिद्धि हो गई। बहुत से राजाओं और राजकुमारो ने मल्लिकुमारी के साथ विवाह करने की इच्छी की उनमें से छ राजाओं ने तो खास दूत भेज कर कुमारी की मँगनी की। उन छ में पहला कौशल देश के साकेतपुर नगर का प्रतिवुध राजा, दूसरा अङ्ग देश की चम्पा नगरी का चन्द्रछाप राजा, तीसरा कुणाला देश की सावर्थी नगरी का रूपी राजा, चौथा काशी देश की बनारस नगरी का शङ्ख राजा, पाचवा कुरुदेश के हस्तिनापुर नगर का अदीन शत्रु राजा तथा छठा पाचाल देश के कपिलपुर नगर का जितशत्रु राजा था। छहों ने अपने-अपने दूत एक ही साथ मिथिला को रवाना किये। कुम्भराजा के पास आकर सब दूतों ने अपने-अपने राजाओ के लिए मल्लिकुमारी की मँगनी की। कुम्भ-राजा विचार मे डूब गया। किसे हा कहे, किसे ना कहे ? एक की मँगनी स्वीकार कर दूसरों को मनाई करने से ईर्ष्या-क्लेश होने की संभावना है और उसका परिणाम अच्छा न होगा। परिणामत कुम्भराजा ने छहों को मनाई नर दी। कहा—अभी किसी के साथ मुझे अपनी लडकी की शादी नहीं करनी है। दूतों को अपमान के साथ वापस लौटा दिया। छहों दूत निराश होकर अपने-अपने राजाओं के पास आये और सब वृत्तात कह सुनाया। अपनी मँगनी के अनादर से क्रुद्ध हुये छहों राजाओं ने क्रोध के आवेश मे तल-वार के ज़ोर से अपना मनोरथ पूरा करने का विचार किया और तत्काल ही अपनी-अपनी सेना सजाई। सब कुम्भराजा पर चढाई करने के लिये रवाना हुए। इधर कुम्भराजा भी समझते थे कि जिन राजाओं

के दूतों का अपमान किया है, वे संभवतः चढ़ाई कर देंगे, अतएव उन्होंने भी अपनी सेना तैयार कर रखी। कुछ ही दिनों में दोनों ओर की सेनाओं का आमने-सामने युद्ध छिड गया। शूरवीर योद्धा पीछे हटे बिना ही बडी बुहादुरी के साथ लड़ने लगे। उधर मल्लि-कुमारी ने छहों राजाओं को समझाने के लिए एक और ही मार्ग निकाला था। उन्होंने अपनी अशोक-वाटिका मे एक सुशोभित और अत्यन्त रमणीय मकान बनवाया था। उसके बीचोबीच एक विशाल रत्नो से जडे हुए फर्शवाला कमरा था। उसके चारों ओर छः गर्भगृह बनवाये गये थे। उन गर्भगृहों के द्वार बीच के कमरे मे पडते थे। छहों मे आने-जाने के मार्ग अलग २ थे। बीच के कमरे के ठीक बीच मे एक मणिमय पीठिका के ऊपर रत्नों से जड़ी हुई अपनी एक रमणीय मूर्त्ति—पुतली—बनवा कर रखी थी। उस पुतली के मस्तक मे एक छेद रखा हुआ था और उसका ढक्कन ऐसा बनवाया था, जो उसपर जमकर बैठ सके। देखनेवाले को उसका पता नहीं चल सकता था। सारा महल बढिया से बढ़िया फर्नीचर से सिंगारा हुआ था। प्रत्येक कमरे में सुन्दर २ बैठकें बनी हुई थीं। मल्लिकुमारी अच्छे-से-अच्छा भोजन करके एक कौर ऊपर के छेद से पुतली में डाल-कर छेद को बन्द कर देती थी। पुतली का पेट पोला था, अतएव उस भोजन का वहा संग्रह होता रहता था। एक ओर युद्ध हो रहा था, दूसरी ओर यह क्रिया चल रही थी। अत मे कुम्भराजा की सेना हार गई। कुम्भराजा ने अपनी शेष सेना वापस लौटा ली और नगरी मे प्रवेश कर, दरवाजे बन्द कर गढ़ मे छिप रहे। चढ़ाई करने-

वालों की सेना ने नगरी को घेर लिया। कुम्भ राजा की अवस्था दिनों-दिन खराब होती जाती थी और वह बडा चिंतित हो रहा था। तब मल्लिकुमारी ने कहा—'पिताजी ! आप चिंता न कीजिए। इन राजाओं को समझाने की युक्ति मैंने खोज निकाली है। आप प्रत्येक राजा को अलग-अलग दूत भेज कर कहला भेजिए कि वे अकेले अशोक-वाटिका के महल में आवें, वहा आप का मनोरथ पूरा होगा।' कुम्भ राजा ने दूतों द्वारा यह संदेश कहला भेजा। छहों राजे भिन्न-भिन्न मार्गों से अशोक वाटिका मे आये। किये हुये प्रबन्ध के अनुसार सब राजे एक-एक कमरे में गये और वहा अपनी अपनी बैठक पर बैठे। सब की बैठक अलग-अलग होने के कारण कोई किसी को देख नहीं सकता था, पर बीच के कमरेवाली मल्लिकुमारी की पुतली पर सब की नज़र गडी हुई थी। पुतली की सुन्दरता देख कर सब उसके ऊपर जी-जान से मोहित हो रहे थे। प्रत्येक राजा इस बात की बाट देख रहा था कि मल्लिकुमारी आकर मुझे पसन्द करेगी। इसी समय मल्लिकुमारी ने पुतली का द्वार खोल दिया और और द्वार खुलते ही सड़े भोजन की बदबू सब जगह फैल गई। राजाओं ने नाक के सामने रूमाल कर लिये, फिर भी मारे दुर्गंध के सिर फटा जाता था। इसी समय मल्लिकुमारी ने सब को लक्ष्य कर कहा—'अहो राजाओ ! जिसे देखकर आप लोग अभी-अभी मोहित हो रहे थे, उसी से अब घृणा क्यों कर रहे हैं ? जिसकी सुन्दरता का पार न था, उसमे से कैसी दुर्गंध फूट रही है ? सज्जनो ! मेरे इस शरीर की भी यही दशा है। ऊपर से यह सुन्दर है, परन्तु भीतर से ऐसी दुर्गंध

अपवित्र वस्तुओं के सिवाय और कुछ भी नहीं है। मै जिस भोजन को स्वयं खाती थी, उसी का एक कौर इसमे डाल देती थी। उस सुन्दर भोजन का क्या नतीजा हुआ, यह आप अपनी आंखों देख रहे हैं। फिर मुझ पर इस प्रकार मुग्ध क्यों हो रहे हैं? जब एक-एक कौर की बदबू इतनी निकल रही है, तो मेरे शरीर में तो प्रति-दिन ३२ कौर पडते थे। उसका क्या हाल होगा? जरा स्मरण कीजिए, हम सब पिछले तीसरे भव मे किस भाव से ससार का परित्याग कर निकले थे?" कुमारी के यह वचन सुनकर राजाओं ने ईहापोह किया और तत्काल ही उन्हे जाति-स्मरण ज्ञान हो आया। वे विरक्त हो गये, युद्ध बन्द करा दिया, मल्लिकुमारी के साथ दीक्षा धारण की और सयम का पालन कर आत्मकल्याण साधा।

मनुष्य के शरीर की एक घर के साथ तुलना की जा सकती है। घर लकडी के खम्भे पर टिका होता है, शरीर पैर की हड्डियों पर टिका है। खम्भा एक ही पूरा होता है तब पैर की हड्डियों के टुकडे-टुकड़े जुडे होते हैं और इसीलिए शरीर उठना बैठना आदि कार्य कर सकता है। घर की दीवारें ईंटों या पत्थरों की बनी होती हैं, शरीर की दीवारे मेरुदण्ड के मणियों और पसलियों की बनी हुई हैं। ईंटों और पत्थरों की दरारों में चूना या मिट्टी भरी जाती है, शरीर की साध मांस के लोथ से भरी हुई होती है। शरीर-रूपी घर की तीन मंजिल हैं। पैरों से लेकर कमर तक पहली मजिल, कंठ तक दूसरी मंजिल और ऊपर तीसरी मंजिल है। बम्बई के मजिलों में पाखना होता है, परन्तु पेशाब-घर

नहीं होता, किंतु शरीर की निचली मंजिल मे पाखाना और पेशाव घर दोनों होते हैं। दूसरे मजिलमें अनाज पकनेका कारखाना और उससे सबन्ध रखनेवाले यन्त्रहैं। उनमेंसे जठर एक भट्टी है, उस मे ग्रहण किया हुआ खुराक पकनाहै, या रासायनिक क्रिया से खुराक का पृथक्करण होना है। खुराकका पौष्टिक तत्त्व लीवर और अंतडियों में अलग चला जाना है और निकम्मा भाग जुदा होकर पहली मजिलके सडासमे चला जाना है। शरीरमे फफडा नामक एक और यन्त्र है। इसमे धमनी भस्त्राकी भाति श्वासके साथ हवा भरती है और उससे खून साफ होना है, जैसे कारखानेमें भापको काचकी नलिया लेजाती हैं, उसी प्रकार सारे शरीरमें फैली हुई नाड़िया-शिरा तथा धमनिया, खूनको समस्त शरीरमें बहाती रहती हैं इस खूनसे शरीर और उस के प्रत्येक अवयव का पोषण होता है। तालावका पानी नहरों द्वारा जमीन और फस्ल को सींचता है—पुष्ट करता है, उसी प्रकार हृदयरूपी सरोवरमेंसे नाडीरूपी नहरो द्वारा खूनरूपी पानी प्रत्येक अगको पुष्ट करता है। चलो, अब तीसरी मंजिलका निरीक्षण करलें। यह मजिल अत्यन्त आश्चर्यजनक विशेषताओसे भरी हुई है। इसमें तीन तरफ खिडकिया हैं और एक ओर बन्द है। इस में एक दरवाजा और छ खिडकिया हैं। दक्षिण और उत्तर की खिडकियों में से शब्द प्रवेश करते हैं, जिनका नाम कान है। पूर्व की दो खिडकियों मे से, जिन का नाम आख है, प्रकाश आता है, जिस से वस्तुओं का निरीक्षण होता है। नाक की दो खिड़कियों मे से वायु और गन्ध आती है। मुख-रूप दरवाजे में से अन्न-

पानी आदि सब चीजों का प्रवेश होसकता है। भाषा का व्यवहारभी इसीके द्वारा होता है। इस द्वारके तीन दरवाजे हैं। पहला होठ, दूसरा दांत और तीसरा नाकके बीच रहनेवाली प्रति जिह्वा है। शरीर के किसी भी मंजिल मे इस दरवाजे मेंसे गुजरे विना नही पहुंच सकते इसके अतिरिक्त इस मंजिल मे-ऊपरी हिस्से मे-दिमाग में, आत्मा का प्रधान कार्यालय है। वहीं एक टेलीग्राफ आफिस भी है। ज्ञान तन्तुरूपी तार शरीरके प्रत्येक भाग में फैले हुए हैं। शरीरके किसी भी भाग में कुछ भी स्पर्श हो, तो उस का पहला संदेश इस आफिस मे पहुंचता है। इसी प्रकार कानरूपी खिडकियों मे से शब्द, आंखों द्वारा रूप और नाक द्वारा गन्ध आती है, उसकी पहली सूचना भी दिमाग रूपी तार आफिस मे ही पहुचती। इसका कारण यह है कि प्रत्येक खिडकी या दरवाजे के ज्ञान-तन्तु-रूपी तार के साथ दिमाग के तार का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। ये सब सन्देश मनरूपी तार मास्टर बुद्धि की मार्फत आत्मा को पहुंचाता है। बुद्धि दो प्रकार की होती है—स्वच्छ और अस्वच्छ, व्यक्त और अव्यक्त, निश्चय और संशय, सत्य और असत्य। इन मे से बुद्धि यदि अस्वच्छ, अव्यक्त या संशयात्मक हो, तो आत्मा के पास ठीक ठीक संदेश नहीं पहुचता। खराब कागज़ पर पेंसिल से लिखे हुए खराब अक्षरों की भांति वह सदेश पढा नहीं जा सकता। बुद्धि असत्य हो, तो संदेश उलटा ही समझ मे आता है। असत्य बुद्धि उसे विपरीत रूप मे ही उपस्थित करती है। ऐसा होने से आत्मा विपरीत मार्ग पर चलती और दुःख उठाती है।

बुद्धि यदि स्वच्छ व्यक्त निश्चयात्मक और सत्य होती है, तो वह यथार्थ सच्चा भान कराती है। इस से आत्मा को सन्तोष के साथ शांति प्राप्त होती है। अस्तु, शरीर रूपी घर की यह एक बाजू है। अब दूसरी बाजू का निरीक्षण कीजिए।

इस घर में एक मोह-रूपी चाण्डाल और वासना-रूपी चाण्डालिन रहती है। क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार उस के लड़के हैं। यह महादुष्ट हैं। ये चाण्डाल-चौकड़ी के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये आत्मा की, ज्ञान और चरित्र की सम्पत्ति का नाश करते हैं। इस के अतिरिक्त इस में इन्द्रिय या विषय-रूपी पशु भी रहते हैं। ये पशु सद्गुण या सद्बुद्धि के धान्य को अत्यन्त हानि पहुँचाते हैं। अविवेक-रूपी सिंह भी इसी घर में रहता है। वह विवेक-रूपी हाथी की हत्या करने के सिवाय आत्मा को तरह २ से तङ्ग करता रहता है। इस घरमें तृष्णा-रूपी एक गड्ढा है। वह इतना गहरा है कि उस में चाहे जितनी चीजें भरते जाइए, पर वह कभी पुरता नहीं है। बल्कि ज्यों-ज्यों उसे भरा जाय त्यों २ वह और २ गहरा होता जाता है। इस घर में शांति और समाधि-रूपी एक शय्या है। इस शय्या पर जब आत्मा शयन करता है, तभी उसे विश्राम मिल सकता है। किन्तु मोह-रूपी चाण्डाल का काम, क्रोध, मदमत्सर और लोभ-रूपी परिवार ऐसा दुष्ट है कि वह विश्राम नहीं करने देता। वह आत्मा को रात-दिन घुमाया करता है। इस घर का स्वामी पुद्गलास्तिकाय है इस में रहने वाला जीव किराये-दार है। मृत्यु इस घर का किराया उगाहने वाला नौकर

है। मुद्दत पूरी होने पर घर को खाली कराने का अधिकार इसी को सौंप दिया गया है। दूसरे घर स्थिर होते हैं, यह चलता-फिरता घर है। एक तरफ तो यह घर हलन-चलन वाला होने के कारण तथा इह-परलोक सम्बन्धी सत्क्रियाओं का कारण होने से अच्छा है, किन्तु दूसरी तरफ पाप-क्रियाओ को कराकर नरक मे धकेल देने वाला होने से बुरा भी है। दूसरी ओर से यदि इस की रचना पर विचार किया जाय, तो ग्लानि आये बिना नहीं रहती। कारण यह है कि लोग जिन वस्तुओं को अपवित्र मानते हैं, उन्हीं से इस का निर्माण हुआ है। आर्य लोग जिन हड्डियो को स्पर्श करने मे भी छूत मानते हैं, उन छोटी-मोटी २४६ हड्डियों के जोड़ से इसका ढाचा खड़ा हुआ है। यह ढाचा न केवल अपवित्र ही है किन्तु देखने मे अत्यन्त भयङ्कर भी है। यदि शरीर में से चमडा, मांस, नसे, चरबी आदि जुदे कर दिये जावें और सिर्फ हाडों का ढाँचा खड़ा कर दिया जाय, तो वह इतना डरावना लगेगा कि छोटे लडके उसे देखते चीख मारकर भाग खडे होंगे। रात्रिके समय निर्जन स्थान मे वह ढाँचा नजर आ जाय, तो अच्छे से अच्छा हिम्मतवाला मनुष्य भी उसे राक्षस की आकृति समझकर भयभीत होजायगा। इसी प्रकार हाडों की संधियों को पूरनेवाला मास भी अपवित्र पदार्थ है। किसी मनुष्य के शरीर के किसी भाग की चमडी गल गई हो या जल गई हो अथवा आपरेशन कराया हो, तब चमडी के बिना इस भाग मे मांसका जो भयंकर दृश्य होता है उसे देखकर कइयोंको तो जूड़ी चढ आती है। कभी-कभी उसे देख कर मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है।

स्नायु, चर्बी, नसें और चमडी भी ऐसी ही अपवित्र वस्तुएं हैं। मल-मूत्र-सरीखे गंदे पदार्थों की उत्पत्ति और सञ्चय इसी शरीर में होता है। जिसका एक बूंद पडने से कीमती वस्त्र खराब हो जाता है, वह लोहू भी इस शरीर के प्रत्येक भाग में चक्कर लगाता रहता है और उसी से शरीर का पोषण होता है। यह लोहू किसी भाग में पक जाता है, तब उसका पीव बन जाता है, जो अत्यन्त अपवित्र माना जाता है। मनुष्य का मुख पवित्र माना जाता है, किंतु उसमे से थूक और लार उत्पन्न होता और वहता रहता है। जिनसे खाना चबाया जाता है, वे दांत भी हाडों के ही बने हुए हैं। बोलने का यन्त्र—जिह्वा—तो मांस का ही लोथ है। प्रकाश आने की खिडकी—आंख—मे चिकना पानी और कीच भरने से वह भी अपवित्र हो जाती है। सूंघने की खिडकी—नाक—मे से मल और चिकना पदार्थ निकलता है। सुनने की खिडकी में से भी मैल निकलता है। किसी को छाला होता है, तो उसमें से दुर्गन्धवाला पीव निकलता है। शरीर के प्रत्येक अवयव में से बदबूदार मलिन पसीना रात-दिन निकलता रहता है। यह शरीर जिनमे से उत्पन्न हुआ है, वे लोहू और शुक्र-वीर्य हैं और गर्भ में सबसे पहले उन्हीं का आहार किया जाता है। ये दोनों ही पदार्थ गलीज और घृणा-जनक हैं। जहां खुराक का सञ्चय होता है, उस जठर रूप कोठार की दशा ऐसी भयङ्कर है कि उसके संसर्ग होते ही अच्छे से अच्छा भोजन बिगड जाता है। दूध-पाक जैसा सुन्दर भोजन यदि वमन के द्वारा उसी समय बाहर निकलता है, तो उसकी गंध और दृश्य किसे

भला लगता है। इस प्रसङ्ग मे एक दृष्टान्त याद आता है—

दृष्टान्त—एक बार एक गृहस्थ ने मकान पर से लत्ते मे लिपटी हुई कोई विष्ठा जैसी चीज फेंकी। नीचे जानेवाले किसी रास्तागीर पर उसके छींटे पड गये। रास्तागीर नाराज़ होकर उसे गालियां देने लगा। अपना दोष होने पर भी उस गृहस्थ ने झगड़ना शुरू कर दिया। दोनों के झगडे का मजा लूटने के लिए राह चलते और अड़ोस पड़ोस के लोग इकट्ठे होगये। इसी समय उधर से एक महात्मा आ निकले। उन्होंने झगड़े का कारण पूछा। एक दर्शक ने विष्ठा का गिरना झगड़े की जड़ बताई। वह महात्मा झुण्ड मे होकर आगे आये। वे दोनों को शान्त करके लोगों को आश्चर्य मे डालते हुए बोले—'भाइयो! इस विष्ठा ने मेरे पास जो फरियाद की है उसे जरा ध्यान देकर सुनो।' सभी लोग इस विचित्र फरियाद को सुनने के लिए एकाग्र चित्त हुए, तो महात्मा बोले—'यह विष्ठा कहती है कि कल मैं हलवाई की दुकान पर बैठी थी। उस समय बहुतेरे लोग मेरी ओर ललचाई आखों से देखते थे और खाने की इच्छा करते थे। पैसे देकर भी मुझे लेना चाहते थे उस समय मेरी इतनी कीमत थी। जब मैं हलवाई के हाथ से गृहस्थ के हाथ मे आई, तब भी मेरी कीमत थी, क्योंकि मैं एक अच्छे से खोमचे में रखी गई थी। यहा मैं इतनी सुरक्षित थी कि किसी खराब आदमी की मुझ पर नजर भी नहीं पड़ सकती थी, स्पर्श की तो बात ही दूर! उस के बाद मेहमानों की मेहमानी मे मेरा उपयोग किया गया, उस समय भी मैं सोने-चादी के पात्रों मे विराजमान हुई थी। यहा तक तो

मेरी आबरू बराबर क़ायम रही, मगर जब थालियों मे पहुचने के पश्चात मनुष्यों ने अपने हाथों में लेकर मुझे मुख मे डाला, तभी से मेरी कीमत घटने लगी। जब हाडों के दाँतों ने मुझे चबा डाला, तब तो मेरी सारी की सारी कीमत चली गई। फिर जब गले और जठर में पहुची, तब मुझे एकदम नीची निगाह से देखा जाने लगा। आह! आज एक दिन, एक दिन भी पूरा नहीं, केवल ४-६ घटे मैंने मनुष्य की सोहबत की कि मेरा सारा स्वरूप ही उलट-पुलट गया है। कल मैं पवित्र मानी जाती थी और आज ही अपवित्र हो गई हू। कल सुगन्ध देने वाली थी, आज दुर्गन्ध देने वाली हो गई हू। कल देखने में मैं बडी सुन्दर थी, आज आख उठाकर भी कोई मेरी ओर नहीं देखना चाहता। कल लोग बडी लालसा से मुझे लेते थे, मुह मे डालते थे, आज मेरे ही स्पर्श से लोग अपवित्र हो जाते हैं! हत्तेरे की! मुझे इस दशा मे लाने वाला कौन है? मानव-शरीर ही या और कोई? मैंने शरीर का पोषण किया और उसके बदले शरीर ने मेरा स्वरूप बदल डाला है। कहिए, वास्तव मे खराब कौन है—मैं या शरीर?' इतना कहकर महात्मा चुप हो गये। कुछ विचार कर वे लोगो से पूछने लगे—'बोलो भाई! खराब कौन है?' सब ने एक स्वर मे कहा—'शरीर।' महात्मा बोले—'भाइयो, तब यह झगडा क्यों? विष्ठा के जिन छींटों ने यह जङ्ग मचाया है, उसे बनाने वाला तो यह शरीर ही है। फिर शरीर में वह सदा भरी रहती है। वस्त्र पर गिरे हुए छींटे जल से धुल जायगे, परन्तु शरीर तो किसी भी प्रकार साफ नहीं हो सकता। भाइयो! ऐसे क्षुद्र

कारण से भ्रातृभाव और एकता को नष्ट करने वाला झगड़ा मत करो।' इतना कहकर महात्मा अपने रास्ते लगे, झगड़ा शान्त हुआ और सब तमाशबीन अपने-अपने ठिकाने पहुंचे।

इस उदाहरण से यह बात भली भांति समझ में आ जायगी कि जठर का स्वरूप क्या है और उसके संसर्ग से पवित्र पदार्थ भी किस प्रकार अपवित्र बन जाते हैं। कवि सुन्दरदास ने एक सवैया में शरीर का सच्चा चित्रण किया है —

हाड को पिंजर चाम मढ्यो पुनि माहि भर्यो मल-मूत्र विकारा,
थूंकरु लार बहै मुख से पुनि व्याधिव है नव द्वारहि द्वारा।
मास की जीभ तैं खात सबै दिन ता मतिमान करो न विचारा,
ऐसे शरीर में पैठिकें सुन्दर कैसेहि कीजिये शौच अचारा॥

चाहे कैसी ही कीमती से कीमती और नये से नया वस्त्र क्यो न हो, पर वह एक बार शरीर पर धारण किया नहीं कि उसकी कीमत मिट्टी मे मिल गई। अलमारी में बारह महीने रखा रहे, तो बिगडता नहीं, पर शरीर पर एक बार पहनने से ही उसकी कीमत नये वस्त्र की-सी नहीं रहती। यह तो नीरोग शरीर की हालत का निरीक्षण हुआ। जब नीरोग अवस्था मे ही इतनी अधिक अपवित्रता है, तो रोगी अवस्था मे तो और भी अधिक अपवित्रता आ जाती है। जठर में यदि पाचन-शक्ति कुछ मन्द हो जाती है, तो उसमें खुराक अधिक बिगडता है। जैसे सडा हुआ अन्न बदबू देता है वैसे ही जठर में सडा हुआ खुराक बदबू देता है। चिनूना (पेट के पतले कीडे) जैसे अपरिमित जन्तु उत्पन्न होजाते हैं।

'पाखाने' मे टट्टी-पेशाब की इतनी भर्ती हो जाती है कि घड़ी-घडी और कभी-कभी तो एक घड़ी में दस-पाच बार टट्टी-पेशाब की हाजत होने लगती है। पित्त की वृद्धि होने पर बार-बार वमन होता है और उसमें रग-बिरंगी चिकनी दुर्गंधित चीज़ निकलती है। कफ़की वृद्धि होने पर चर्बी बढ़ती है और शरीर के अवयव फूलकर बेडौल हो जाते हैं। कोढ निकलने पर चमड़े का रंग सफेद या लाल पड़ जाता है और डरावना हो जाता है। जब पित्त रोग होता है, तो चमड़े में से पानी बहा करता है और चमड़ा खराब हो जाता है। वह छूत का रोग होता है अत इस रोगी के पास कोई फटकता भी नहीं है। खुजली, दाद, ख़स आदि रोग होने पर सारे शरीर का चमडा खराब हो जाता है। फोडा होने पर जब वह पकता है, तो पीव निकलता है। कीडीनगरा या ऐसा ही कोई और रोग होता है तो वह शरीर के उस भाग को, चाहे वह चमडा हो या हड्डी, सड़ा देता है। फिर या तो वह भाग काटना पडता है या सारा शरीर सड जाता है। इसी प्रकार अर्श-भगदर आदि अनेकानेक रोग हैं, जो शरीर को क्षति पहुचाते हैं। सूजन का रोग शरीर के रूप को एकदम बदल देता है। इनके अतिरिक्त आख, कान, नाक, गले, फेफड़ा, लीवर, आतड़ियों, गर्भ, मूत्राशय, गुदा आदि अवयवों के बहुत से रोग हैं, जो अमुक-अमुक अवयवों का नाश करने के साथ ही शरीर के स्वरूप को बदल देते हैं और कभी कभी जीवन का अन्त कर देते हैं। दमा, राजयक्ष्मा आदि जीव-लेवा रोग उत्पन्न हो जाते हैं, तो सुन्दर से सुन्दर और मज़बूत से मजबूत

शरीर भी क्षीण हो जाता है। ऐसे अनगिनत रोग इस शरीर में भरे पडे है। समस्त शरीर मे साढे तीन करोड रोम हैं और एक-एक रोम मे पौने दो-दो रोगोंकी सत्ता रहती है। अनुकूल निमित्त मिलने पर इन रोगो मे से कोई रोग प्रगट हो जाता है, तो कुछ भी देर नहीं लगती। इतना ही नहीं, जब बुढापा आता है तब बिना किसी रोग के ही शरीर की हालत बदल जाती है। उस समय यदि रोगों का प्रादुर्भाव हो गया तब तो कहना ही क्या है? ठीक ही कहा है—

> व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती,
> रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम्।
> आयु परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो,
> लोकास्तथापि विषयान्न परित्यजन्ति ॥

अर्थ—बाघिन की तरह दहाडती हुई जरा अवस्था सामने खडी है। रोग शत्रुओ की भाति शरीर पर प्रहार कर रहे हैं। फूटे घडे मे से पानी की तरह आयु प्रतिक्षण झर रही है—कम होती जाती है। ऐसी अवस्था मे शरीर कब तक टिक सकता है? आश्चर्य है, लोग फिर भी विषयों का त्याग नहीं करते।

यह शरीर एक ऐसा जटिल यंत्र है कि इस मे खराबी होने पर बड़े से बडा कारीगर भी सुधारने मे समर्थ नहीं है यह एक ऐसी विचित्र-चक्की है, जिस मे पवित्र पदार्थ भरे जाते हैं, पर वे अपवित्र होकर बाहर निकलते हैं। पवित्र वस्तु तो शरीर के किसी भी भाग मे से निकलती ही नहीं है। पुरुष के नौ और स्त्री के बारह द्वारों मे से

अशुचि-अपवित्र पदार्थ निकला करते हैं। अन्य मकानोंकी दो-चार वर्ष में एक बार मरम्मत करानी पडती है, तब इस मकान (शरीर) की दिन में दो-चार बार मरम्मत करनी पडती है। सुबह भरा तो दोपहर को खाली और दोपहर को भरा तो शाम को खाली। यह एक ऐसी खाई है, जो प्रतिदिन दो-तीन बार भरने पर भी कभी पुरती नहीं है। उसे पूरने के लिए अनेक पापकर्म करने पडते हैं। इतना होने पर भी वह अपवित्र की अपवित्र ही रहती है और अस्थिर की अस्थिर ही। फिर इस अपवित्र और अस्थिर शरीर में मोह क्यों? इसके द्वारा जितना परोपकार हो सके उतना ही अच्छा है॥ ३५—४०॥

सनत्कुमार का शरीर

यस्य श्लाघा देवसभाया विबुधाग्रे,
भूयो भूयो गोत्रभिदाऽतीव कृतासीत्,
देहो नष्टः सोऽपि चतुर्थस्य च सार्व-
भौमस्याहो षोडशरोगैः समकालम्॥ ४१॥

अर्थ—पहले देवलोक के इन्द्र ने देवताओं की सभा में जिस शरीर के रूप और सौंदर्य की बार-बार प्रशंसा की थी, जिस के सौंदर्य को देखने के लिए देवता मर्त्यलोक में आये थे, उस सनत्कुमार नामक चौथे चक्रवर्ती का अत्यन्त सुन्दर शरीर भी क्षण भर में एक साथ श्वास, खासी, कोढ, भगन्दर, आदि बडे-बडे सोलह रोगों के बीजों से व्याप्त होकर नष्ट हो गया। तीव्र पुण्य के योग से प्राप्त हुए चक्रवर्ती के अत्यन्त

लावण्यपूर्ण शरीर को नष्ट होने मे भी देर न लगी, तो फिर सामान्य शरीर के नाश होनेमें क्या देर लगेगी ? ॥ ४१ ॥

विवेचन—

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते।
सेसव्व वलेय हायइ, समयं गोयम ! मा पमायए ॥ १ ॥
अरई गड विसूइया, आयंका विविहा फुसन्ति ते।
विवडइ विद्ध सई ते सरीरयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२॥

अर्थ—शरीर जीर्ण हो रहा है, बाल पक रहे हैं, सारा बल क्षीण होता जाता है, इसलिए एक पल भर भी प्रमाद न करो। चित्त का उद्वेग, वायुविकार, रक्तविकार, अतिसार आदि अनेक रोग शरीर को स्पर्श करते हैं, तो शरीर क्षीण हो जाता है। यदि इन रोंगो का आक्रमण तीव्र होता है तो, उसका विध्वंस ही हो जाता है, अतएव एक पल भर भी प्रमाद न कर।

'रूपे जराय भय' भर्तृहरि के इस वाक्य मे जो न्यूनता है, वह इस वाक्या मे नहीं है। इस मे यह बताया गया है कि रूप और शरीर के नाश के लिए अकेली जरा का ही भय नहीं है, किन्तु रोगों का भी भय है। जरा तो नियत समय पर ही आती है, पर रोग तो चाहे जब उत्पन्न हो जाता है और शरीर को हचमचाकर सौन्दर्य को मटियामेट कर देते हैं। जरा अवस्था एक है, जब कि रोग ६१२५०००० हैं। जरा शरीर को धीरे-धीरे घिसती है, जब कि प्रचण्ड रोग दम भर में शरीर के अस्तित्व को धूल में मिला देते हैं। वस्तुत. जरा और रोग दोनों ही

शरीर और उसके सौंदर्य को नष्ट करते हैं। रोगों का जब प्रकोप होता है, तो उनके सामने राज्य-सम्पत्ति, सैन्य-बल, बड़े-बड़े वैद्य और हकीम रूप या ताकत, कोई भी रक्षा नहीं कर सकता, चौथे चक्रवर्ती सनत्कुमार का शरीर-सौंदर्य अनुपम था, किन्तु रोगों के कारण वह किस प्रकार बर्बाद हो गया?

दृष्टान्त—भरतक्षेत्र के बारह चक्रवर्त्तियों में से चौथे चक्रवर्त्ती सनत्कुमार थे। उनकी राजधानी कुरु जंगल देश के हस्तिनापुर में थी। पूर्व पुण्योदय से उनका शरीर इतना सुन्दर और रमणीय था कि लेखक की लेखनी उसका वर्णन करने में असमर्थ है। वक्ता की जिह्वा में इतनी शक्ति नहीं कि वह उनके सौन्दर्य का ठीक-ठीक वर्णन कर सके। चित्रकार की कूँची में इतना सामर्थ्य नहीं है कि वह उसके लावण्य को यथावत् अंकित कर सके। अस्तु, शक्रेन्द्र ने सुधर्म सभा में उनके रूप की अत्यन्त प्रशंसा की। कहा—यों तो मध्यलोक में बहुतेरे लोग हुए और होंगे; किन्तु सनत्कुमार चक्रवर्त्ती के समान रूप 'न भूतो न भविष्यति'—न हुआ न होगा। सभा के दो देवताओं को इसमें अतिशयोक्ति मालूम हुई। उन्होंने सोचा, सनत्कुमार पूर्व भव का शक्रेन्द्र का कोई सबंधी होगा, इसीलिए वह उसकी प्रशंसा करता है। शक्रेन्द्र को इस बात का पता चला तो उसने दोनों देवताओं को सम्मति दी कि यदि तुम्हें विश्वास नहीं आता, तो जाओ और अपनी आँखों देख आओ कि मैं ठीक कहता हूँ या नहीं? तथास्तु, कहकर दोनों देव भरत-खंड में आये। वृद्ध का रूप धर दोनों ने नगर में प्रवेश किया। चक्रवर्त्ती की सम्मति से दरबान ने उन्हें राजमहल में प्रवेश करने की

आज्ञा दे दी। चक्रवर्ती ने पूछा—'तुम कहाँ के निवासी हो? यहाँ आने का प्रयोजन क्या है? वृद्ध ने कहा—'हम दूर देश के निवासी हैं। रास्ता चलते-चलते जूते घिस गये हैं। उनके टुकड़ों की यह पोटली बाँध ली है। इसी से आप अनुमान कर सकते हैं, कि हम कितनी दूर से आ रहे हैं। इतनी दूर से आने का कारण और कुछ नहीं सिर्फ आपका रूप ही है। महाराज! आपका रूप इतना उत्कृष्ट है, कि हमारे देश में आपके रूप की इतनी प्रशंसा हो रही है, कि हमें सुनकर उसपर विश्वास नहीं हुआ। प्रशंसक का प्रशंसनीय के साथ पूर्व जन्म का सम्बन्ध होगा—ऐसा मानकर हम उन शब्दों में अतिशयोक्ति समझने लगे। फिर अपनी आँखों देखने के लिए हम अपने देश से यहाँ आये हैं। आपका रूप देखकर हमे विश्वास हो गया है, कि वास्तव में आपके रूप की जो प्रशंसा होती है, वह ठीक है। आपका रूप वैसा ही है। आकृति वैसी ही सुन्दर है। वैसी ही मनोहर छवि है। वैसा ही दर्शक की आँखों में चकाचौंध पैदा करनेवाला ललाट का तेज है। वैसे ही गुलाबी गाल हैं और वैसा ही समस्त संसार के सौन्दर्य को संग्रह कर रखनेवाला आपका मनोहर मुख-कमल है।' यह प्रशंसा सुनकर चक्रवर्ती के मन में गर्व का अंकुर उत्पन्न हुआ। ओ हो! इतनी दूर-दूर तक मेरे रूप की प्रशंसा हो रही है, सचमुच मेरा रूप उत्कृष्ट है। गर्व के आवेश में चक्रवर्ती ने कहा—'तुम इस समय मेरा रूप देखकर चकित क्यों हो रहे हो? मैंने अभी मर्दन कराया है। शरीर तेल से भरा हुआ है, स्नान किया नहीं है, वस्त्राभूषण पहने

नहीं है। इस समय देखने में क्या आनन्द आता होगा ? सचमुच मेरा रूप देखना हो, तो जब मैं स्नान-मज्जन करके वस्त्राभूषण पहनकर राज-सभा में सिंहासन पर बैठूँ, तब वहाँ आकर मेरे रूप की खूबी देखना। मेरा खयाल है उस समय तुम अत्यन्त विस्मित हो जाओगे।' परदेशियों ने कहा—'बहुत ठीक। ठीक समय पर राज-सभा में उपस्थित होंगे, किन्तु कृपा कर इतनी सिफारिश कर दीजिएगा कि आपके सेवक हमें आने से रोक न देवें।' इतना कहकर परदेशी राजा के बतलाये हुए उतारे की ओर चले गये। आज परदेशी लोग रूप देखने आने वाले हैं, यह विचार कर उन्होंने बढिया-से-बढ़िया पोशाक पहनी, बढिया-से-बढिया आभूषण धारण किये और राज-सभा में आकर सिंहासन पर विराजमान हुए। एक सेवक ने ऊपर छत्र धारण किया। दोनों ओर दो आदमी चँवर ढोरने लगे। क्रमशः बैठे हुए राजा, मन्त्री, अमलदार, सेठ, साहूकार आदि से सभा खचाखच भर गई। इतने में वे दोनों परदेशी आ पहुँचे। उन्हें चक्रवर्ती के पास बैठाने की उसी समय व्यवस्था कर दी गई। वे लोग सामने बैठकर बारीकी के साथ आन्तरिक शरीर-सौन्दर्य की जाँच करने लगे, तो उन्हें एकदम नया परिवर्तन मालूम हुआ। इतने से समय में इतना भारी परिवर्तन कैसे हो गया ? उन्होंने आश्चर्य के साथ माथा ठोका।

चक्रवर्ती—परदेशियो, कहो इस समय कैसा रूप है ?

परदेशी—उस समय और इस समय के रूप में तो सरसों और सुमेरु के समान अन्तर है !

चक्रवर्ती—इसमें नवीनता ही क्या है ? उस समय की और इस समय की शरीर की स्थिति में भी तो बहुत अन्तर है।

परदेशी—नहीं महाराज ! हम जो कह रहे हैं, आप उससे उलटा समझे हैं। उस समय का रूप तो बहुत ही बढ़िया था। अब उतना बढ़िया रूप नहीं है।

चक्रवर्ती—क्यों, इस रूप के विस्मय में तुम्हारी बुद्धि भ्रम में पड गई है ?

परदेशी—नहीं महाराज नहीं ! हमारी बुद्धि बराबर ठिकाने पर है। उस समय आपका शरीर नीरोगी था, अन्दर और बाहर अत्यन्त सुंदर था ; किन्तु इस समय वह बदल गया है। अब तो सिर्फ बाहर से सुंदर मालूम होता है, भीतर से बिगड़ गया है। एक ही साथ सोलह बड़े-बड़े रोग आपके शरीर में उत्पन्न हो चुके हैं। आपको हमारे वचन पर विश्वास न हो, तो आप स्वयं परीक्षा कर देखिए। सोने की थाली में पान की एक पीक डालकर थोड़ी देर तक उसे ढँक रखें और फिर उसे देखें। आपको स्वयं ही पता चल जायगा

सनत्कुमार ने इसी तरह किया तो पीक में विचित्र रंग के सूक्ष्म जंतु उसमें उत्पन्न हुए दिखाई दिये। यह देखकर सनत्कुमार को मालूम हुआ कि मैंने अपने रूप का अभिमान किया था, उसी का यह परिणाम है। जो रूप उत्कृष्ट सुन्दर और अद्वितीय था, वह एक ही क्षण में बिगड़ गया। पल भर में जब यह शरीर रोग से व्याप्त हो गया, तब इस शरीर का क्या भरोसा ? धिक्कार है शरीर के इस सौन्दर्य को ! धिक्कार है इस शारीरिक मोह को ! और धिक्कार है इस राज्य-संपत्ति को, जो

पल भर में नष्ट हो जाती है। इस अवसर पर चक्रवर्ती को जो वैराग्य हुआ, उससे उन्होंने ससार का परित्याग कर दिया। दीक्षा धारण करने के बाद रानियाँ, कर्मचारी, अमीर, उमराव आदि ससार में वापस लाने की लालसा से छः महीने तक उनके पीछे लगे रहे ; पर उन्होंने उनके सामने देखा तक नहीं। अन्त में निराश होकर वे सब लौट आये और सनत्कुमार मुनि रोगों की वेदना को शान्त-भाव से सहन करते हुए तपस्या करने लगे। रोगों की मौजूदगी में ही उन्होंने सात सौ वर्ष तक तपस्या की। इस तपस्या से उन्होंने आमर्षौषधि, विप्रौषधि, खेलौषधि, जल्लौषधि, सर्वौषधि आदि लब्धियों की प्राप्ति हुई। एक बार फिर इन्द्र महाराज ने उनके धैर्य और सहनशीलता की प्रशसा की। पहलेवाले दोनों देवता इन्द्र की सम्मति लेकर सनत्कुमार की धीरज की परीक्षा करने के लिए वैद्य के रूप में उस वन में आये, जहाँ सनत्कुमार मुनि तप कर रहे थे। वे सनत्कुमार मुनि के आस-पास चक्कर काटने लगे। मुनि ने पूछा—'तुम यहाँ किस प्रयोजन से घूम रहे हो?' वैद्यों ने कहा—'हम वैद्य हैं। हमारे पास सब प्रकार की औषधियाँ हैं। आपके शरीर में बहुत-से रोग हैं। इनकी चिकित्सा करा लीजिए। हमें पैसों की लालसा नहीं है। हम परोपकार के लिए मुफ्त चिकित्सा करते हैं, अतएव अपने मन में किसी प्रकार की आशका न कर हम से चिकित्सा करा लीजिए।' सनत्कुमार ने कहा—'वैद्यराजो! तुम किस दर्द की दवा करते हो? आन्तरिक दर्दों की? या बाह्य दर्दों की? शरीर के दर्दों की या आत्मा के दर्दों की?' वैद्यों ने

कहा—'शरीर के—बाह्य—दर्दों की।' मुनि बोले—'इन दर्दों को दूर करना तो सहज है। देखो, इस थूक से भी ये मिट सकते हैं।' इतना कह कर उन्होंने अपना थूक लेकर शरीर के एक हिस्से पर चुपड़ लिया और वह हिस्सा सुवर्ण वर्ण का सा हो गया। मुनि ने फिर कहा—'वैद्यो, शरीर के दर्दों की अपेक्षा आत्मा के दर्द अधिक कष्ट साध्य हैं। वे बहुत समय से लगे हुए हैं और बहुत ही त्रासजनक हैं। इन दर्दों—ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों—की दवा तुम्हारे पास हो तो दो। मैं उसका सेवन करूँगा!' वैद्यों ने कहा—'ये रोग तो हमें भी कष्ट दे रहे हैं। इनकी दवा हमारे पास नहीं है।' इतना कहकर उन्होंने मुनिराज की प्रशंसा की, उनके धैर्य का बखान किया और चले गये। सनत्कुमार मुनि बहुत वर्षों तक संयम की आराधना करके एक मास का संथारा कर केवल ज्ञान पाकर समाधि-परिणामों के साथ कालधर्म पाकर मोक्ष पधारे।

इस दृष्टान्त से शरीर की नश्वरता और रोगीलापन स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। इस क्षणभंगुर शरीर से भी सनत्कुमार ने जैसा सार निकाला, उसी प्रकार शरीर पर मोह न रखते हुए परोपकार, व्रत, नियम, तप, जप, करके उससे सार निकालना चाहिए। ॥४१॥

छठी भावना का उपसंहार

ज्ञात्वा गर्ह्यं फल्गु पदार्थाच्चित्कायं,
मुक्त्वा मोहं तद्विषयं भोगनिकायम्।

लब्धुं लाभं मानवतन्वा कुरु कामं,
धर्मं ज्ञान ध्यान तपस्यामयमर्हम् ॥४२॥

अर्थ—हे भद्र ! निस्सार तुच्छ पदार्थों से भरपूर इस शरीर को निन्दनीय और तुच्छ समझकर इस पर जो अधप्रेम—मोह—है उसे त्याग दे । विषय-भोग की वासना को कम करके या जड़ से उखाड़ कर फैंक । इस मानव शरीर में से आत्मश्रेय तथा मोक्ष प्राप्ति रूप उत्तम लाभ को प्राप्त करने के लिए ज्ञानी महात्माओं द्वारा उपदिष्ट ज्ञान, ध्यान, तपमय उत्तम धर्म का सेवन कर, जिससे कर्म-बन्धन टूटें और भव-भ्रमण छूटे । (४२)

विवेचन—भगवती सूत्र के नवें शतक के तैंतीसवें उद्देश में जमालि क्षत्रिय कुमार अपनी माता के सामने शरीर का वर्णन करते हुए कहते हैं—

'एवं खलु अम्मयाओ ! माणुस्सग सरीरं दुक्खाययणं विविहवाहि सयसन्निकेयं अट्ठिकट्ठुट्ठियं छिरापहारु जालउवण-द्धसंपिणद्धं मट्टियभंडं व दुब्बलं असुइसंकिलिट्ठं अणिट्ठविय सव्वकालसंठप्पयं जराकुणिम-जज्जरघरं व सडणपडणविद्धंसण-धम्मं पुव्वि वा पच्छा वा अवस्स विप्पजहियव्वं भविस्सइ ।'

अर्थ—माता ! मनुष्य का शरीर दुःख का घर है । हजारों व्याधियों के उत्पन्न होने की भूमि है, हाड़-रूपी काठ के आधार पर टिका हुआ है, नाड़ियों और नसों से जकड़ा है, मिट्टी के कच्चे बर्तन की नाईं दुर्बल

है, अशुचिमय पदार्थों से भरा है, सदा अस्थिर है, जरा और मृत्यु का टूटा-फूटा झोंपड़ा है, सड़ना पड़ना और विध्वंस होना इसका स्वभाव है, और पहले या पीछे—कभी न कभी, छोड़ना अवश्य ही पड़ेगा।

उल्लिखित वाक्य में शरीर की भीतरी हालत का सच्चा चित्रण किया गया है। निस्सार, तुच्छ और अपवित्र पदार्थों से भरे हुए इस शरीर में न कस्तूरी, केशर, चंदन, अगंजा जैसे सुगन्धित पदार्थ हैं और न सुवर्ण, मोती, माणिक, नीलम और पन्ना जैसे देखने में सुन्दर पदार्थ ही हैं। इसके विपरीत हाड़, मांस आदि निस्सार और अपवित्र पदार्थ भरे पड़े हैं। इसके भीतर निवास करना भी आत्मा के लिए दुःख का ही कारण है। पाखाने या ऐसे ही किसी गंदगीवाले स्थान में निवास करना किसे रुचिकर होगा? दुःख का दूसरा कारण शरीर की अनित्यता है। जिस वस्तु को इष्ट मान लिया है, उसे किसी प्रकार इज़ा पहुँचते या नष्ट होते देखकर स्वभावतः मनुष्य को दुःख होता है। कहा भी है—

जे केइ सरीरे सत्ता, वरणे रूवे य सव्वसो।
मणसा कायवक्केणं, सव्वेते दुक्खसंभवा॥

अर्थात्—जो मनुष्य शरीर या उसके रूप-लावण्य में मन, वचन और कार्य से आसक्त हो रहे हैं उन्हें अन्त में दुःख ही भुगतना पड़ता है।

देहे विमुह्य न कुरुषे किमघं न वेत्सि,
देहस्थ एव भजसे भवदुःखजालम्।

लोहाश्रितो हि सहते घनघातमग्नि—
र्बाधा न तेऽस्य च नभोवदना श्रयत्वे ॥

अर्थात्—हे भद्र! शरीर में मोहित होकर उसके लिए विषयों में आसक्त बनकर पाप कर्म क्यों करता है? तुझे खबर नहीं कि आत्मा शरीर मे रहकर ही ससार के दु खों को भुगत रहा है। जैसे अग्नि यदि लोहे की सगति न करे, तो उसे घनों की चोटें नहीं झेलनी पड़तीं, किन्तु लोहे का आश्रय लेने से सहनी पड़ती हैं, उसी प्रकार अग्नि जैसे तेजस्वी आत्मा को शरीर रूप लोहे का ससर्ग यदि न हो, वरन् आकाश की भाँति निर्लेपता, अनाश्रितता हो, तो किसी भी प्रकार की पीड़ा न सहनी पड़े। उत्तराध्ययन और आध्यात्मकल्पद्रुम के पद्यों में शरीर की आसक्ति को दु ख का कारण बतलाया गया है। हिरन शब्द की आसक्ति में, पतगा रूप की आसक्ति में, भौंरा गन्ध की आसक्ति मे, मत्स्य स्वाद की आसक्ति में और हाथी स्पर्श की आसक्ति में अपने प्राण गँवा बैठता है। इन्हें एक-एक इन्द्रिय की आसक्ति में विडम्बना भोगनी पड़ती है। तब जो लोग पाँचों इन्द्रयों के साथ शरीर पर आसक्ति रखते हैं, उन्हें यदि विडम्बनाएँ भोगनी पड़ें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इसीलिए कहा गया है—'मुक्त्वा मोह।' भोग बहुत भोगे हैं। देवता के भव में पल्योपम और सागरोपम पर्यन्त दिव्य भोग भोगे फिर भी तृप्ति न हुई, तो मनुष्य के स्वल्पकालीन तुच्छ भोगों से क्या तृप्ति होना सम्भव है? जब तक मोह को न भगा दिया जाय, तब तक न भोगों से तृप्ति हो सकती है न संतोष ही। मोह हटाने से ही

संतोष मिलता है। बिना संतोष के चित्तवृत्ति धर्म में नहीं स्थिर होती। ज्ञान-ध्यान में मन नहीं लगता, तपस्या नहीं हो सकती और जब तक यह न हो, तब तक कर्म से छुटकारा पाकर मोक्ष नहीं प्राप्त किया जा सकता। यदि इस जीवन में मोक्ष की निसेनी गुणश्रेणि पर न चढ़ पाये, तो फिर ऐसे सुअवसर के मिलने की आशा भी नहीं की जा सकती; क्योंकि 'माणुस्स खलु दुल्लह' मनुष्य जीवन मिलना कठिन है। इस दुर्लभ जीवन को खाने-पीने, शरीर को सिंगारने या मौज-मजे उड़ाने में भोग भोगने में व्यय कर दिया, तो वह लाभ नहीं हो सकता, जो इस जीवन से होना चाहिए, इसीलिए कहा है—'लब्धुं लाभ' इत्यादि। मानव शरीर का लाभ समाज-सेवा, देश-सेवा, धर्म-सेवा और आत्म-सेवा बजाना ही है। इस जीवन में जितनी सेवा बजाई जा सके, उतना ही लाभ है। इस लाभ को छोड़कर सिर्फ टीप-टाप करने या शरीर को पोषने में ही यदि समस्त शक्तियों का उपयोग किया जाय, तो उससे अमरता प्राप्त नहीं हो सकती। सुन्दर या असुन्दर, पुष्ट या अपुष्ट, बलवान् या दुर्बल, चाहे जैसा शरीर हो, अन्त में तो राख या मिट्टी में ही मिलनेवाला है। दलपतराम ने ठीक ही कहा है कि—'राख थशे रणमां बली ने बधी, कंचन सरखी शुभ काया।' और भी एक विद्वान् ने कहा है—

कितने मुफलिस हो गये, कितने तवंगर हो गये।
खाक में जब मिल गये, दोनों बराबर हो गये॥

जब इस शरीर की वर्तमान स्थिति अपवित्रता से भरी हुई है और,

भविष्य की स्थिति नष्ट होने की है, तब ऐसे शरीर पर मोह रखकर विषयों में फँसे रहकर अमूल्य अवसर को गँवानेवाला बुद्धिमान् नहीं, बल्कि मूर्ख ही गिना जायगा। कौन विद्वान् पुरुष इस प्रकार की मूर्खता करेगा? कोई नहीं। विवेकी पुरुष तो अशुचि भावना से शरीर की आन्तरिक हालत का विचार करके उससे श्रेय साधन करने का ही प्रयास करेंगे। ॥४२॥

(७) आस्रव-भावना

[शरीर के साथ रहने वाली आत्मा की मोहदशा में कर्म का प्रवाह किस प्रकार आत्मा म प्रवेश पाता है, यह बात इस भावना मे बतलाई जावेगी ।]

आस्रव-भावना

आस्रव का मुख्य भेद मिथ्यात्व है

पटोत्पत्तिमूल यथा तन्तुवृन्द,
घटोत्पत्तिमूल यथा मृत्समूह ।
तृणोत्पत्तिमूलं यथा तस्य बीज,
तथा कर्ममूल च मिथ्यात्व मुक्तम ॥ ४२ ॥

अर्थ—जैसे वस्त्र की उत्पत्ति मे तन्तुओ का समुदाय मुख्य कारण है, घडे की उत्पत्ति में जैसे मिट्टी का समूह कारण है और पृथ्वी पर उगने वाली असख्य वनस्पतियो का मूलकारण जैसे उनका बीज है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय आदि कर्मो की उत्पत्ति तथा विस्तार मे शास्त्रकारो ने मिथ्यात्व को मुख्य कारण कहा है। तात्पर्य यह है, कि आत्म-प्रदेशों मे कर्म के आने को आस्रव कहते हैं और उनके पॉच भेदा मे से मिथ्यात्व का नम्बर पहला है ॥४३॥

विवेचन—यदि आत्मा को तालाब रूप माना जाय, तो आस्रव को पानी आने की मोरी माना जा सकता है। यदि आत्मा की एक महल के समान कल्पना कर ले, तो आस्रव को उसमें प्रकाश और वायु लानेवाली खिडकी या दर्वाजे के रूप में कल्पित कर सकते हैं। अथवा यदि आत्मा को कार्मण शरीर का एक कोठार समझें, तो उस कोठार में धान्य डालने के द्वार को आस्रव समझ सकते हैं। इस कोठार में अनादि काल से कर्म-रूपी धान्य का आयात—आगमन—जारी है। कोठार में से एक ओर खाने के लिए धान्य अलग निकाल लिया जाता है और दूसरी ओर नया धान्य भर दिया जाता है। कोठार कभी धान्य से खाली भी हो सकता है, क्योंकि उसमें से खर्च तो सदैव होता रहता है, पर आमदनी सदा नहीं होती, किन्तु कार्मण शरीर—कर्माशय-रूप कोठार में कर्मों की आमदनी—आय—सदा ही जारी रहती है। विपाक योग्य कुछ कर्म भोग लिये जाते हैं, यही व्यय है। किन्तु आमतौर पर आय उससे बहुत अधिक रहती है, इसलिये यह कोठार कभी खाली नहीं हो सकता। ऐसे संस्कारी जीव बहुत विरले होते हैं, जिनके कर्म के कोठार में से अधिक निर्यात हो और उसके खाली होने का अवसर आ पहुँचे। जैसे हवेली में खिडकियाँ और दर्वाजे बहुत से होते हैं, वैसे ही कार्मण शरीर में कर्म के आने के भी अनेक द्वार हैं, किन्तु पाँच उन में मुख्य हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग। अगले पाँच काव्यों में क्रमशः पाँचों द्वारों का वर्णन है और इसी हिसाब से इस प्रथम काव्य में कर्म-बंध के मुख्य कारण-रूप मिथ्यात्व का वर्णन

किया गया है। जब तक मिथ्यात्व द्वार खुला रहता है, तब तक अन्य द्वार बद नहीं होते, क्योंकि मिथ्यात्व सबसे मुख्य है। १—२—३—४—५ इन अकों में एक का अक मुख्य है, वह पाँचों अकों में दिखाई पड़ता है। वह सब से छोटा है, पर उसकी सत्ता सबसे अधिक है। वह अकेला दस हजार की सख्या का प्रतिनिधि है। यदि उसे हटा दिया जाय तो १२३४५ इस सख्या में दस हजार की कमी हो जायगी। यह सख्या सिर्फ २३४५ ही रह जायगी। इस सख्या में दूसरे नम्बर दो का अक है। वह यहाँ दो हजार की सख्या का प्रतिनिधि है। उसे हटा देने पर यह सख्या ३४५ ही शेष बचेगी। तीसरे अक (३) तीन सौ का प्रतिनिधि है। उसे अलहदा कर दें, तो सिर्फ ४५ ही बचेंगे। उसी प्रकार चार का अक निकाल देने से केवल ५ ही शेष रह जाते हैं। तात्पर्य यह है कि पिछले-पिछले अकों को घटा देने से सख्या में बड़ी भारी कमी हो जाती है। इसी प्रकार एक के स्थान पर मिथ्यात्व, दो के स्थान पर अविरति, तीन की जगह प्रमाद, चार की जगह कषाय और पाँच की जगह योग है। इन पाँचों आस्रवों के पाँच द्वार यदि खुले रहे, तो आत्मा के कोठार में एक समय में १२३४५ कर्म-वर्गणाएँ आती हैं। यदि ऐसी कल्पना कर लें, तो उसमें से एक के अक रूप मिथ्यात्व को अलग कर देने से दस हजार की कमी हो जाती है। दो के स्थानीय अविरति को हटा दें, तो १२३४५ में से बारह हजार की आमद कम हो जाती है। तीसरे अक के स्थानीय प्रमाद को निकाल दें, तो बारह हजार तीन सौ की आमद

घट जाती हैं। चौथे अंक के स्थानीय कशाय को पृथक् करने से सिर्फ पाँच की ही आमद रह जाती है—बारह हजार तीन सौ चालीस की आमद घट जाती है। पाँच के स्थानीय योग को भी घटा दें, तो कर्मों का आगमन सर्वथा ही रुक जाता है। वास्तव में प्रत्येक समय कर्म की अनन्त वर्गणाएँ कर्माशय में प्रवेश करती हैं, किन्तु मिथ्यात्व अविरति, आदि की तरतमता को समझने के लिए ही १२३४५ की संख्या एक दृष्टान्त के तौर पर मान ली है। जीव को भवभ्रमण कराने में तथा तथा संसार-समुद्र में गोते खिलाने में यदि किसी ने मुख्य भाग लिया है, तो वह मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व ने ही भूतकाल में आत्मा को अत्यधिक हानि पहुँचाई है और वर्त्तमान काल में भी कर्मों की आमद बढ़ाकर यही आत्मा को दुर्गति के गहरे कुएँ में पटकनेवाला है। इसलिए आस्तव के पाँच द्वारों में इसे सर्वप्रथम गिना गया है। मिथ्यात्व शब्द ही मिथ्यात्व की कुछ व्याख्या समझा देता है, इसी कारण मूल काव्य में उसकी विशेष व्याख्या नहीं की गई है। वहाँ सिर्फ इतना ही कहा गया है कि—'कर्ममूलं च मिथ्यात्वमुक्तम्।' अर्थात्—सब कर्मबंध का मूल मिथ्यात्व कहा गया है। मिथ्यात्व शब्द का यौगिक अर्थ 'खोटापन' होता है, पर यहाँ योगरूढ अर्थ की विवक्षा की गई है, अर्थात्—खोटी श्रद्धा, खोटी मान्यता। मिथ्यात्व, मोहनीय कर्म की एक मिथ्यात्व मोहनीय नामक प्रकृति के उदय से होता है। इसी की बदौलत असत्य तर्क, युक्तियों और खोटी-खोटी शंकाओं का जन्म होता है। जिसे पीलिया रोग होता है, वह मनुष्य सफेद, काली, लाल

आदि वस्तुओं को पीली-पीली ही देखता है, इसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय वाले जीव को धर्म के सत्य सिद्धान्त असत्य मालूम होते हैं, वह उसमें कुतर्क कर के खोटी शकाएँ उठाता है, सत्य की भूमिका को उलट-पलट देता है, स्वय असत्य मार्गपर चलता है और दूसरों को भी ले जाता है।

दृष्टान्त—जमालि ससार पक्ष में महावीर स्वामी का दामाद था। उसने तीव्र वैराग्य से पाँच सौ मनुष्यों के साथ महावीर स्वामी से दीक्षा धारण की थी। ग्यारह अगों का, जो जैनधर्म के मुख्य आदर्श सूत्र हैं, उसने भली-भाँति अध्ययन किया और उसे सौंपे हुए पाँच सौ साधुओं के साथ सावर्थी नगरी की ओर विहार करने का विचार किया। उसने महावीर स्वामी की आज्ञा माँगी, पर वे मौन रहे। उन्होंने हाँ ना कुछ भी उत्तर न दिया। दूसरी बार पूछने पर भी भगवान् ने कुछ उत्तर न दिया। तीसरी वार पूछने पर भी उसे उत्तर न मिला। भगवान् उसके विहार को श्रेयस्कर नहीं समझते थे, यही उत्तर न देने का कारण था। विहार से अमगल जानकर भगवान् ने 'हाँ' नहीं कहा और न कहने से उसके हृदय में बुरा विचार उत्पन्न होगा अथवा वह आज्ञा का उल्लघन करेगा, यह जानकर नाहीं भी नहीं की। बीच का रास्ता मौन रहने का भगवान् ने अख्त्यार किया। उन्होंने श्रेय और अश्रेय का विचार करके ही यह मार्ग अगीकार किया। अस्तु। जमालि रुका नहीं। 'आप की आज्ञा हो' इस प्रकार अपने मुख से ही बोलकर पाँच सौ साधुओं के साथ उसने विहार

कर दिया। वह सावथीं पहुँचा, तब रास्ते में रूखा-सूखा आहार मिलने से उसे दाहज्वर रोग उत्पन्न हो गया। शरीर में जलन के कारण असह्य वेदना होने लगी। किसी समय उसने अपने शिष्य से सोने के लिए बिछौना बिछाने को कहा। शिष्य पडिलेहण करके बिछौना बिछा रहा था। उस समय जमालि में बैठने की शक्ति न होने के कारण थोडा विलम्ब भी उसे असह्य हुआ, अतएव वह शिष्य से पूछने लगा—'बिछौना बिछा दिया क्या?' शिष्य ने उत्तर में कहा—'जी नहीं, बिछाया नहीं, बिछा रहे हैं।' थोड़ी-थोडी देर में उसने दूसरी और तीसरी दफा पूछा, तो फिर वही पहले वाला उत्तर मिला! इस उत्तर से उसका विचार शास्त्रीय सिद्धान्त की ओर चला गया। उसने सोचा—'महावीर स्वामी का सिद्धान्त तो यह है कि जो कार्य करना आरम्भ किया है उसे 'किया हुआ' कहना चाहिए, परन्तु व्यवहार में तो इसके विपरीत अनुभव हो रहा है। बिछौना कभी से करना आरम्भ कर दिया है, फिर भी वे कहते हैं—'अभी किया नहीं, कर रहे हैं।' महावीर के सिद्धान्त के अनुसार तो बिछौना करते समय भी 'किया' कहना चाहिए, पर यह हो कैसे सकता है? बिछौने के वर्त्तमानकाल में भूतकाल का प्रयोग कैसे हो सकता है? यदि प्रयोग किया भी जाय, तो उसका अर्थ और ही कुछ होगा। महावीर के सिद्धान्त के अनुसार शिष्यों ने 'बिछौना बिछा दिया' ऐसा कहा होता, तो मैं वहाँ जाता और सोने लगता; पर मुझे निराश होना पड़ता। क्योंकि बिछौना बिछना तो अभी चालू है। बिछा हुआ तो

था नहीं। तब सत्य क्या है ? वर्त्तमान व्यवहार का अनुभव सत्य है या 'कडे मारो कडे'—(क्रियमाण' कृत.) जिसे करना आरम्भ किया, उसे 'किया' कहना, यह सिद्धान्त सत्य है ?' शंका का बल बढ़ता गया। मन की डाँवाडोल स्थिति को भी लाँघकर वह विपर्यास—विपरीत ज्ञान—की ओर झुका। उसी समय मिथ्यात्व मोहनीय का भी उदय हो आया। महावीर के सिद्धान्त के असली रहस्य को खोज निकालने की विचार-शक्ति पर मिथ्यात्व का आवरण आ गया। उसकी बुद्धि उलटे रास्ते चली। कुयुक्ति सबद्ध कुबुद्धि के कारण उसने असत्य तर्कों को जन्म दिया और महावीर के सिद्धान्त को उलटकर नवीन सिद्धान्त खोजने का दावा कराया। इस नवीन सिद्धान्त की खोज की खुशी में जमालि वेदना को भी भूल गया। उसने साधुओं को पुकार कर अपने पास बुलाया और कहा—'महावीर स्वामी के सिद्धान्त में जो भूलें रह गई हैं, उनमें से एक मैंने खोज निकाली है। 'चलमाणे चलिए—कडमाणे कडे' यह महावीर का सिद्धान्त, देखो प्रत्यक्ष से विरुद्ध है। अभी तुम बिछौना कर रहे थे, तो 'कर रहे हैं' कहा, 'कर दिया' ऐसा नहीं कहा। गौतम स्वामी वगैरह किसी को भी इस भेद का पता न चला, पर मैंने इसका पता लगा लिया। इस वेदना को सहन करते-करते मुझे विशिष्ट ज्ञान प्राप्त हो गया है।' जमालि के इन शब्दों को सुनकर कुछ समझदार साधुओं ने उससे कहा—'तुम्हारा यह कथन अभिमान युक्त और गहरी समझ से रहित है। 'चलमाणे चलिए' यह सिद्धान्त निश्चय नय का है,' इसे व्यवहार में लागू करने से ही

घोटाला होता है। जुलाहे ने कपडे का एक तागा तैयार किया हो, तभी उतना कपड़ा बुन जाने के कारण कपड़ा बुना गया, ऐसा कहा जा सकता है। यद्यपि बुनने की क्रिया चालू है, वह वर्त्तमान काल में मौजूद है, फिर भी जितना हिस्सा बुना जा चुका है, उतने हिस्से की अपेक्षा से भूतकाल लग चुका है। कोई भी क्रिया असख्य काल के बिना सिद्ध नहीं होती ; अतएव एक भाग में वर्त्तमान और दूसरे भाग मे भूतकाल का समावेश होने के कारण वर्त्तमानकाल और भूत-काल दोनों का समानाधिकरण्य सभवित है , अतएव हे जमालि ! तुम्हें इस विषय में शंका रखना उचित नहीं है। महावीर का अनेकान्त सिद्धान्त अबाधित है। तुम्हारी मिथ्या आत्म-प्रशसा को हम स्वीकार नहीं कर सकते।' मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से यह सत्य कथन उसे रुचा नहीं। अभिमान की धुन में वह अपना ही राग अलापता रहा। कुछ साधु उसके कुयुक्ति-जाल में फँस गये और कुछ उससे अलग होकर विहार करके महावीर स्वामी के समीप पहुँचे। इस समय भगवान् महावीर चम्पा नगरी में विराजमान थे। कुछ समय बाद जमालि को आराम हुआ। उसने सावर्थी से विहार किया और महावीर के समीप चम्पा में आया। वह भगवान् से बोला—'महाराज, आपके बहुतेरे शिष्यों ने आपसे अलग विहार किया होगा ; पर वे छद्मस्थ अवस्था में जुदा हुए और छद्मस्थ अवस्था में ही वापिस आये होंगे ; पर मैं तो केवली होकर आया हूँ।' इन मिथ्या अहकार के वचनों को सुनकर गौतम स्वामी ने दो प्रश्न पूछे—(१) जीव नित्य है या अनित्य

(२) लोक शाश्वत है या अशाश्वत ? इन दोनों का समाधान जमालि से नहीं बन पड़ा। सब उसकी पोल समझ गये। फिर भी उसने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा। अन्त में वह अपने मन में दृढ रहकर पाँच लाख मनुष्यों को अपनी ओर खींचकर बहुत वर्षों तक उत्सूत्र प्रचार करके आखिर पन्द्रह दिन का संथारा करने के बाद लगे हुए दोषों की आलोचना किये बिना ही मृत्यु का शिकार बनकर तेरह सागर की आयुवाला किल्बिषी देव हुआ। वह मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से दर्शन-भ्रष्ट हुआ, अतएव उसे तिर्यञ्च, मनुष्य और देवता, इन तीन गतियों में बहुत समय तक परिभ्रमण करना पड़ेगा। वह दर्शन से च्युत न हुआ होता, तो उसकी करनी ऐसी अच्छी थी कि शीघ्र ही उसे मुक्ति प्राप्त हो जाती, पर मिथ्यात्व की बदौलत फिर चक्कर काटने पड़ेंगे। मिथ्यात्व के संसर्ग से सबसे पहले बुद्धि में विपर्यास होता है, अतएव वह कुदेव को देव और देव को कुदेव, कुगुरु को गुरु और गुरु को कुगुरु, अधर्म को धर्म तथा धर्म को अधर्म मानता है। दुराग्रह होने से उसमें सरलता नहीं रहती, कुयुक्तियों को हथियार बनाकर वितण्डावाद करके क्लेश की वृद्धि करता है, शान्ति भंग करके अशान्ति उत्पन्न करता है, इस प्रकार बहुत से कर्मों की वृद्धि करता है। मिथ्यात्व और कर्म-बन्धन में परस्पर कैसा कार्य-कारण भाव है, यह बात पद्य के प्रारम्भ के तीन चरणों में बताई गई है। जैसे मिट्टी, तन्तु और बीज क्रमशः वस्त्र, घट तथा वनस्पती के कारण हैं, उसी प्रकार कर्मबन्ध का कारण मिथ्यात्व है। कार्य को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि पहले

कारण का स्वरूप जानकर उसे रोक दिया जाय। कर्मबंध और कर्म की वृद्धि को रोकने के लिए पहले मिथ्यात्व को रोकना चाहिए॥ ४३॥

अव्रत आस्रव

प्रवृद्धैर्जनैरर्जिते द्रव्यजाते,
प्रपौत्रा यथा स्वत्ववादं वदन्ति।
भवानन्त्यसयोजिते पापकार्ये,
विना सुव्रतं नश्यति स्वीयता नो॥४४॥

अर्थ—बाप-दादा द्वारा उपार्जन की हुई संपत्ति उसके लड़के के लड़के पोते को, जिसने अपने बाप-दादा को न कभी देखा है और न उस द्रव्य के उपार्जन में किसी प्रकार का भाग लिया है, वारसा में मिलती है; अथवा बाप-दादा द्वारा बैंक में जमा कराये हुए रुपयों का ब्याज उसके उत्तराधिकारियों को मिलता है—ठीक इसी प्रकार यह जीव पिछले अनन्त भवों में पाप कर्मों के जिन साधनों की योजना कर आया है, उनके साथ यद्यपि अभी साक्षात् संबंध मालूम नहीं होता; किन्तु जब तक उन पाप स्थानों का मन-वचन-काय से त्याग नहीं किया है, अव्रत को रोककर व्रतों को धारण नहीं किया है, तब तक पूर्व के अधिकरणों के साथ का स्वत्व-रूप संबंध नष्ट नहीं होता; अतएव उन पापों की क्रिया जीव को लगती रहती है॥ ४४॥

विवेचन—द्रव्य, उपार्जन करनेवाले के पास अधिक-से-अधिक जीवन पर्यन्त रहता है। वह दूसरे जीवन में साथ नहीं जा सकता;

किन्तु इस भव में किये हुए पाप के साधनों का वारसा, पाप-कर्म करने वाले को दूसरे भव में भी मिलता है। उदाहरण के लिए एक आदमी ने किसी का खून करने के उद्देश्य से एक तलवार खरीदकर घर में रख छोड़ी। उसके कुछ ही समय बाद वह मर गया। दूसरे मनुष्यों ने उस तलवार से आदमियों का खून करना जारी रखा। तलवार खरीदने वाले की आत्मा किसी दूसरी योनि में उत्पन्न हो चुकी है। उसे तलवार के विषय में अब कुछ ज्ञान नहीं है। फिर भी उसकी तलवार से होने वाले पाप-कर्मों का हिस्सा उसे मिलता रहता है; क्योंकि उसके मन की इच्छा के साथ तलवार का सम्बन्ध अभी तक नष्ट नहीं हो सका है। तलवार सम्बन्धी ममता अब तक उसके मन में से अलहदा नहीं हुई है; अतएव वह तलवार जब तक कायम रहेगी और जब तक उससे खून होते रहेंगे, तब तक उस पाप का हिस्सा मूल खरीदनेवाले को मिलता ही रहेगा। इस पाप के प्रवाह-रूप वारसा को अविरति-प्रवाह कहते हैं। पागल कुत्ते की भाँति अविरति भी अनेक जन्मों की परम्परा में जीवात्मा के पास जा पहुँचती है। तलवार की भाँति अनेक हथियार—पाप के साधन, प्रत्येक भव में आत्मा ने तैयार किये हैं। प्रत्येक जीव ने संसार में अनन्त भव किये हैं। समस्त लोकाकाश में एक भी ऐसा प्रदेश नहीं है, जहाँ इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो। अनन्तानन्त जन्मों में प्रत्येक जीव ने पाप के अनन्त साधन जुटाये हैं। किसी समय एकेन्द्रिय आदि अवस्था में अपने शरीर को ही हथियार बनाया है, कभी विष, कभी काँटा, किसी जगह मछली पकड़ने का जाल बनाया है। किसी

जगह पशुओं को पकडने का पाश बनाया है, कभी कत्ल करने के हथियार बनाये हैं, तो कभी मास-मदिरा की दुकान खोली है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न भवों में तरह-तरह के जो पाप के साधन जुटाये हैं, उनका आत्मा के साथ सबध हो गया है, जिसके लिये पाप के साधनों को जुटाया था, वह वृत्ति इच्छा प्रकट या अप्रकट रूप में यदि कायम हुई तो अनन्त भवों में जुटाये हुए पापों का सूक्ष्म प्रवाह आत्मा में प्रवेश करता है। जब तक इच्छा को रोककर उन पापों से विरति—निवृत्ति न कर ली जाय, तब तक वह अविरति-रावी चालू बनी रहती है, अतएव अविरति को रोककर विरत बनने की आवश्यकता है। अणु व्रत धारण करने से देश विरति होती है और महाव्रत धारण करने से सर्व विरति होती है, अनंत भवों का पाप-प्रवाह सर्वथा रुक जाता है। कोई-कोई कहने लगते हैं—जहाँ हमें जाना नहीं है, जहाँ गये नहीं हैं, जिन हथियारों को इस शरीर से बनाया नहीं है, देखा तक नहीं है, उनका पाप हमें क्योंकर लग सकता है? ठीक है, अभी हम गये नहीं हैं, न हमने देखा ही है, किन्तु अपनी आत्मा वहाँ अनत बार जा चुकी है, देख चुकी है। इतना ही नहीं, वरन् उन वस्तुओं को स्वयं बना भी चुकी है। अविरति-रूप अदृश्य नली के द्वारा उसका सबध जब तक आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है, तब तक पाप तो लगता ही रहेगा। जैसे कोई आदमी अपना धन ज़मीन में गाड़कर या बैंक में जमाकर मर गया, बीच में कितने ही वर्ष व्यतीत हो गये, पाँच-सात पीढ़ियाँ बीत गईं, धन गाड़नेवाले का पाँच-सात पीढ़ी का वारिस् एक मनुष्य प्रकट हुआ। बहियाँ देखते-

देखते लिखावट मिल गई। उसे मालूम हो गया कि हमारे पूर्वज ने अमुक वर्ष जमीन में धन गाड़ा था, या व्याज पर बैंक में रखा था, यद्यपि घर और ज़मीन बिक गई है, फिर भी वह धन कायम होगा, यह सोचकर उसने धन प्राप्त करने का प्रयास किया। जमीन खुदवाकर और उस पर अपना हक़ साबित कर उसने वह धन प्राप्त कर लिया या व्याज सहित बैंक से वसूल कर लिया। धन प्राप्त करनेवाले ने अपने पुरुषा को देखा नहीं था, किन्तु उसका वशज होने के कारण उसे वारसा मिल गया। इसी प्रकार पाप के साधन जुटा कर कोई मनुष्य भवान्तर में गया, साधन यहीं पडे रहे, उनका उपयोग दूसरे करते हैं, पर मूल जुटानेवाले ने जब तक अपनी इच्छा का निरोध नहीं किया है, प्रत्याख्यान नहीं किया है, तब तक उसके द्वारा बनाये हुए हथियारों से होनेवाली पाप-क्रिया का सूक्ष्म प्रवाह अविरति के द्वारा उसे वारसा के रूप में पहुँचता रहता है। मिल्कियत और पाप के वारसा में भेद इतना ही है कि मिल्कियत का वारसा उसके उपार्जन करनेवाले के वशज को मिलता है और पाप के साधन जुटाने का वारसा उसे स्वयमेव प्राप्त होता है। बाप-दादों द्वारा किया हुआ कर्ज भी उसके वारिस को चुकाना पड़ता है। जब तक खाता चालू रहता है, तब तक व्याज भी भरना पड़ता है। इसी प्रकार पूर्व भव में जुटाये हुए पाप के साधनों से होनेवाली क्रिया का कर्ज़ खुद को ही चुकाना पड़ता है। प्रत्याख्यान करके जब तक अविरति का खाता बराबर न कर दिया जाय, तब तक व्याज़ चालू रहता

है। खाता पूरा हो तो व्याज वन्द हो सकता है—अविरति के हटजाने पर कर्म का आगमन रुकता है; अतएव प्रत्याख्यान की आवश्यकता है। जिस वस्तु का इस समय उपयोग नहीं होता, या जिसके साथ इस समय सम्बन्ध नहीं है, उस वस्तु का भी त्याग—इच्छा-निरोध करना एव प्रत्याख्यान करना आवश्यक है; क्योंकि जब तक उस वस्तु का त्याग नहीं किया गया है, तब तक उसे भोगने की व्यक्त या अव्यक्त इच्छा बनी ही रहती है। जब मनुष्य सोता है, या क्लोरोफार्म से मूर्च्छित होता है, उस समय कोई क्रिया नहीं होती और न वह अपनी इच्छा ही प्रकट कर सकता है, फिर भी उसके हृदय में रही हुई अव्यक्त इच्छा जागने पर या होश में आने पर व्यक्त हो जाती है, तब वह कार्य करने लगता है। इसी प्रकार इस समय जिस पदार्थ का परिचय नहीं है; किन्तु भूतकाल में परिचय हो चुका है, उस पदार्थ की भूतकालीन विस्मृति के कारण अव्यक्त इच्छा मौजूद रहती है। यदि प्रत्याख्यान न किया जाय, तो भविष्य में उस पदार्थ का परिचय होते ही वह अव्यक्त इच्छा व्यक्त रूप धारण कर लेती है और उस कार्य को करने की परिणति हो जाती है। जब अमेरिका का अन्वेषण नहीं हुआ था, तब कोई उसका नाम भी नहीं जानता था, वहाँ जाने या वहाँ जाकर किसी प्रकार का आरंभ-समारम करने की इच्छा भी व्यक्त नहीं थी; किन्तु पहले अनंत बार जीव अमेरिका में उत्पन्न हो आया है; इसलिए अव्यक्त इच्छा मौजूद ही थी। दिशाओं का परिमाण करके आरंभ की क्रिया की सीमा न बाँध ली

हो, तो अमेरिका का अन्वेषण होने पर, उसके साथ गमनागमन का संबंध होने पर, वहाँ जाने और व्यापार संबंधी आरंभ-समारंभ करने की व्यक्त इच्छा होने पर वहाँ जाना भी संभव ही है। बंबई में नल-द्वारा जो पानी आता है, उस पानी का मूल, जहाँ से पानी आता है, किसी ने ही देखा होगा। अधिकांश ने तालाब नहीं देखा, फिर भी वे नल की टोंटी घुमाते हैं, तो पानी बर्त्तन में भरने लगता है। जब तक टोंटी खुली है, पानी का प्रवाह बर्त्तन में आया ही करेगा। टोंटी बन्द करते ही प्रवाह रुक जायगा। इसी प्रकार इस जीव ने लोक के बहुत से भागों में पाप-रूप पानी के तालाब भर रखे हैं। तृष्णा—इच्छा रूप नल के द्वारा वह प्रवाह अन्तःकरण-रूप टंकी में चला आता है। अविरति रूप टोंटी जब तक खुली रहती है, तब तक वह पाप-पानी आत्मा-रूपी पात्र में भरता रहता है। विरति स्वीकार करके उस टोंटी को यदि बन्द कर दिया जाय, तो आत्मा में आने-वाला प्रवाह रुक सकता है। अतएव इस समय जिस वस्तु का परिचय नहीं है, जिस देश में इस समय जाना नहीं है, उस वस्तु और उस देश का भी भूतकाल में बहुत बार परिचय होने से तथा भविष्य में परिचय की संभावना होने से असंबद्ध और अपरिचित प्रदेश की क्रिया को रोकने के लिए, इच्छा-ममता का निरोध करने के उद्देश्य से तथा अविरति के बारसे को अटका देने के लिए, खाता बन्द करने की भाँति पच्चक्खाण करने की आव-श्यकता है ॥ ४४ ॥

तीसरा आस्रव प्रमाद

गवाक्षात्समीरो यथाऽऽयाति गेहं,
तडागं च तोयप्रवाहः प्रणाल्याः।
गलद्वारतो भोजनाद्यं पिचण्डं,
तथात्मानमाशु प्रमादैश्च कर्म ॥४५॥

अर्थ—जैसे खिड़कियों में से घर के भीतर हवा आती है, जैसे परनाले में से पानी का प्रवाह तालाव में आता है, जैसे गले में होकर अन्न-पानी आदि खुराक उदर में भरती है, उसी प्रकार मद, विषय, कषाय, निद्रा और प्रमाद के द्वारा कर्म का प्रवाह आत्मा में निरन्तर आता रहता है। कर्म को रोकने के लिए मुमुक्षु जीवों को प्रमाद का द्वार वन्द करना चाहिए ॥४५॥

विवेचन—

मदविसयकसाय, निद्दाविकहा पंचमा भणिया।
एए पंच पमाया, जीवा पाडंति संसारे ॥

अर्थात्—मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा, ये पाँच प्रमाद जीवों को ससार मे भ्रमण कराते हैं। कर्मबन्ध के पाँच हेतुओं में प्रमाद मुख्य हेतु है। आत्मा में कर्म प्रवाह को लाने का यह मुख्य द्वार है। काम, मद, मोह आदि अनेक दोषों का प्रमाद में ही समावेश होता है। जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपमद श्रुतमद, लाभमद तथा ऐश्वर्यमद, ये आठ मद जिसमें होते हैं, वह मनुष्य तत्वज्ञान और

आत्मकल्याण के वास्तविक लाभ से वंचित रहता है। सामग्री होने पर भी फल से विमुख रहता है, अतएव मद—अहंकार को प्रमाद में गिना गया है। विषय लंपट, कषायकलुषित, निद्रालु और गप्पों-सप्पों में मज़ा मानने वाला मनुष्य सच्चा लाभ प्राप्त नहीं कर सकता, इसीलिए शास्त्रकारों ने इन सबको प्रमाद मे गिना है। इस वर्णना के अनुसार प्रमाद शब्द का सामान्य अर्थ फल—वंचना—भ्रमणा—असत् प्रवर्त्तन होता है। जिस काल में जो शुभ कार्य करना चाहिए, उसे न करके उलटी दिशा में प्रवृत्ति करना, समय व्यर्थ गँवाना, यह भी प्रमाद है। इस प्रमाद के अधीन होकर प्रत्येक जीव ने अत्यन्त हानि उठाई है। जीव को कर्मनाश करने का समय नहीं मिला, सो बात नहीं, समय तो बहुत बार मिला है, पर उसे प्रमाद में नष्ट कर दिया है। शास्त्र में ठीक ही कहा है—'का हानिः समय च्युति।' बड़ी-से-बड़ी हानि यदि कुछ है, तो वह समय को व्यर्थ बर्बाद करना ही है। प्रभु महावीर ने कहा है—

दुमपत्तए पंडुरए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुआण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए ॥१॥
कुसग्गे जह ओसबिन्दुए, थोवं चिट्ठइ लंबमाणए।
एव .. .. ॥२॥

(उत्तरा० अ० १० गा० १–२)

अर्थात्—गौतम! देखो सामने खड़े हुए पेड़ के पीले-पीले पके हुए पत्ते एक के बाद एक गिर रहे हैं, इसी प्रकार रात्रि-दिन व्यतीत होते-होते

मनुष्य का जीवन पक जाता है और थोड़े ही दिनों में जीवन का अन्त आ जाता है। जैसे दूब पर लटकती हुई ओस की बूँद हवा का हलका-सा झोंका लगते ही गिर जाती है, उसी प्रकार मानव-जीवन का भी शीघ्र ही अन्त आ जाता है, अतएव धर्म-कार्य साधने या आत्मकल्याण करने में एक भी क्षण का प्रमाद न करना चाहिए—पल भर भी व्यर्थ न गँवाना चाहिए।

मानव-जीवन का प्रत्येक समय यदि कर्म-प्रवाह को आत्मा में प्रविष्ट होने से रोकने में तथा पुराने कर्मों का नाश करने में लगाया जाय, तभी जीवन का सद्व्यय गिना जा सकता है। अन्य जीवनों की अपेक्षा मानव-जीवन अत्यधिक मूल्यवान् है। 'दुल्लहे खलु माणुस्से भवे।' अर्थात्—मनुष्य का जीवन मिलना दुर्लभ से दुर्लभ है। इस जीवन का एक-एक क्षण लाखों-करोड़ों मुहरों से भी अधिक कीमती है। उसका मनमाना उपयोग करना या उसे वृथा गँवा बैठना अत्यन्त हानिकारक है। प्रत्येक क्षण सावधानी—अप्रमाद—में ही व्यतीत होना चाहिए। 'भारण्डपक्खीव चरेऽप्पमत्ते'—भारण्ड पक्षी की तरह अप्रमाद, सावधान रहना चाहिए। क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, डाह, मद, मोह, आदि लुटेरे ऐसे प्रबल हैं कि आत्मा की प्रमत्त अवस्था में एकदम ही आत्मा की सम्पत्ति लूट लेते हैं और उसके स्थान पर कर्म का कचरा भर देते हैं; अतएव उनसे बचने और प्रमाद को दूर करने के लिए प्रमाद-हीन होने की बड़ी आवश्यकता है। श्लोक में बतलाये हुए तीन दृष्टान्त पकी वस्तु के हरा अन्दर आने की समानता बताने में उपयोगी हैं

तीनों दृष्टान्तों में जैसे आगमन है, वैसे गमन भी है। गमन न हो तो तीनों में बिगाड हो जाता है—जठर में से गमन—व्यय न हो तो अजीर्ण हो जाता है, तालाब में से जल न जाय, तो उसकी पाल टूटकर तालाब का ही अन्त आ जाय। हवा भी यदि आती ही रहे—जाने का मार्ग न हो, तो सर्दी हो जाती है। इसी प्रकार आत्मा में प्रमाद के द्वारा कर्म यदि आया ही करें, जावें नहीं, तो कर्मों का दबाव होने पर आत्मा की बेढब स्थिति हो जाय, अतएव प्रमाद द्वारा आये हुए कर्मों को अप्रमाद के द्वारा दूर करके आते हुए कर्मों को रोकने का प्रयास करना चाहिए॥ ४५॥

चौथा आस्रव-कषाय

निशायां वने दुर्गमे निःसहाया—
हरन्ते धनं दस्यवो भीतियुक्ताः।
कषायास्तु नक्तं दिवं सर्वदेशे।
कुकर्मास्त्रमाश्रित्य शात्कं हरन्ति॥ ४६॥

अर्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय कहलाते हैं। चारों कषाय बड़े-से-बड़े लुटेरे हैं। धन हरनेवाले लुटेरे तो रात के समय ही चोरी करते हैं और वह भी जहाँ मनुष्यों का आवागमन न हो ऐसे जंगल या शून्य प्रदेश में ही। फिर यदि पुलिस के आदमी या और सहायक न हों तभी। लुटेरे श्रीमानों को लूटते हैं और सो भी निर्भयता के साथ नहीं, बल्कि पकडे गये तो मारे जायँगे—इस प्रकार डरते-डरते। लेकिन कषाय-रूपी लुटेरे रात-दिन, जंगल में और बस्ती में, निर्भयता

के साथ, तीव्र विपाकवाले अशुभ कर्मरूपी शस्त्रों का प्रहार करके आत्मा की ज्ञान और चारित्र्य सपत्ति को लूटते रहते हैं। हे भद्र पुरुष! आत्म-सपत्ति की रक्षा करना है, तो कषाय-रूपी लुटेरों से सावधान रह ॥ ४६ ॥

विवेचन—इस काव्य में कषाय को लुटेरे की उपमा देकर उनकी भयकरता बतलाई है और उससे बचने की सूचना दी है। लोक-प्रसिद्ध लुटेरों की अपेक्षा इन आध्यात्मिक लुटेरों में विशेषता यह है कि ये सपत्ति लूटने का और साथ ही सपत्ति-गृह को बिगाड़ने का काम करते हैं, लेकिन लुटेरे सपत्ति लूटकर घर से चले जाते हैं। जब कि ये लुटेरे *आत्मिक सम्पत्ति लूटकर यहीं रहने लगते हैं* और ज्ञानावरणीय आदि आठों कर्मों की वर्गणाओं का वहाँ जमाव करके आत्म-भूमि को निःसत्व, नीरस और तुच्छ बना डालते हैं। इतना ही नहीं, आत्मा को ससार में परिभ्रमण कराते है, उसे दुर्गति के कुएँ मे पटक देते हैं। कहा भी है—

कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोहो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचन्ति मूलाइं पुणब्भवस्स॥

(दश० अ० ८)

अर्थात्—क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चारो कषाय वृद्धि को प्राप्त होकर पुनर्जन्म के मूल का सिंचन करते हैं—जन्म-मरण की वृद्धि करते हैं। कष=ससार+आय=लाभ, इस शब्दार्थ के अनुसार भी कषाय का अर्थ ससार-प्राप्ति या ससार-वृद्धि करना होता है। छः रसों

में कषैला भी एक रस है, उसे मुँह में डालने से मुँह खराब हो जाता है, इससे अरुचि उत्पन्न होती है। इसी प्रकार कषाय का कटुक रस भी आत्मा को अत्यन्त अप्रिय लगता है। इससे न केवल आत्मा में ही वरन् मन और शरीर में भी विकार उत्पन्न होता है। कषायवाला मनुष्य जनसमुदाय को भी अच्छा नहीं लगता। वह सर्वत्र अप्रिय हो जाता है। कषाय सद्‌गुणों को भस्म करने के लिए अग्नि के समान है। महावीर प्रभु कहते हैं—

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो॥
(दश० अ० ८)

अर्थात्—क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान, विनय-नम्रता का नाश करता है, माया-कपट मित्रता का नाश करता है, और लोभ समस्त गुणों का नाश करता है।

कषाय का आवेश आने पर मनुष्य की बुद्धि और विचार-शक्ति गायब हो जाती है। इससे भाषा-सम्बन्धी विवेक नहीं रहता—न बोलने योग्य वचन निकल पड़ते हैं, विनय और सभ्यता चली जाती है, और तो क्या, मनुष्य की मनुष्यता भी कषाय के आवेश में नष्ट हो जाती है। कषायी मनुष्य नमस्कार करने योग्य पुरुष के सामने लाठी तानकर खड़ा हो जाता है, शान्ति की जगह क्लेश करता है। कषाय के आवेश में समस्त शुभ प्रवृत्तियाँ अशुभ प्रवृत्तियों के रूप में पलट जाती हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ में से कौन अच्छा है और कौन

बुरा, यह तो कहा ही नहीं जा सकता। चारों ही एक-से-एक बढ़कर खराब हैं। इन्हें चाण्डाल-चौकड़ी की उपमा ठीक बैठती है। जिसके हृदय में इस चाण्डाल-चौकड़ी का साम्राज्य रहता हो वह ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के कुल में जन्म लेने पर भी चाण्डाल के समान है। चाण्डाल के कुल में जन्मनेवाला जन्म-चाण्डाल है। तब कषाय के आवेशवाला कर्म-चाण्डाल या गुण-चाण्डाल है।

दृष्टान्त—किसी समय एक ब्राह्मण रास्ते में जा रहा था। सामने से एक चाण्डाल (भंगी) आया। दोनों की असावधानी से वे आपस में छू गये। जब ब्राह्मण को मालूम हुआ कि उसे भंगी ने छू लिया, तो उसके क्रोध का पार न रहा। आँखें लाल-लाल करके, भृकुटि चढ़ा-कर उसने भंगी पर गालियों की बौछार करना शुरू किया। चाण्डाल ने कहा—'महाराज, मुझपर क्रोध क्यों करते हैं। इसमें जितना अपराध मेरा है, उतना ही आपका भी है। यदि आप ठीक तरह देख कर चलते, तो मेरा स्पर्श न होता।' यह सुनकर ब्राह्मण और भी अधिक कुपित हो गया। कहने लगा—'चल अन्धे कहीं के, मुझसे छूकर मेरी ही भूल बता रहा है? अधम पापी! तेरी जाति नीच है, तू स्वयं नीच है, तुम सबका संहार होना चाहिए।' ब्राह्मण इस प्रकार आग-बबूला होकर बकने लगा। चाण्डाल कुछ भी उत्तर न देकर ब्राह्मण के नज़दीक आया और उसे अकवार में भर लिया। और मानों बड़े प्रेम से मिल रहा हो, इस प्रकार उसे अपनी छाती से लगाकर दबाने लगा। ब्राह्मण ने हो-हल्ला मचाया; पर चाण्डाल मौन रहकर मज़बूती से उसे पकड़े

रहा। मनुष्यों ने उसे छोड़ने को कहा, पर उसने नहीं माना। आखिर पुलिस के सिपाही और जमादार वहाँ आ धमके। उन्होंने ब्राह्मण को छुड़ाया और चाण्डाल को धमकी दी। उन्होंने पूछा—'तू ने ब्राह्मण को क्यों पकड़ा?' चाण्डाल ने उत्तर दिया—'यह मेरा भाई है, इसी लिए मैं इससे प्रेम के साथ भेंटा था।' पुलिस-अधिकारी ने पूछा—'यह ब्राह्मण, तू चाण्डाल, भाई कैसे हुए?' उसने कहा—'इसके पेट में बड़ा गुस्सा भरा है, यह चाण्डाल है; इसलिए मेरा भाई है। मैं जन्म-चाण्डाल हूँ और यह कर्म-चाण्डाल है। ऐसा न होता, तो बिना अपराध मेरे ऊपर यह इतना क्रोध क्यों करता? जब इसके पेट में बैठा हुआ चाण्डाल मुझसे मिलने आया, तो मेरा कर्त्तव्य था कि मैं भी उससे मिलूँ और सत्कार करूँ? मैंने यही किया है और कुछ बुरा नहीं किया है।' यह युक्ति-युक्त बात सुनकर अनुचित क्रोध के लिए ब्राह्मण को उपालम देकर सब लोग अपने-अपने ठिकाने लगे।

दूसरी तरह से कहा जाय तो यह कह सकते हैं कि ये चारों आन्तरिक शत्रु हैं। मनुष्य के अन्तर में रहकर अन्तर का ही नाश करते हैं। जिस डाली पर बैठते हैं, उसी का नाश करते हैं। सदैव आत्मा का अहित करते हैं, अतएव कषाय-आत्मा को रोकने के लिए क्षमा, मृदुता, सरलता और संतोष का मज़बूत किला बाँधना चाहिए। क्रोध के सामने क्षमा, मान के सामने मृदुता, माया के सामने सरलता, लोभ के सामने संतोष को खड़ा करने से कषाय-पराजित हो सकती है, यह बात भूल न जानी चाहिए ॥४६॥

पाँचवाँ आस्रव योग

सुवृष्टौ यथा नो नदीपूररोधः ।
प्रवृत्तौ यथा चित्तवृत्तेर्न रोधः ।
तथा यावदस्ति त्रिधा योगवृत्ति
र्न तावत्पुनः कर्मणां स्यान्निवृत्तिः ॥४७॥

अर्थ—मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। नदी के उद्गम स्थान में धुँआँधार वर्षा हो रही हो, तो नदी का पूर नहीं रोका जा सकता, अथवा व्यावहारिक-औपाधिक प्रवृत्तियों के मौजूद रहते हुए चित्त की वृत्तियों को रोक सकना कठिन है, इसी प्रकार जब तक मन, वचन, काय के दुष्ट योगों की प्रवृत्ति चालू रहती है, तब तक कर्मों की निवृत्ति नहीं हो सकती ; क्योंकि योग आस्रव भी प्रकृतिबन्ध और प्रदेश-बन्ध का कारण है। इसलिए उसे भी रोकना चाहिए ॥४७॥

विवेचन—योग, अर्थात्—जोड़। जिस कारण से आत्मा का कर्मों के साथ जोड़-मिलान होता है, उसे योग कहते हैं। या जिससे आत्मा का बाह्य सृष्टि—बाह्य प्रवृत्ति—के साथ जोड़ होता है, वह योग है। योग तीन प्रकार का है—मनोयोग, वचनयोग, काययोग। प्रवृत्ति, व्यापार, चेष्टा, क्रिया, ये शब्द भी योग के पर्यायवाचक हैं। आत्मा अपने स्वतः सिद्ध स्वभाव से निष्क्रिय है ; परन्तु कर्म के सयोग से स्फुरणा, चेष्टा, क्रिया, प्रवृत्ति होती है। वह प्रवृत्ति मन, वचन और काय द्वारा होती है। अतएव प्रवृत्ति ; अर्थात्—योग के भी तीन भेद किये गये हैं। जब

इन तीनों योगों का प्रवाह प्रचण्ड रूप से बहता है, तो दण्ड-स्वरूप गिना जाता है। दण्ड भी तीन हैं—मनदण्ड, वचनदण्ड, कायदण्ड। जैसे कोई अपराधी अपने अपराध से दण्डित होता है, उसी प्रकार आत्मा भी मन, वचन और काय की दुष्ट प्रवृत्ति से दण्डित होती है, इसीलिए दूषित योग को दण्ड कहा है। जेठ महीने के नदी के प्रवाह की भाँति जब मन, वचन, काय के योग का प्रवाह धीरे-धीरे मन्द पड़ जाता है और दुष्ट प्रवृत्ति का निरोध हो जाता है, तब योग के स्थान पर गुप्ति की निष्पत्ति होती है। गुप्ति भी तीन हैं—मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। जिस समय तीनों दण्ड कर्मप्रवाह को बेरोक आत्मा-रूपी तालाब में आने देते हैं, तब ये तीन गुप्तियाँ उस प्रवाह को रोक देती हैं। यद्यपि साधारण लोग योग का सर्वथा निरोध नहीं कर सकते; क्योंकि केवली होने पर भी तेरहवें गुणस्थान तक उसका अस्तित्व रहता है और उसके कारण 'ईर्यावही' क्रिया का बंध होता है। चौदहवें गुण-स्थान में ही अयोग अवस्था प्राप्त होती है और तभी पूर्ण रूप से कर्म का बंध हो सकता है। फिर भी अशुभ योग के रोकने का यथासंभव प्रयास करना चाहिए। जब तक गुप्ति प्राप्त करने की शक्ति न हो, तब तक समिति को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। वचनयोग और काययोग की अपेक्षा मनोयोग का बल अधिक है। मन के द्वारा थोड़े ही समय में अधिक कर्म बाँधे जा सकते हैं और छोड़े भी जा सकते हैं। तंदुल मत्स्य, जो मच्छ या मगरमच्छ की आँख की पुतली में पैदा होता है, जिसका शरीर चावल के बराबर होता है; जिसकी आयु सिर्फ

अन्तर्मुहूर्त्त भर की होती है, वचन और काय की प्रवृत्ति न करके केवल मन से हिंसा का विचार करता है—'मैं कहीं इस मगर के बराबर बड़ा होता, तो मगर के पेट में आनेवाले जलचर जीवों में से किसी को भी बाहर न निकालता ; मगर यह मगर कैसा मूर्ख है कि इतने जीवों को पानी के साथ बाहर निकाल देता है !' बस, ऐसी मानसिक दुष्ट चिंतना में ही वह एक मुहूर्त्त के अंदर-अदर अपनी आयु समाप्त करता है और दुष्ट अध्यवसाय के साथ मर कर सातवें नरक मे तेंतीस सागरोपम की आयु से उत्पन्न होता है।

दृष्टान्त—राजा प्रसन्नचन्द्र को वैराग्य हो गया। उत्तराधिकारी राजकुमार छोटा था, फिर भी मन्त्रियों को राज्य सँभलाकर दीक्षा धारण कर ली। महावीर स्वामी के साथ विचरते हुए वे एक बार राजगृही नगरी के बाहर एक उद्यान में पेड़ के नीचे ध्यान धरे खड़े हैं। उस समय महावीर प्रभु की वन्दना करने के लिए श्रेणिक राजा की सवारी फौज-फाँटे के साथ वहाँ से निकली। सुमुख और दुर्मुख—दो योद्धाओं की नजर प्रसन्नचंद्र राजर्षि पर पड़ी। सुमुख स्वभाव का सज्जन और दुर्मुख दुर्जन था। वह प्रत्येक मनुष्य का कुछ-न-कुछ ऐब निकालकर उसकी निंदा किया करता था। अपनी आदत के अनुसार सुमुख ने जब मुनिराज के वैराग्य और ध्यान की प्रशंसा की, तो दुर्मुख ने उसका खंडन किया। वह कहने लगा—'यह महापापी है। छोटी-सी उम्र के बच्चे को छोड़कर दीक्षा ले बैठा है। इसका दुश्मन इसके राज्य पर चढ़ाई करेगा, मंत्रियों को मिलाकर लड़के को मारकर इसका राज्य छीन लेगा। इस सब का

उत्तरदायित्व इसी पर होगा। इसने राज्य को जोखिम में डालकर ससार का त्याग किया है। इससे इसका क्या कल्याण होगा?' दुर्मुख के शब्द जैसे ही मुनि के कानों से टकराये कि उनका ध्यान भग हो गया। मनोवृत्ति का उत्थान हुआ। मन पल-भर म रणक्षेत्र मे जा पहुँचा, मानों स्थिर वचन और काय योग का बल भी मन को ही मिल गया हो। सकल्प-विकल्प तर्क-वितर्क और दुश्मन को मात देने की प्रत्येक क्रिया मे वह प्रवृत्त हो गया। मानसिक-भुवन के मैदान में ही उसने विरोधी सेनाओं की आमने-सामने कल्पना की। शत्रु-सेना के समक्ष अपनी सेना के अग्र-भाग में खड़े होकर राजर्षि प्रसन्नचन्द्र मानसिक योग से युद्ध करने लगे। इसी समय महावीर स्वामी की वन्दना करके श्रेणिक राजा ने पूछा—'महाराज! राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को, जिन्हे अभी मैंने उत्कट ध्यान में मग्न देखा था, यदि इस समय आयु का बध हो, तो कहाँ की आयु बँधेगी?' महावीर ने कहा—'श्रेणिक! इस समय पहले नरक का आयुष्य बँधेगा।' यह सुनकर श्रेणिक को आश्चर्य हुआ। ऐसे-ऐसे मुनियों को यदि नरकायु का बध हो, तो औरों की बात ही क्या है? इसमें कुछ मर्म जान पड़ता है। दूसरी बार पूछा तो दूसरे नरक का, थोड़ी देर बाद तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें नरक का आयुष्य बँधे, इस प्रकार क्रमशः कहा। इसी बीच प्रसन्नचन्द्र मानसिक-भुवन के मैदान में लड़ते-लड़ते तर्कश के तीर समाप्त हो जाने की कल्पना करते हैं और मस्तक पर से मुकुट फेंकने के इरादे से हाथ मस्तक पर ले जाते हैं। अचानक मुकुट के बदले मुँडा हुआ सिर हाथ में आता है। तब उन्हें अपने साधु होने

का भान होता है। मन, वचन, काय से समस्त पाप-स्थानकों का मैंने पच्चक्खाण किया है, मुझे राज्य से क्या लेन-देन है ? मुझसे और युद्ध से क्या संबंध ? अरे रे ! मैंने यह क्या दुष्कृत्य कर डाला ? हाय ! मेरा मन लडाई के मैदान में क्यों चला गया ? बहुत बुरा हुआ। इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए प्रसन्नचन्द्र उच्चश्रेणी पर आरूढ़ हुए। श्रेणिक ने पूछा—'महाराज, इस समय प्रसन्नचन्द्र कहाँ का आयुष्य बाँध सकते हैं ?' महावीर ने कहा—'इस समय उन्होंने नरकायु के दलिक उड़ा दिये हैं। यदि आयु बँधे तो शुभ आयु का बंध हो।' इस प्रकार श्रेणिक के पूछने पर कहा—'पहले देवलोक का यावत् सर्वार्थसिद्ध महाविमान का आयु बँध सकता है।' कहाँ सातवाँ नरक और कहाँ सर्वार्थसिद्धि विमान ! घड़ी भर में इतना महान् परिवर्त्तन ! महावीर ने कहा—'श्रेणिक ! यह सब मन के वेग पर अवलम्बित है। इतना ही क्यों, देखो, ये देवता प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का केवलज्ञान-महोत्सव मनाने जा रहे हैं। इतनी देर में तो उन्होंने चारों घनघातिया कर्मों का नाश कर दिया है, और केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त कर लिये हैं।'

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'

अर्थात्—बंध और मोक्ष का कारण मन ही है, यह बात मिथ्या नहीं है। श्रेणिक राजा को मन के असाधारण वेग की प्रतीति हुई। वचनयोग और काययोग के साथ भी मनोयोग ओत-प्रोत रहता है। मन के बिना वचन और काय काम नहीं करते ; अतएव पहले मन को पकड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। मन को खराब वासनाओं और खराब

संस्कारों से बचाना चाहिए। मन जितने अंशों में अशुद्ध होगा, उतने ही अंशो में योग दुष्ट बनेगा और योग जितना अधिक दुष्ट होगा, कर्मों की उतनी ही वृद्धि—आस्रव की अधिकता—होगी, अतएव सर्वप्रथम मन के दोषों को दूर करना उचित है। यद्यपि नदी के पूर को रोकने की अपेक्षा यह कार्य अधिक कठिन है, तथापि वह अशक्य नहीं है। गीता के छठे अध्याय में कहा है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम् ॥१॥
असंशयं महाबाहो मनोदुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते ॥२॥

अर्थ—हे कृष्ण! मनुष्य का मन अत्यन्त चचल है। वह ऐसा बलवान् और दृढ है कि मनुष्य को उससे पिछड़ना पड़ता है। उसका निग्रह करना वायु पर अधिकार करने की भाँति बडा ही कठिन है।

हे अर्जुन! मन चचल है यह ठीक है, परन्तु उसका निग्रह नहीं हो सकता, यह ठीक नहीं है। अलबत्ता वह दुर्जेय है, कठिनाई से वश मे आ सकता है, पर प्रयत्न करने से अधीन हो सकता है। उसका निरोध करने के दो उपाय हैं—अभ्यास और वैराग्य।

पातञ्जलयोग शास्त्र में भी 'अभ्यासवैराग्याभ्याम् तन्निरोधः' अर्थात्-अभ्यास और वैराग्य से भी चित्तवृत्तियों का निरोध हो सकता है। इस प्रकार दो उपाय बताये हैं। वैराग्य पूर्वक सतत अभ्यास करने से ही इस आस्रव पर विजय प्राप्त की जा सकती है। दृढ यत्न किये बिना,

यहाँ सफलता नहीं प्राप्त की जा सकती ; इसलिए दृढ़ प्रयत्नवान् और कटिबद्ध होकर मनोनिग्रह के लिए तैयार हो जाओ और वचन तथा काय की प्रवृत्ति को भी सुधारकर क्रम-क्रम से आस्रव का निरोध करते रहो। यह इस भावना का रहस्य है ॥४७॥

आस्रव और कर्मबन्ध का कार्यकारण भाव

प्रदेशा असंख्या मता आत्मनो ह्वै—
निंबद्धा अनन्तैश्च कर्माणुभिस्ते ।
न तद्बन्धने कारणं विद्यतेऽन्य—
द्विहायास्रवान् पञ्च मिथ्यात्वमुख्यान् ॥४८॥

अर्थ—आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं। उनमें से प्रत्येक प्रदेश के साथ अनतानत कर्म-वर्गणाएँ लगी हुई हैं। उन कर्मवर्गणाओं के ग्रहण करने और आत्मप्रदेश के साथ उनका सम्बन्ध करने में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग, इन पाँच आस्रवों के अतिरिक्त और कोई भी कारण नहीं है ; अर्थात्—भूतकाल में जिन कर्मवर्गणाओं को ग्रहण किया है, वर्तमान में ग्रहण किया जा रहा है और भविष्य में ग्रहण किया जायगा, वे इन्हीं पाँच आस्रवों के कारण। कर्मबन्ध कार्य तथा पाँच आस्रव कारण हैं। कर्मबन्ध के जितने भी कारण हैं, उन सब का समावेश इन पाँचों में हो जाता है ॥४८॥

विवेचन—किसी वस्तु के ऐसे सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विभागों की कल्पना की जाय, जिनसे सूक्ष्म विभागों की फिर कल्पना भी न हो सके, तो उन

सूक्ष्मतम विभागों को उस वस्तु के प्रदेश कह सकते हैं। आत्मा में ऐसे असंख्यात प्रदेशों की कल्पना की गई है। वे प्रदेश आटे या चूर्ण की भाँति अलग नहीं होते ; किन्तु सदा आत्मा में संलग्न रहते हैं। फिर भी समझाने के लिए शास्त्रकारों ने यह कथन किया है। वे असंख्यात प्रदेश लोकाकाश के प्रदेशों बराबर हैं। प्रत्येक आत्म-प्रदेश के साथ कर्म के परमाणुओं का समूह चिपटा हुआ है। एक विशेष प्रकार के अणुओं के समूह को शास्त्रकारों ने 'वर्गणा' नाम दिया है। ऐसी-ऐसी अनंतानंत वर्गणाएँ प्रत्येक आत्म-प्रदेश के साथ लगी हुई हैं ; अतएव आत्मा की अनेक शक्तियाँ इन कर्म-वर्गणाओं के नीचे दब गई हैं। यही कारण कि दूर के सूक्ष्म पदार्थों को जानने की अनन्त शक्ति होने पर भी, हम पास की वस्तु भी ठीक-ठीक नहीं जान पाते। अनन्त दर्शन की शक्ति होने पर भी सूक्ष्म और दूर की वस्तुओं का स्पष्ट दर्शन नहीं हो पाता। अनन्त वीर्य-सामर्थ्य होने पर भी एक मामूली कार्य में भी कमज़ोरी तथा भय मालूम होता है। इसका भी कारण सिर्फ कर्मों का आवरण या बन्ध ही है और बन्ध के हेतु मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच हैं। किसी भी अनिष्ट परिणाम को रोकने के दो उपाय होते हैं—प्रथम तो यह कि उस परिणाम के कारणों का अन्वेषण करके उन्हें दूर किया जाय और दूसरा यह कि वह परिणाम वहीं रुक जाय, आगे न बढने पावे। मान लीजिए किसी तालाब में एकदम बहुत पानी आने से पाल टूटनेवाली है और पानी के बिगड़ जाने की सम्भावना है, तो

उसे रोकने के लिए यह आवश्यक है कि पानी का आना रोक दिया जाय, फिर पाल को सुधारने का काम आरम्भ किया जाय। यदि पानी का आना जारी रहा, तो पाल फिर टूट जायगी, अथवा ज्वर के रोगी का ज्वर दूर करने के लिए यह उचित है कि पहले तो ज्वर के कारणों को दूर कर दिया जाय और फिर मौजूदा ज्वर को हटाने के लिए औषध का उपचार किया जाय। यदि ज्वर को उत्पन्न करने-वाले कारण मौजूद रहें, तो औषधोपचार करने पर भी ज्वर आता ही रहेगा। इसी प्रकार कर्म की अनिष्ट परिणति को रोकने के लिए कर्मबन्ध के हेतु मिथ्यात्व आदि आस्रवों को रोक देना चाहिए और फिर पुराने बँधे हुए कर्मों को हटाने के लिए निर्जरा का आश्रय लेना चाहिए ॥ ४८ ॥

पाँच आस्रवों के विशेष भेद

चतुर्थे च पूर्णे प्रकाराश्च पञ्चा-
ऽधिका विंशतिः सूर्य भेदो द्वितीयः।
तृतीयो दशार्द्धप्रकारः प्रतीतो,
दशास्युर्विधाः पञ्चमे पञ्चयुक्ताः ॥४९॥

अर्थ—पहले आस्रव मिथ्यात्व और चौथे आस्रव कषाय के पचीस-पचीस भेद हैं, दूसरे अविरति आस्रव के बारह भेद हैं, प्रमाद आस्रव के पाँच भेद हैं, और पाँचवें योग आस्रव के पन्द्रह भेद हैं।

इस प्रकार शास्त्रकारों ने पाँचों आस्रवों के कुल ८२ भेद बतलाये हैं ॥ ४६ ॥

विवेचन—इस गाथा में पाँच आस्रवों के ८२ भेद गिनाये हैं। इनका स्वरूप इस भांति है—

मिथ्यात्व २५

(१) अभिग्रहिक मिथ्यात्व—समझ - बूझकर या बिना समझे खोटी बात को आग्रह के साथ पकड़ बैठना।

(२) अनभिग्रहिक मिथ्यात्व—गुण-दोषों की परीक्षा किये बिना असत्य को सत्य मान लेना।

(३) अभिनिवेशिक मिथ्यात्व—अपनी बात ऊँची रखने के लिये सूत्र का अर्थ तोड़-मरोड़कर कुयुक्ति लगाना।

(४) सांशयिक मिथ्यात्व—गीतार्थ से पूछेंगे तो लाज चली जायगी, इस भय से जिन वचन में उत्पन्न हुई शंका का समाधान न कर संदिग्ध बना रहना।

(५) अनाभोग मिथ्यात्व—नशे से बेहोश मनुष्य की तरह सारासार, जीवाजीव, पुण्य-पाप आदि कुछ भी न समझना।

(६) लौकिक मिथ्यात्व—लौकिक पर्व, लौकिक तीर्थ, लौकिक देवी-देवता की मान्यता करना।

(७) लोकोत्तर मिथ्यात्व—लोकोत्तर (जैन के) देव गुरु धर्म की मान्यता मनाना, ऐहिक कामना से तपस्या आदि करना।

(८) कुप्रावचन मिथ्यात्व—पाखंडियों के शास्त्रों को मानना।

(९) वीतराग के मार्ग से न्यून प्ररूपणा करना सो मिथ्यात्व।

(१०) वीतराग के मार्ग से अधिक प्ररूपणा करना सो मिथ्यात्व।

(११) वीतराग के मार्ग से विपरीत प्ररूपणा करना सो मिथ्यात्व।

(१२) धर्म को अधर्म मानना सो मिथ्यात्व।

(१३) अधर्म को धर्म मानना सो मिथ्यात्व।

(१४) जीव को अजीव मानना सो मिथ्यात्व।

(१५) अजीव को जीव मानना सो मिथ्यात्व।

(१६) जिन मार्ग को अन्य मार्ग मानना सो मिथ्यात्व।

(१७) अन्य मार्ग को जिन मार्ग मानना सो मिथ्यात्व।

(१८) साधु को कुसाधु मानना सो मिथ्यात्व।

(१९) कुसाधु को साधु मानना सो मिथ्यात्व।

(२०) मुक्त को अमुक्त मानना सो मिथ्यात्व।

(२१) अमुक्त को मुक्त मानना सो मिथ्यात्व।

(२२) अविनय मिथ्यात्व—विनय करने योग्य का विनय न करना।

(२३) अक्रिया मिथ्यात्व—करने योग्य क्रिया न करना और दुष्ट क्रिया करना।

(२४) अज्ञान मिथ्यात्व—ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास न करना, अज्ञान में ही श्रेय समझना।

(२५) आशातना मिथ्यात्व—गुरु आदि की आशातना करना।

अविरति १२

(१) श्रोत्रेन्द्रिय अविरति—कान के अशुभ विषय से निवृत्त न होना।
(२) चक्षुरिन्द्रिय अविरति—आँख के " "
(३) घ्राणेन्द्रिय अविरति—नाक के " "
(४) रसेन्द्रिय अविरति—जीभ के " "
(५) स्पर्शेन्द्रिय अविरति—स्पर्श के " "
(६) मन अविरति—विषयों में भटकनेवाले मन को न रोकना।
(७) पृथ्वीकाय अविरति—पृथ्वी के जीवों की रक्षा न करना।
(८) अप्काय अविरति—पानी के " "
(९) तेजकाय अविरति—अग्नि के " "
(१०) वायुकाय अविरति—वायु के " "
(११) वनस्पतिकाय अविरति—वनस्पति के " "
(१२) त्रसकाय अविरति—दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रियवाले जीवों की रक्षा न करना।

प्रमाद ५

(१) मद—जाति, कुल, बल, रूप, तप, शास्त्र, लाभ और ऐश्वर्य-बड़प्पन का गर्व करना।
(२) विषय—इन्द्रियों के विषयों में मग्न रहना।
(३) कषाय—राग-द्वेष के उन्माद में उन्मत्त होना।

(४) निद्रा—निद्रा आलस्य में सुस्त पड़े रहना ।

(५) विकथा—निरर्थक और पापजनक बातों में समय गँवाना ।

कषाय २५

१—४ अनन्तानुबंधी चौकड़ी—जो क्रोध, मन, माया, लोभ उत्पन्न होकर जीवन पर्यन्त नहीं मिटते, वे क्रोध, मान, माया, लोभ ।

५—८ अप्रत्याख्यानी चौकडी—जिसकी वासना एक वर्ष तक बनी रहती है मिटती नहीं, वे क्रोध, मान, माया, लोभ ।

९—१२ प्रत्याख्यानीचौकड़ी—जिसकी वासना अधिक-से-अधिक चारमहीने तक रहे, वे क्रोध, मान, माया और लोभ ।

१३—१६ सज्वलन चौकड़ी—जिसकी वासना ज्यादा से ज्यादा १५ तक रहे क्रोध, मान, माया और लोभ ।

१७ हास्य—मसखरी - चेष्टा करने का स्वभाव ।

१८ रति—अकार्य में आसक्ति ।

१९ अरति—धर्मकार्य में कटाला होना, झंझट मालूम पड़ना ।

२० भय—जिससे हरेक कार्य में भय लगे ।

२१ शोक—अनिष्ट सयोग के समय दुःख होना ।

२२ दुगुंछा—अशुभ गन्ध आदि से बेचैन होने का स्वभाव ।

२३ स्त्री वेद—पुरुष-समागम की इच्छा ।

२४ पुरुष वेद—स्त्री-समागम की इच्छा ।

२५ नपुंसक वेद—स्त्री और पुरुष—दोनों के समागम की इच्छा ।

योग १५

(१) सत्य मन योग—सत्य विषयक मानसिक प्रवृत्ति।

(२) असत्य मन योग—असत्य विषयक मन की प्रवृत्ति।

(३) मिश्र मन योग—कुछ सत्य कुछ असत्य मानसिक प्रवृत्ति।

(४) व्यवहार मन योग—व्यावहारिक मानसिक प्रवृत्ति।

(५) सत्य वचन योग—सत्य भाषण करना।

(६) असत्य वचन योग—मिथ्या भाषण करना।

(७) मिश्र वचन योग—कुछ सत्य कुछ असत्य भाषण करना।

(८) व्यवहार वचन योग—व्यावहारिक भाषा बोलना।

(९) औदारिक शरीर योग—औदारिक शरीर की प्रवृत्ति।

(१०) औदारिक मिश्र योग—औदारिक शरीर के साथ अन्य किसी शरीर की संधि के समय कायिक प्रवृत्ति।

(११) वैक्रिय योग—वैक्रिय शरीर की प्रवृत्ति।

(१२) वैक्रिय मिश्र योग—वैक्रिय शरीर के साथ अन्य किसी शरीर की संधि के समय कायिक प्रवृत्ति।

(१३) आहारक योग—आहारक शरीर की प्रवृत्ति।

(१४) आहारक मिश्र योग—आहारक शरीर के साथ अन्य शरीर की संधि के समय कायिक प्रवृत्ति।

(१५) कार्माण काय योग—अन्य योग के अभाव में होने वाला कार्मण शरीर का व्यापार।

पाँच आस्रवों के उल्लिखित ८२ भेद हैं। इनमें मिथ्यात्व के २१ भेदों में से पहले के ५ भेद मुख्य हैं। अन्य भेद एक प्रकार से मन्द बुद्धियों को समझाने के लिए उनकी व्याख्या-रूप हैं। पाँच आस्रवों में से पहले के चार आस्रवों के समस्त भेद त्याज्य हैं। पाँचवें भेद योग आस्रव के कुछ भेद त्याज्य और कुछ भेद एक निर्दिष्ट सीमा तक आदरणीय हैं—जैसे सत्य मन, सत्य वचन योग आदि। अथवा योग के दो भेद हैं—शुभ योग और अशुभ योग। इनमें से अशुभ योग की ही आस्रव में गिनती करनी चाहिए। शुभ योग की संवरतत्त्व में गणना करना अधिक उपयुक्त है ॥४९॥

आस्रव भावना का उपसंहार

विबुध्यास्रवीयप्रकारान् विचित्रान्,
विलोक्योग्रमे तद्विपाकं नितान्तम्।
निरुध्यास्रवं सर्वथा हेयमेनं,
भजत्वं सदा मोक्षदं जैनधर्मम् ॥ ५० ॥

अर्थ—ऊपर बताये हुए आस्रवों के विविध भेदों को जानकर तथा आस्रव के भयकर परिणाम को देखकर, तू मन में निश्चय से मान कि—'आस्रव और उसके भेद सर्वथा त्याज्य हैं।' इस त्यागने योग्य आस्रव—कर्म आगमन के द्वार—को रोककर कर्मों से छुटकारा दिलानेवाले वीतराग धर्म का हमेशा सेवन कर, जिससे अनादि काल के तीन ताप—आधि, व्याधि और उपाधि जन्म, जरा तथा मृत्यु के बन्धन दूर हों ॥ ५० ॥

विवेचन—इस जीव को आस्रव द्वारा कर्म-बंध करने का बहुत समय मिला है, अतएव प्रायः प्रत्येक जीव पर कर्म का अधिक दबाव होना ही चाहिए। कर्म का दबाव जितना ही अधिक, दुःख भी उतने ही अधिक। स्वभावतः इन दुःखों से प्रत्येक को अप्रीति होनी ही चाहिए। यदि ऐसा हो, तो आस्रव पर ध्यान देना आवश्यक है। आश्रव के अनेक भेदों के कारण जो दुर्दशा और आफत होती है, उसका अन्त करने के लिए आस्रव के द्वार बन्द करना चाहिए। बिना जाने वे बन्द नहीं हो सकते, अतः पहले आस्रव के यथार्थ स्वरूप को जानकर, उसके परिणाम का भलीभाँति पर्यालोचन करके त्यागने योग्य आस्रव को इसी प्रकार त्याग देना चाहिए, जैसे साँप अपनी केंचुली त्याग देता है। गड्ढे में से निकलने के लिए नसैनी या रस्सी की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आस्रव के गड्ढे में से ऊपर आने के लिए आलंबन की आवश्यकता है। वह आलंबन जैनधर्म है। इसीलिए कहा है—'भजत्व सदामोक्षद जैनधर्मम्।' जैनधर्म आस्रव के निरोध का मार्ग स्पष्ट रूप से बतलाता है। यही नहीं, बल्कि उस मार्ग पर चलाने का कार्य भी वही करता है; अतएव मोक्षदाता पवित्र धर्म का सहारा लेकर, आस्रव के अधोगामी द्वार में से ऊपर आने के लिए प्रत्येक क्षण प्रयत्न करना चाहिए। आस्रव भावना से इसी बात का विचार करना चाहिए कि मैं कर्म के आस्रव को रोककर इसके कर्ज़ से कब पिंड छुड़ाऊँ? जिस क्षण इस ऋण से मुक्त होगा, उसी क्षण उद्धार होगा॥ ५०॥

(८) संवर-भावना

— ० —

पहला संवर-सम्यक्त्व

विनैकक शून्यगणा वृथा तथा,
विनार्क तेजो नयन वृथा यथा।
विना सुवृष्टि च कृषिर्वृथा यथा,
विना सुदृष्टि विपुल तपस्तथा ॥५१॥

सम्यक्त्व और सयम की सहचरता

न तद्धन येन न जायते सुख,
न तत्सुख येन न तोष सभव।
न तोषणं तन्न यतो व्रतादरो,
व्रत न सम्यक्त्वयुत भवेन्न चेत् ॥५२॥

अर्थ—कागज़ पर लिखेहुए पाच, दस, बीस या पच्चीस शून्य 'एका' (एक की संख्या) बिना व्यर्थ है, अर्थात्—मूल में एका न हो तो सारी विंदिया बेकार हैं। बिजली या सूर्यका प्रकाश चारो ओर फैला हुआ हो, किंतु आखे न हों, तो वह प्रकाश किस काम का ! ज़मीन अच्छी हो, बीज अच्छाहो, ज़मीनमें बीज बो भी दिया हो तो, पर अच्छी वर्षा न हुई, तो वह व्यर्थ है। इसी प्रकार यदि सम्यग्दृष्टि न उत्पन्न हुई

हो, तो तप, जप, कष्ट, क्रिया प्राय' वृथा हैं। इच्छित फल—मोक्ष सुख सम्यग्दृष्टि के बिना नहीं मिल सकता ॥ ५१ ॥

वह धन नही है जिससे लेश-मात्र भी सुख न मिलता हो, वह सुख नहीं है जिसमें सतोष या समता की अभिव्यक्ति न हो, वह संतोष नही है, जिसके साथ आत्म-सयम न हो और वह संयम नहीं है, जो समकित दृष्टि सहित न हो। तात्पर्य यह कि धन वही है, जो सुख देता है, सुख वही है जिससे मन मे सतोष-प्रसन्नता उत्पन्न हो, सतोप वही है, जो चित्तवृत्तियों को शात करके सयम मे उन्हे परिणत करे और सच्चासयम वह है जिसकामूल सम्यग्दृष्टिमे रोपागया हो।५२॥

विवेचन—आस्रव का प्रतिपक्षी सवर है। दूसरे शब्दों मे यह कह सकते हैं कि कर्म के खुले द्वार आस्रव और बन्द द्वार सवर है। या कर्म के द्वार को बन्द करना सवर है। संवरों मे पहला मिथ्यात्व के द्वारको बद करने का उपाय समकित है। यह संवर का मुख्य भेद है। मिथ्यात्व मोहनीय का उदय मिथ्यात्व का द्वार है। मिथ्यात्व-मोहनीय, मोहनीय कर्म के अन्तर्गत दर्शन मोहनीय कर्म की एकप्रकृति है। उसकी अधिक से अधिक ७० कोड़ा-कोड़ी सागरोपम की स्थिति है। भोगते-भोगते या क्षय करते करते जब समस्त कर्मों की स्थिति कुछ कम एक कोडा-कोड़ी सागरोपम की रह जाती है तब राग द्वेष की ग्रन्थि का भेद होता है और तभी मिथ्यात्व मोहनीय का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होता है, अर्थात्—मिथ्यात्व के द्वार का अवरोध होता है। मिथ्यात्व के इसी अवरोध को समकित—सम्यक्त्व—कहते हैं। यह अवरोध उपशम,

क्षयोपशम या क्षय-रूप होता है। इस भेद के कारण समकित के भी तीन भेद हो जाते हैं। यदि मिथ्यात्व मोहनीय का अवरोध उपशम-रूप हुआ, तो उससे प्रकट होनेवाला सम्यक्त्व भी उपशम समकित कहलाता है। यदि वह अवरोध कुछ क्षय और कुछ उपशम, अर्थात्—क्षयोपशम-रूप हुआ, तो उस समकित को क्षयोपशम समकित कहते हैं। यदि मिथ्यात्व मोहनीय का सर्वथा क्षय हो जाय, तो इससे उत्पन्न होनेवाला सम्यक्त्व क्षायिक समकित कहलाता है। उपशम में प्रकृति का तिरोभाव होता है—वह दब जाती है, उसकी सत्ता का नाश नहीं होता, क्षय में उसका समूल उच्छेद हो जाता है। क्षयोपशम में उदित भाग की सत्ता का उच्छेद और अनुदित भाग का विपाक से तिरोभाव होता है। उपशम और क्षयोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता और नष्ट होता है, परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होने के बाद कभी नष्ट नहीं होता। इन तीन भेदों के अतिरिक्त सम्यक्त्व के दो भेद और भी हैं—सास्वादन तथा वेदक, पर ये दोनों स्वल्पकालीन हैं। समकित से गिरने पर मिथ्यात्व की ओर झुकते हुए, बीच के समय में, समकित का कुछ आस्वाद शेष रहने से इस पतनोन्मुख अवस्था को सास्वादन सम्यक्त्व कहा गया है। इसका अधिक-से-अधिक समय छः आवलिका और सात समय का है। इसके बाद वह जीव मिथ्यात्व की भूमिका में आ पहुँचता है। मिथ्यात्व मोहनीय के सर्वथा क्षय करने के अन्तिम समय को वेदक सम्यक्त्व कहा है। इसकी स्थिति भी एक समय की है। इस एक समय के पश्चात् क्षायिक समकित प्रकट हो जाता है। उल्लिखित पाँच सम्यक्त्वों में तीन सम्य-

क्त्व मुख्य हैं। तीन में भी क्षायिक समकित सर्वश्रेष्ठ है, पर वे असाधारण हैं, सबको सुलभ नहीं है। तीनों में से किसी भी एक का अस्तित्व आत्मकल्याण के लिए अनिवार्य है; क्योंकि उसके बिना सुदृष्टि—तत्त्व निश्चय नहीं हो सकता और सुदृष्टि के बिना तप, जप, संयम, ध्यान आदि बिना अंक की बिन्दियों के समान हैं। समकित सहित थोड़ी करनी भी अधिक आत्मिक फल प्रदान करती है। तब बिना समकित की बहुत करनी भी थोड़ा—तुच्छ—पौद्‌गलिक फल देती है। चारित्र्य के बिना समकित हो सकता है; पर समकित के बिना चारित्र्य का होना असंभव है। समकित, चारित्र्य का भाजन है। सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति से ही भव परम्परा का नाश किया जा सकता है। ज्ञान और दर्शन से रहित तपस्वी तप के बल से जो कर्म करोड़ों वर्षों में भी नहीं खपा सकता, उन कर्मों को ज्ञानी सुदृष्टि पल-भर में खपा सकता है। सम्यग्दृष्टि बाहर से उत्पन्न नहीं होती, किन्तु आंतरिक भावों से प्रकट होती है। जब वह प्रकट होती है, तो जीव की स्थिति-अवस्था, ग्रीष्म की शुष्क भूमि की भाँति नहीं, किन्तु वर्षाकाल में नवांकुरित हरी-भरी भूमि के समान बन जाती है। खोदी हुई भूमि में से जैसे जल झरता रहता है, उसी प्रकार दुःखी प्राणियों को देखकर उसका अन्तःकरण भी द्रवित होता रहता है। उसके अन्तःकरण में से दया अनुकम्पा के बूँद टपकते रहते हैं। किसी भी मोहक वस्तु में मोहित न होकर उसका मन उपाधि से अलिप्त रहता है, क्रोध, मान, माया और लोभ का उसे उदय नहीं होता, यदि होता भी है, तो तत्काल

शान्त हो जाता है, लम्बे समय तक नहीं टिकता। देश-सेवा, समाज-सेवा, धर्म-सेवा बजाने और परोपकार करने में वह अगुआ बनकर भाग लेता है। धर्म कार्यों में ही वह दूसरों के साथ होड़ लगाता है और तत्वों को भलीभाँति जानकर उनमें आस्तिक बना रहता है। उसमें स्वार्थ-वृत्ति पहले तो होती ही नहीं, अगर हो, तो भी अत्यल्प होती है। वह रगडों-झगडों, क्लेशों से सदा दूर रहता है। यह दशा सम्यग्दृष्टि के अस्तित्व को सूचित करती है, क्योंकि प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्था—ये पाँच समकित के लक्षण हैं और जिसमें ये लक्षण पाये जायँ, उसकी उल्लिखित अवस्था होनी ही चाहिए। सम्यग्दृष्टि पुरुष गृहस्थी में रहता है और संसार के सब व्यवहार चलाना हो तो भी उसकी आन्तरिक अवस्था इस पद्य में लिखे अनुसार ही होती है। कहा भी है—

सम्यग्दृष्टि जीवड़ो, करे कुटुंब-प्रतिपाल।
अन्तर से न्यारो रहे, ज्यों धाव खेलावत बाल॥

इस अवस्था में ही उपाधिजन्य दुःख का स्पर्श अन्तःकरण में नहीं हो सकता और इसी अवस्था में दुःख के अभाव से अन्तःकरण प्रफुल्लित रहकर धर्म में लीन होता है। तभी तप, जप, संयम, करनी आदि सब सफल होते हैं, संसार का परिभ्रमण रुक जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव तीसरे या पन्द्रहवें भव में संसार का अन्त कर देता है। सम्यग्दृष्टि एक बार उत्पन्न होकर नष्ट हो जाय, तो भी वह जीव अर्द्ध पुद्गल परावर्त्तन काल में संसार का अन्त कर डालता है॥ २१-२२॥

दूसरा संवर—व्रत

विनौषधं शाम्यति नो गदो यथा,
विनाशनं शाम्यति नो क्षुधा यथा ।
विनाम्बुपानेन तृषा व्यथा यथा,
विना व्रतं कर्मरुगास्त्रवस्तथा ॥ ५३ ॥

व्रतों के भेद

महाव्रताणुव्रत भेदतो द्विधा,
व्रतं मुनेः पञ्चविधं किलाग्रिमम् ।
परं मतं श्रावकसंहतेस्तथा ।
जिनोदितं द्वादशधाऽघवारभित् ॥५४॥

अर्थ—जैसे औषध के बिना दर्द नहीं जाता, भोजन किये बिना भूख नहीं मिटती, पानी पिये बिना प्यास नहीं बुझती, वैसे ही विरति के बिना कर्म-रूपी रोग का आगमन बन्द नहीं होता ; अर्थात्—जैसे दर्द मिटाने के लिए औषधि की आवश्यकता है, भूख भगाने के लिए भोजन और प्यास बुझाने के लिए पानी की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही आवश्यकता कर्म दूर करने के लिए विरति की है ॥५३॥

वह विरति (व्रत) महाव्रत और अणुव्रत के भेद से दो प्रकार की है । हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह की सर्वथा—करना, कराना, अनुमोदना, मन, वचन और काय—यों नौ प्रकार से—निवृत्ति करना महाव्रत है, महाव्रत साधु मुनिराज ही धारण कर सकते हैं ;

क्योंकि यह उत्कट मार्ग है। ये महाव्रत प्राणातिपात् से विरमण आदि पाँच प्रकार के हैं। महाव्रत में सर्वथा निवृत्ति होती है, जब कि अणुव्रत में आंशिक निवृत्ति होती है, अतएव अणु—छोटे, व्रतों (अणुव्रतों) को भी जिनेन्द्रदेव ने पाप-समूह को रोकनेवाला कहा है। वे बारह प्रकार के हैं, जिन्हें श्रावक धारण कर सकता है ॥ ५४ ॥

विवेचन—दूसरे आस्रव—अविरति का प्रतिपक्षी विरति अथवा व्रत है। अविरति का अर्थ है पाप क्रिया की वृत्ति और विरति का अर्थ पाप-क्रिया की निवृत्ति। पाप की क्रिया मन से, वचन से और काय से होती है। पाप के कार्य करने से जैसे पाप-क्रिया लगती है, वैसे ही पाप के कार्य करनेवाले वचन बोलने या वैसी इच्छा करने से पाप की क्रिया लगती है। पाप के साधनों की योजना करने से और जुटाये हुए उन साधनों को दूसरों के सिपुर्द कर देने से या अपने पीछे छोड़ जाने से उन साधनों के द्वारा जो पाप-कार्य होता है, उसकी क्रिया साधन जुटानेवाले जीव को भी लगती है। इसी क्रिया को 'रावी' कहते हैं। उस क्रिया को रोकने के लिए व्रत की आवश्यकता पड़ती है। व्रत शब्द 'वृ' धातु से बना है। इस धातु का अर्थ आच्छादन करना, ढँकना या बन्द करना है। पाप की क्रिया अविरति को जो आवरता है—रोकता है, वह व्रत कहलाता है। यह व्रत ही आनेवाले कर्म-रोगों को रोकता है, क्योंकि पाप-क्रिया कर्म-रूप रोगों को फैलाती है। इस क्रिया के रुकने से नये कर्म रुक जाते हैं। उक्त व्रत दो प्रकार के हैं—महाव्रत और अणुव्रत या अनगारव्रत—आगारव्रत। जिसने बाह्य और आभ्यन्तर-

गृह का त्याग कर दिया है वह अनगार है। बाह्य-गृह ; अर्थात्—ईंट, चूना का घर और आभ्यन्तर-गृह , अर्थात्—मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी आदि क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोष। इनका जिसने त्याग कर दिया हो, वह अनगार है। अथवा आगार—छूट जिसे नहीं है वह अनगार है। और उसके व्रत अनगार व्रत हैं। आगार ; अर्थात्—छूटवाले व्रत आगारव्रत कहलाते हैं। घर-द्वार छोडने की शक्ति जिसने प्राप्त कर ली है और विशिष्ट वैराग्य जिसके हृदय में उत्पन्न हो गया है, उसमें किसी भी प्रकार की छूट से रहित व्रतों—महाव्रतों को पालने का सामर्थ्य स्वत. सभव होने के कारण ये महाव्रत त्यागी वर्ग के लिए योजित किये गये हैं।

पाँच महाव्रत

(१) प्राणातिपात विरमण—मन, वचन, काय से किसी भी जीव की हिंसा न करना, न कराना और न करनेवाले की अनुमोदना करना।

(२) मृषावाद विरमण—क्रोध, लोभ, भय और हास्य आदि किसी भी कारण से मन, वचन, काय से झूठ न बोलना, न बोलाना, न बोलनेवाले की अनुमोदना करना।

(३) अदत्तादान विरमण—अदत्त चार प्रकार से होता है—स्वामी अदत्त, जीव अदत्त, तीर्थङ्कर अदत्त और गुरु अदत्त। वस्तु के स्वामी की आज्ञा प्राप्त किये विना लेना स्वामी अदत्त है। स्वामी की

आज्ञा हो, पर वह वस्तु अचित्त जीवरहित—न हो तो जीव अदत्त। अचित्त भी हो, पर तीर्थंकर की आज्ञा के अनुसार एषणीय न हो, तो तीर्थंकर अदत्त। शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार। शुद्ध एषणीय भी हो, पर गुरु से पूछे बिना या बताये बिना उपयोग में लाना गुरु-अदत्त है। चारों प्रकार की अदत्त वस्तु छोटी या मोटी, थोड़ी या बहुत, आज्ञा बिना काम से न लेना, न लिवाना और न लेनेवाले का अनुमोदन करना।

(४) मैथुन विरमण—स्थूल या सूक्ष्म, देवता, मनुष्य और तिर्यञ्च-सबंधी मैथुन सेवन न करे, दूसरे से सेवन न कराये, और सेवन करने-वाले की अनुमोदना न करे।

(५) *परिग्रह विरमण—सचित्त या अचित्त, स्वल्प या अनल्प,* अणु या महान, किसी भी प्रकार का परिग्रह मन, वचन, काय से रखना, दूसरे से न रखाना और रखनेवाले की अनुमोदना न करना।

ये पाँचों महाव्रत जीवन पर्यन्त पालने पड़ते हैं। जो व्रत महा-व्रतों की अपेक्षा अणु—छोटे—होते हैं, उन्हें अणुव्रत अथवा स्थूल या मोटे व्रत कहते हैं। ये स्थूल व्रत गृहस्थ के लिए हैं। गृहस्थ को गृहस्थी-सम्बन्धी सारा व्यवहार चलाना पडता है। वह पूर्ण निवृत्ति नहीं कर सकता, अतः उसे आंशिक निवृत्ति करनी चाहिए। सूक्ष्म अशों का पालन न हो सके, तो स्थूल अशों का पालन करना चाहिए। गृहस्थ के व्रत बारह हैं।

बारह व्रत

(१) स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत—त्रस जीवों को जान-बूझकर बिना अपराध (विकलेन्द्रियों को अपराध होने पर भी) मारने की बुद्धि से मन-वचन-काय से मारना नहीं और मरवाना नहीं। जिनसे निरन्तर त्रस जीवों की हिंसा होती हो, ऐसे मांस, मदिरा, मधु, मक्खन आदि पदार्थों का उपयोग न करना।

(२) स्थूल मृषावाद विरमण—जो व्यवहार में असत्य माना जाता है और जिससे अनर्थ होता है, ऐसा असत्य न बोलना और न बोलवाना।

(३) स्थूल अदत्तादान विरमण—मोटी चोरी न करना, अर्थात्-कानून के अनुसार जो चोरी कही जा सकती हो, ऐसी चोरी न करना, न कराना।

(४) स्थूल मैथुन विरमण—पर स्त्री का सर्वथा त्याग करना, स्व-स्त्री के साथ मर्यादित होना, पर्व तिथियों में सर्वथा ब्रह्मचर्य पालना।

(५) स्थूल परिग्रह विरमण—क्षेत्र, घर, सोना, चाँदी, धन, धान्य मनुष्य, नौकर-चाकर, पशु आदि की तृष्णा पर अंकुश रखना, परिग्रह की मर्यादा करना, अन्यायोपार्जित द्रव्य की इच्छा न करना।

(६) दिग्व्रत—छः दिशाओं का परिमाण करना। बाँधी हुई मर्यादा से आगे न जाना।

(७) भोगोपभोगव्रत—खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने तथा सवारी

आदि की वस्तुओं की मर्यादा करना और पन्द्रह कर्मादानों के व्यापार का त्याग करना।

(८) अनर्थ दंड विरमण—आर्त्तध्यान रौद्रध्यान न करना। जीवों की यातना करने में प्रमाद न करना। हिंसा-जनक उपकरण न रखना और दूसरों को न देना। बिना स्वार्थ दूसरों को पापकारी उपदेश या सलाह न देना।

(९) सामायिक व्रत—समभाव उत्पन्न हो, इस प्रकार सामायक क्रिया करना।

(१०) देशावकाशिक व्रत—द्रव्य क्षेत्रकाल भाव से पहले की हुई दिशाओं की मर्यादा को संकुचित करना तथा व्रत में रखी हुई छूट को कम करके मर्यादा करना।

(११) पौषधव्रत—अष्टमी, चतुर्दशी पक्खी के दिन आठ प्रहर का 'पोसा' करना।

(१२) अतिथिसंविभाग व्रत—साधु, साध्वी, सुपात्र को निर्मलभाव से योग्य वस्तु दान करना।

उल्लिखित महाव्रत और अणुव्रत पाप की क्रिया को अटकाते हैं, रोकते हैं, इसलिए संवर रूप हैं। महाव्रत पाप-क्रिया को सर्वथा रोकते हैं; अतः सर्वविरति रूप हैं। अणुव्रत पाप क्रिया को एक देश से रोकते हैं और एक देश वह चालू रहती है, इसलिए अणुव्रत देशविरति रूप हैं। शक्ति और इच्छा के प्रमाण में महाव्रत और अणुव्रत का अधिकार प्राप्त होता है। गृहस्थाश्रमी पाप-क्रिया—आरंभ समारंभ—को सर्वथा

नहीं रोक सकता , अतः उसके लिए आगारवाले—छूटवाले—अणुव्रतों की योजना की गई है। त्यागी जन सांसारिक जंजाल से मुक्त हैं, आरंभ-समारंभ के बिना उनका काम चल सकता है, इसलिए उन्हें महाव्रत ग्रहण करने का अधिकार है।

पहले कहा जा चुका है कि कुछ पाप-क्रियाएँ ऐसी हैं, जिन्हे हम स्वयं करते नहीं हैं, किन्तु जब तक उनका पच्चक्खाण-नियम न कर लिया जाय, तब तक सूक्ष्म प्रवाह से पाप कर्म आता रहता है। इसका कारण यही है कि उस विषय की इच्छा का निरोध नहीं किया गया है और जब तक इच्छा मौजूद है, फिर भलेही वह अव्यक्त हो, तब तक उस इच्छा का कभी भी आविर्भाव होने से वचन और काय से भी उसमें संलग्न होने का समय आ सकता है, अतएव जिस पापक्रिया के बिना काम चल सकता है, उसका निरोध करने के लिए व्रतो को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। ॥ ५३-५४ ॥

तीसरा भेद—अप्रमाद

रुजा शरीरं जरया च तद्बलं,
यशश्च लोभेन यथा विनश्यति ।
तथा प्रमादैरखिलो गुणव्रज—
स्ततः सुखाय प्रयताच्च पौरुषम् ॥ ५५ ॥

अप्रमाद का फल—

ज्वरे निवृत्ते रुचिरेधते यथा,
मले गते शाम्यति जाठरी व्यथा।
तथा प्रमादे विगतेऽभिवर्द्धते,
गुणोच्चयो दुर्बलता च नश्यति ॥ ५६ ॥

अर्थ—जैसे बुढापे से शरीर निर्बल हो जाता है, रोग से शरीर की क्षति हो जाती है, लोभ से यश का नाश होता है, उसी प्रकार मद-विषय आदि प्रमाद के संसर्ग से तमाम मानसिक और आत्मिक गुणों का विलय हो जाता है। हे सखे! यदि तू गुण-सपत्ति और सुख सपत्ति की अभिलाषा रखता है, तो प्रमाद को पल-भर भी न रहने दे और अप्रमत्त होकर शुभ पुरुषार्थ कर ॥ ५५ ॥

जैसे ज्वर उतर जाने के बाद मनुष्य को भोजन की उत्कट रुचि उत्पन्न होती है, पेट में जमा-हुआ मल निकल जाने से पेट की पीड़ा शान्त हो जाती है, उसी प्रकार जब प्रमाद दूर होता है, तो मानसिक और आत्मिक गुण उत्पन्न होने लगते हैं और जैसे ही गुण उत्पन्न हुए कि दोषों का नाश होने लगता है और साथ ही मन और आत्मा की दुर्बलता दूर हो जाती है ॥ ५६ ॥

विवेचन—प्रमाद आत्मा का एक रोग है। जब तक उसका अस्तित्व रहता है, तब तक आत्मा के गुणों का विकास नहीं होता। इस रोग को मिटाने के लिए सम्यक्त्व-मोहनीय, मिथ्यात्व-मोहनीय, मिश्र-मोहनीय, अनन्तानुबन्धी चौकड़ी, अप्रत्याख्यानी चौकड़ी, प्रत्याख्यानी चौकड़ी

और संज्वलन क्रोध इन मोहनीय कर्म की सोलह प्रकृतियों को या तो उपशान्त करना चाहिए या इनका क्षय करना चाहिए। इन प्रकृतियों को खपाने से अप्रमत्त अवस्था प्राप्त होने के साथ ही सातवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है। जैसे नीरोगी और बलिष्ठ पुरुष ऊँची जगह पर सहज ही चढ़ सकता है, उसी प्रकार अप्रमत्त अवस्था प्राप्त होने पर बलवान् हुआ आत्मा सरलता से उपशम या क्षपक श्रेणी पर चढ़ सकता है। सूक्ष्म प्रमाद का त्याग करने के लिए पहले स्थूल प्रमाद का त्याग करना चाहिए। शक्ति, सामग्री और अनुकूल समय मिल गया हो फिर भी धर्मकृत्यों में उपेक्षा करना, आलस्य करना, अवश्य करने योग्य क्रियाओं को अनावश्यक मानकर शुष्क-ज्ञानी बनना, यह सब स्थूल प्रमाद है। इस प्रमाद को दूर करके प्रतिदिन, दोनों समय, आत्मचिंतन के साथ-साथ पाप की आलोचना करनी चाहिए। व्रतों में लगे हुए दोषों के लिए पश्चात्ताप करना चाहिए। इन क्रियाओं को नियमित रूप से किया जाय, तो प्रमाद दूर होता है तथा मन और आत्मा की स्वच्छता होती है। एक दिन भी आलस्य करने से अन्तःकरण-रूपी घर में पाप-रूपी कचरा जमा हो जाता है और इससे आन्तरिक भव्यता नष्ट हो जाती है। इस प्रसंग में प्रमाद के कारण पतित हुए एक साधु का दृष्टान्त उचित होगा।

दृष्टान्त—एक जिज्ञासु ने वैराग्य के साथ किसी महात्मा से दीक्षा धारण की। गुरुजी ने उसे प्रत्येक साधु की क्रिया यत्न के साथ करने की शिक्षा दी। जिज्ञासु शिष्य भी उपदेश के अनुसार सब क्रियाएँ

अप्रमत्त होकर करने लगा। भोर में डेढ़ से दो घण्टे रात्रि शेष रहने पर वह निद्रा त्याग कर 'लोगस्स' तथा प्रथम श्रमणसूत्र का 'काउस्सग्ग' करता था। तदनन्तर दिन के किये हुए शास्त्राभ्यास का स्वाध्याय और पुनरावर्त्तन करता था। फिर रात्रि में लगे हुए दोषों का निवारण करने के लिए प्रतिक्रमण करता था। प्रतिक्रमण करने के बाद ही एक-दो स्तोत्रों द्वारा ईश्वर-स्तुति करके सूर्य उगते ही वस्त्र, रजोहरण, पूँजनी आदि सब उपकरणों का प्रति-लेखन करता था। अपने और गुरुजी के उपकरणों का भलीभाँति सावधानी के साथ प्रति-लेखन करके, पूँज करके उन्हें व्यवस्थित रख देता था। इतना कार्य समाप्त होने के बाद गुरु के समीप विनय-पूर्वक नये पाठ की वाचना लेकर मूल पाठ करने के लिए तैयार हो जाता था, जब आहार-पानी लाने का समय होता, तो पात्रा और झोली का निरीक्षण करके, पूजनी से पूजकर भिक्षा लेने चला जाता था। अधिक घरों में घूमने की परवा न करके, ज़रा भी दोष न लगने पावे, इस बात का विचार करके आहार-पानी लाता और गुरु को आहार कराकर फिर खुद आहार करता। आहार-कार्य से निवृत्त होने के पश्चात् फिर अभ्यास करने में जुट जाता। पिछले पहर का प्रतिलेखन करके सन्ध्या समय फिर प्रतिक्रमण करता। उसके अनन्तर भी एक प्रहर रात्रि व्यतीत होने तक स्वाध्याय करता, ध्यान करता और फिर सो जाता। इस नियमित कार्यक्रम से उसका दिन सहज ही व्यतीत हो जाता था। शारीरिक व्यायाम हो जाने के कारण शरीर तन्दुरुस्त और मन प्रसन्न रहता था और गुरु का अनुग्रह भी दिनोदिन बढ़ता जाता

था; परन्तु कुछ समय बाद इसे क्रियाकांड के प्रति झुँझलाहट होने लगी। रोज़ का रोज प्रतिक्रमण करने की क्या आवश्यकता? महीना-पन्द्रह दिन में एक बार प्रतिक्रमण करने से क्या काम नहीं चल सकता? रोज-रोज पडिलेहण करने से मतलब? कपड़ों में चूहे या साँप कहाँ मर जाते हैं? इस प्रकार झुँझलाहट होने से धीरे-धीरे उसकी क्रियाओं में भग होने लगा। पडिलेहण किसी दिन कर लेता तो दो-चार दिन के लिए निश्चित हो जाता। जागने में भी वह अनियमित हो गया। किसी दिन पाँच बजे उठता, तो किसी दिन छः बजे! प्रतिक्रमण की परपरा भी गायब हो गई। गुरु का विनय तथा अन्य कार्यों में भी उसे आलस्य घेरने लगा। इस अनियमितता के कारण उसके शरीर और मन की हालत भी बिगड़ने लगी। जब क्रियाओं द्वारा कसरत होती थी, तो खुराक बराबर पच जाती थी; पर अब पाचन कम होने लगा। वैराग्य में भी कमी होने लगी। खाने-पीने की लालसा बढ गई। उपवास आदि तपस्या, जो पहले करता, किनारे धरी रह गई। पेट में विष जमा होने लगा। बीमारी हुई। शरीर क्षीण होने लगा। यह हालत देख गुरु ने शिक्षा देना प्रारम्भ किया। आश्रम के बगल में ही एक श्रावक का बँगला था, उसके चारों ओर बगीचा था। बँगला के स्वामी सेठ को सफाई बहुत पसन्द थी; अतएव वह अपने नौकरों से खूब सफाई कराता था। माली, वृक्षों, लताओं और पौधों की प्रतिदिन सार-सँभाल करता था; इसलिए बगीचा बड़ा सुन्दर मालूम होता था। थोड़े दिन बाद सेठ को बाहर जाना पड़ा। बँगला बन्द हो गया। नौकर हटा दिये।

गये। रह गया केवल एक माली, सो 'धनी बिना ढोर सूने' इस कहावत के अनुसार माली लापरवाही करता रहा; इसलिए भीतर के रास्ते घास-पात से भर गये। बँगले की दीवारों में जाले लग गये। लताओं के कुञ्जों आदि की रचना छिन्न-भिन्न हो गई। गुरुजी अपने शिष्य को सेठ के बगीचे में ले गये। शिष्य ने पूछा—'महाराज! इस बगीचे के सामने इतनी सुन्दरता थी वह कहाँ चली गई? रास्तों में पत्ता तक न रहता था उसके विपरीत आज घास, पात और कचरा भर गया है। बैठकों का ठिकाना नहीं है। लता-मण्डल सब बिखर गये हैं। बहुत से पेड़ों की जड़ों में दीमक लग गई है। कई जगह चूहों वगैरह के खोदे हुए बिलों के आस-पास मिट्टी के ढेर पड़े हैं। जगह-जगह जाले लगे हुए हैं। अहा, जो बगीचा एक दिन नन्दन वन की नाईं मनोहर दिखाई देता था, आज वही छिन्न-भिन्न होकर कैसा बुरा जान पड़ता है!' यह सुनकर गुरु ने उत्तर दिया—'हे भद्र! दूसरों के दोष देखना या निकालना सरल है, पर अपने दोषों को कौन देखता है? तू अपने शरीर की ओर तो देख, वह कैसा खराब हो गया है? आज तुझे खुराक नहीं पचता है। जीर्ण-ज्वर भी हो आता है। चेहरा फीका पड़ गया है। रक्त की ललाई चली गई है। इसका कारण क्या है? इस पर कभी विचार किया है?' शिष्य बोला—'महाराज! विचार तो आता है; पर इसका उपाय क्या है? यह तो शरीर का धर्म है। देह का दण्ड देह को भोगना पड़ेगा।' गुरु ने कहा—'भाई! इसमें देह का दोष नहीं है, तुम्हारा

खुद का दोष है। बगीचे की और तुम्हारे शरीर की हालत लगभग समान है। इस बगीचे का मालिक जब यहाँ मौजूद था और यह नियमित रूप से साफ होता था, तब रमणीय लगता था; पर अब वह परदेश चला गया है, पीछे आदमी सार-सँभाल नहीं करते। इसी कारण इसकी यह दुर्दशा हो गई है। इसी प्रकार पहले तुम नियमित क्रिया करते थे, अतः तुम्हारा शरीर सुदर था, साथ ही मन भी पवित्र रहता था। कुछ समय से तुमने क्रियाएँ करने में प्रमाद करना आरम कर दिया है। इन क्रियाओं की रोज-रोज़ क्या आवश्यकता है? इन्हें न करें तो हानि क्या है? यह सोचकर तुम्हें इन पर झुँझलाहट आई और प्रायः सारी क्रियाएँ तुम छोड़ बैठे। इसका जो फल हुआ, उसका अनुभव आज तुम कर रहे हो। यदि नियमित रूप से क्रम-पूर्वक क्रियाएँ चालू रखी होती, तो आत्मा के शत्रु प्रमाद का प्रवेश न हो पाता। प्रतिदिन पाप की आलोचना करने से मन भी स्वच्छ रहता और मन की स्वच्छता से वैराग्य दशा भी कायम रहती। वैराग्य ताज़ा रहने से खाने-पीने की आसक्ति न बढ़ती और अजीर्ण या जीर्णज्वर भी न आता। आज जो शारीरिक कष्ट भोगना पड़ता है, वह न भोगना पड़ता; इसलिए हे भद्र! जैसे माली की अनियमितता और प्रमाद से बगीचे की दुर्दशा हुई है, वैसे ही तेरे प्रमाद के कारण तेरी दुर्दशा हुई है।' गुरु के इस हितोपदेश से शिष्य के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसी दिन से शिष्य फिर नियमित क्रियाएँ करने लगा। उसका शरीर और मन फिर दुरुस्त हो गये। यह अप्रमाद की खूबी है॥ ५५-५६॥

चौथा भेद—अकषाय

कषाय दोषा नरकायुरर्जका,
भवद्वयोद्वेगकराः सुखच्छिदः ।
कदा त्यजेयुर्ममसङ्गमात्मनो,
विभावयेत्यष्टम भावनाश्रितः ॥ ५७ ॥

अर्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय आत्मा के दोष हैं। कषाय में जितनी तीव्रता होती है, उतने ही तीव्र रसवाले अशुभ कर्मों का बंध होता है। ये कषाय यदि अनन्तानुबंधी हों, तो नरक की आयु का बंध होता है। अप्रत्याख्यानी हों, तो तिर्यञ्च आयु का बन्ध होता है। कषाय केवल परभव में ही दुःख नहीं देते; किन्तु इस भव में भी मन को उद्विग्न रखते हैं। सुख के साधन मौजूद रहने पर भी ये सुख से वंचित रखते हैं; अतएव प्रत्येक मुमुक्षु को सदा ऐसा विचार करना चाहिए कि—'इन कषाय-रूपी चांडालों के पंजे से कब छूटूँ? जिस क्षण कषायों का संसर्ग छूटेगा, उसी क्षण सच्चा सुख पा सकूँगा?'

विवेचन—जैसे सूर्य की प्रखर किरणें ग्रीष्मकाल में पानी सोख लेती हैं, उसी प्रकार कषायों की तेज गर्मी समता और समाधि-रूप जल को सोख लेती है। डिग्री की न्यूनाधिकता के अनुसार कषायों के चार भेद किये गये हैं—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और सञ्ज्वलन। ये चारों विशेषण क्रोध, मान, माया और लोभ—चारों को

लागू पड़ते हैं। शास्त्रीय भाषा में ये कषाय, अध्यवसाय के एक स्थूलरूप के तौर पर प्रसिद्ध हैं। लोक-भाषा में इन्हें हृदय का एक प्रकार का आवेश, गुस्सा या वासना कह सकते हैं। क्रोध का आवेश होने पर हृदय की स्थिति छिन्न-भिन्न हो जाती है। मान के आवेश में हृदय की हालत कठोर हो जाती है। माया के आवेश में टेढ़ी-मेढी, वक्र-स्थिति हो जाती है और लोभ के आवेश में शोषक अथवा स्निग्ध स्थिति हो जाती है। कषाय, इहपर—दोनों लोकों को बिगाड़ती है। जो कषायों पर विजय प्राप्त करता है वही सुखी होता है, उसी को मोक्ष-पद की योग्यता प्राप्त होती है। सूत्रकृताङ्ग सूत्र के छठे अध्ययन में कहा है—

कोहं च माणं च तहेव मायं लोभं च उत्थं अज्झत्थदोसा।
एयाणि वता अरहा महेसी, न कुव्वइ पावं न कारवेइ॥

अर्थात्—क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार आध्यात्मिक दोष हैं, अध्यात्म मार्ग में लूट मचानेवाले लुटेरे हैं, जब इन्हें खदेड़ दिया जाता है, तभी महर्षि और अरिहंत का पद प्राप्त होता है। तभी पाप के करने और कराने से बचा जा सकता है। महावीर स्वामी ने जब कषायों का नाश किया तभी वे महर्षि और अरिहंत हुए और पाप कर्मों से मुक्त हो गये। कषायी जीव इस भव और परभव में किस प्रकार दुःखी होते हैं, इस सम्बन्ध में 'युगादि देशना' में दिया हुआ सकषाय कुटुम्ब का दृष्टान्त बताना उचित होगा।

दृष्टान्त—विजयवर्द्धन नगर में रुद्रदेव नामक एक गृहस्थ रहता था। उसके अग्निशिखा नामक पत्नी से तीन पुत्र हुए थे। बड़े का

नाम पहाड़। मझले का नाम कुंडग और छोटे का नाम सागर था। पहाड़ अहंकारी, कुडग कपटी और सागर लोभी था। रुद्रदेव और अग्निशिखा दोनों क्रोधी स्वभाव के थे। तीनों लड़कों को योग्य स्थान पर ब्याहा ; किन्तु दैवयोग से जैसे स्वभाव के पुरुष थे, वैसे ही स्वभाव की स्त्रियाँ उन्हें मिलीं। मानो क्रोध, मान, माया और लोभ चारों कषायों ने ही उस कुटुम्ब में जन्म ले लिया। हरेक आदमी कषाय के योग से अपनी-अपनी धुन में मस्त रहता था। हृदय से कोई किसी को नहीं चाहता था। दो दिन कहीं शान्ति से व्यतीत हो गये, तो तीसरे रोज़ तो अवश्य ही कहीं-न कहीं से आकर क्लेश आ खड़ा होता। जैसे अनेक व्याधियों से शरीर पीड़ित होता है, उसी प्रकार झगड़ों-टंटों के मारे वह कुटुम्ब पीड़ित होने लगा। रुद्रदेव को पहाड़ की बड़ी-बड़ी बातें बनाने और अभिमान भरी बातों से, कुडग की कपट-क्रिया से और सागर की लोभ-वृत्ति से सदा त्रास रहता था। जब गर्मी, कठिनता, वक्रता और शोषकता या चिकनाहट अन्तिम डिग्री पर जा पहुँचते हैं, तब उस कषाय को अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। स्थानांग सूत्र में चारों अवस्थाओं को दृष्टान्त द्वारा समझाया है। अन्तिम डिग्री के क्रोध को पर्वत की दरार की उपमा दी जाती है। पत्थर में दरार हो जाय, तो मिटती नहीं, इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी क्रोध से पृथक् हुए हृदय जीवन-पर्यन्त कभी नहीं मिलते। अप्रत्याख्यानी क्रोध को तालाब की मिट्टी में पड़ी हुई दरार की उपमा दी गई है। वह शीतकाल में पड़ती है और वर्षाकाल में वृष्टि होने पर मिल जाती है। उसी

प्रकार अप्रत्याख्यानी क्रोध से जुदे हुए मन सवत्सरी के दिन जुड़ जाते हैं। प्रत्याख्यानी क्रोध को रेत की रेखा की उपमा दी गई है। रेत की रेखा शीतकाल में पूर्व दिशा की हवा से पड़ती है और ग्रीष्म में पश्चिम की हवा चलने से पुर जाती है। इसी प्रकार प्रत्याख्यानी क्रोध से अलहदा हुए दिल चार महीने में मिल जाते हैं। सञ्ज्वलन क्रोध को पानी की रेखा के समान बताया है। किसी चीज़ से पानी में रेखा की जाय, तो उस चीज़ के हटते ही वह रेखा मिट जाती है; पानी आपस में मिल जाता है, उसी प्रकार सञ्ज्वलन क्रोध से भिन्न हुआ हृदय तत्काल ही मिल जाता है। इसकी अधिक-से-अधिक पन्द्रह दिन की स्थिति है। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी मान की पत्थर के खमे के साथ, अप्रत्याख्यानी मान की हाड़ के खम्मे के साथ, प्रत्याख्यानी मान की लकड़ी के खम्मे के साथ और संज्वलनी मान की बेंत की छड़ी के साथ, तुलना की गई है। पहले-पहले खम्मों की अपेक्षा पिछले-पिछले खमों में कम कठिनता होती है। इसी प्रकार पिछले-मान की अपेक्षा अगला मान कम कठिन होता है। अनन्तानुबन्धी माया बाँस की गाँठ के समान टेढी-मेढ़ी, अप्रत्याख्यानी माया मेढ़े के सींग के समान, प्रत्याख्यानी माया गोमूत्रिका-जैसी और सञ्ज्वलन माया बेंत की छाल सरीखी है। पूर्व की अपेक्षा पिछली की वक्रता क्रमशः कम है। अनन्तानुबन्धी लोभ किरमिची के रंग के समान, अप्रत्याख्यानी लोभ मोरी के कीचड़-जैसा, प्रत्याख्यानी लोभ गाड़ी के औंगन सदृश और संज्वलन लोभ हल्दी के रंग-जैसा है।

किरमिची का रंग कपडा भले ही फट जाय पर, छूटता नहीं है, हल्दी का रंग धूप लगते ही उड़ जाता है। उसी प्रकार अनन्तानुबन्धी लोभ जीवन-भर रहता है और सज्वलन लोभ थोडे ही समय में नष्ट हो जाता है। इसकी सग्राहक शक्ति बहुत थोड़ी है; अतएव क्रोधाग्नि के भड़कते रहने से रुद्रदेव का मन निरन्तर सतप्त रहता था। किसी समय अपनी स्त्री के सामने हृदय का दु:ख खोलकर रख देता और इस प्रकार हृदय को हलका करता था। ऐसा करने में भी कभी-कभी शांति मिलती, तो कभी-कभी दोनों ओर से और ज्यादह ज्वालाएँ फैलने लगती थीं। एक बार रुद्रदेव ने कुछ प्रसन्नता के साथ अपनी पत्नी से कहा—भद्रे! अपने छोकड़े जवानी के मद में चूर होकर और स्त्रियों के प्यार में पागल बनकर अपना सामना करते हैं। कहा भी है—

यौवने विकरोत्येव, मनः सयमिनामपि।
राजमार्गेऽपि रोहन्ति, प्रावृट्काले किलाङ्कुराः॥

अर्थ—यौवन अवस्था संयमी पुरुषों के मन को भी विकृत कर देती है। वर्षाऋतु में राज-मार्ग में भी अकुर उग आते हैं।

हे प्रिये! इस समय तो हम लोग काम-काज कर सकते हैं, फिर भी इस तरह तिरस्कार करते हैं, तो बुढापे में क्या दशा करेंगे? इस आफ़त से बचने के लिए कुछ उपाय कर रखना चाहिए। मैंने तीन हजार मोहरें गुप्त रूप से छिपा रखी हैं। ले, उनमें से एक हज़ार तू अपने अधिकार में रख और ज़मीन में गाड़ ले। मैं फलाँ जगह

गाड़ता हूँ और तू फैर्ली जगह गाड दे। यदि मैं तुमसे पहले ही यह मुसाफिरी समाप्त कर लूँ, तो तू मेरी दो हजार मोहरें धर्मकार्य में खर्च कर देना। ध्यान रखना, यह बात किसी को मालूम न हो जाय। अग्निशिखा ने सब बात स्वीकार कर ली; पर जिस कोठरी में यह बात-चीत हो रही थी, उसके बाहर खड़ी हुई कुडग की स्त्री निकृति और सागर की स्त्री सच्चया ने चुपचाप सारी बातचीत सुन ली। देवरानी और जेठानी दोनों अपना मतलब बनाने के लिए मिल गईं। दोनों सास के पास आकर कहने लगीं—सासजी! हम लोगों ने आज तक तुम्हारा आदर नहीं किया, इसके लिए हमें बड़ा खेद है। जवानी के नशे में कितनी ही बार आपके सामने बोलीं, आपकी अवज्ञा की, यह प्रसंग अब हमें हमेशा खटकता रहता है। माताजी! आज से हमारा स्वभाव बदल गया है, विश्वास रखिए। अब कोई भी आज्ञा देनी हो, तो कृपा कर हमें बुलाना। अग्निशिखा इस कपटाचार से भुलावे में आ गई। उसने समझा—ये दरअसल ठीक सच्चे दिल से कह रही हैं। थोड़े समय में दोनों बहुओं ने सास का हृदय जीत लिया। सास ने सोचा—जब ऐसी सुपात्र बहुएँ मेरी चाकरी करने के लिए तैयार हैं, तो मोहरें छिपाने से क्या लाभ है? छिपाई हुई मोहरें दे देने से ये और ज्यादा सत्कार करेंगी। यह विचार कर अग्निशिखा ने प्रसन्नचित्त होकर बहुओं को मोहरें लेने की आज्ञा दे दी। मायाविनी बहुओं ने कहा—माताजी! आपकी कृपा ही मोहरें हैं, हमें मोहरों से क्या लेना-देना है? तुम्हारी सेवा ही

हमारी समझ में मेवा है। उन्होंने आग्रह के साथ मोहरें लेने में आना-कानी की। अहा ! कैसी निस्पृहता ! भली-भाँति विश्वास दिलाकर अन्त में दोनों बहुओं ने गुपचुप हजार मोहरें निकाल लीं और उनकी जगह पत्थर भर दिये। मतलब सिद्ध हो जाने पर दोनों की भक्ति ढीली पड़ गई। सासजी का अब तक जो सत्कार होता था, जो विनय-मर्यादा रखी जाती थी, उसमें परिवर्त्तन हो गया। इतना ही नहीं, किन्तु कुछ समय पश्चात् सारा ही भक्ति-भाव गायब हो गया। जिस प्रकार अग्नि-शिखा को उसकी बहुओं ने छला, उसी प्रकार उनके पति कुण्डग और सागर ने अपने पिता को छला। दोनों का गुप्त धन चला गया। भक्ति के फेरफार से सदेह होने पर देखा, तो मोहरों की जगह पत्थर निकले। मोहरें न मिलीं, तो लड़कों और बहुओं को बुलाकर पूछना शुरू किया, पर उन कपटियों ने बड़ी-से-बड़ी सौगधें खाकर अपनी सचाई सिद्ध कर दी। रुद्रदेव और अग्निशिखा मन-ही-मन जल-भुनकर खाक हो गये। घर की फरियाद कहाँ करते ? एक बार रुद्रदेव अपनी स्त्री के पास आ बैठा और हजार मोहरें खो देने के लिए उसे उपालभ देने लगा। अग्निशिखा बोली—'मैंने गँवाई सो गँवाई, पर तुमने क्यों न बचा लीं ? दूसरों से कहना सरल है, अपना विचार ही नहीं करते ?' यह सुनकर रुद्रदेव का पारा चढ़ गया। बोला—'अरे मुझे कहनेवाली तू कौन होती है ? मोहरे क्या तू अपने बाप के घर से लाई थी ? मैंने कमाई और मैंने ही खो दी, तू क्यों अपनी टाँग अड़ाती है ?' अग्निशिखा का स्वभाव भी अग्नि-जैसा गर्म था। वह चुप न रह सकी। उसने उत्तर-

प्रत्युत्तर किये तो रुद्रदेव के रौद्र स्वभाव ने विकट रूप धारण किया। जैसे अग्नि में घी डालने से वह भडकती है, वैसे ही क्रोधाग्नि प्रदीप्त हो उठी। आँखें लाल-गुलाल हो गईं। वह दाँत कट-कटाकर बोला—'पापिनी! तू मेरे सामने अंटसट बकती है! तू कुलाङ्गना ही नहीं है।' अग्निशिखा ने गर्म होकर कहा—'जब से तुम्हारे पल्ले पडी हूँ, तभी से मेरा कुल नष्ट हो गया है।' इन शब्दों को सुनते ही रुद्रदेव एकदम आवेश में आ गया और पास में पडी हुई लकडी उठाकर जोर से जमाई। अग्निशिखा उठकर भागने जा रही थी, पर कर्मयोग से लकडी मस्तक में बड़े जोर से लगी और वहीं उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गई। रौद्र ध्यान के साथ मरने के कारण वह अपने ही घर में विषैली काली नागिन के रूप में उत्पन्न हुई। वह इधर-उधर फिर रही थी, तो मोहरें देखकर बड़ी प्रसन्न हुई। इतने में ही अपना घर बनाकर वह नागिन वहीं रहने लगी। एक बार निकृति के मन में चोर घुसा। देवरानी को छलकर खजाना अपने कब्जे में कर लेना चाहिए। यह लोभ उसके हृदय में उत्पन्न हुआ। वह खजाना लेने गई कि उस समय उसे नागिन ने डस लिया। जहर चढने से उसकी मृत्यु हो गई। आर्त्तध्यान के योग से वह वहीं नेउली हुई। माया के लोभ के कारण नागिन और नेउली का युद्ध होने लगा। जेठानी की मृत्यु से संचया मन-ही-मन बड़ी खुश हुई। उसने सोचा—अब सारी मोहरें अकेली मुझको ही मिलेंगी। माया के चक्कर में पड़ी हुई संचया ज्योंही मोहरें लेने गई, त्यों ही वह भी जेठानी की नाईं नागिन का शिकार हो गई।

वह भी अशुभ अध्यवसाय के साथ मरी थी-, अत: उसी गली में कुत्ती के रूप में जन्मी। पीछे सागर ने द्रव्य के लोभ से भाई को विष देकर मार डाला। वह भी घर में भयङ्कर काल-रूप सर्प हुआ और जब सागर खजाना खोदने गया, तो पूर्व वैर के कारण उसने उसे डस लिया। वह भी मरा और नेउला हो गया। खजाने के लोभ से वे दोनों परस्पर लड़ने लगे। एक बार रुद्रदेव दुकान से घर आ रहा था। उस समय घमंडी पहाड़सिंह पैर-पर-पैर रखे, मूँछें मरोड़ता हुआ बैठा था। रुद्रदेव ने उसे कुछ काम बताया, पर उसने उद्धतता के साथ साफ मनाही कर दी। रुद्रदेव ने कुपित होकर उससे कहा—'अभी बाप की कमाई पर तागड़धिन्ना उड़ा रहा है और बताया हुआ इतना-सा काम भी नहीं करता? दुष्ट! चाण्डाल! तुझ-सरीखे कुपूत से तो निपूता रहना ही अच्छा है!' कठोर वचनों से अहङ्कारी पहाड़सिंह का मिज़ाज गर्म हो गया। दोनों परस्पर लड़ने लगे। इसी बीच नागिन और नेउली, सर्प और नेउला भी बिलों से बाहर आकर लड़ने लगे। पहाड़-सिंह की स्त्री शिला निधान लेने गई, उसी समय कुत्ती ने उसे काट खाया। वह बुरी दशा में वहीं ज़मीन पर लोट रही। कषाय के भिन्न-भिन्न पात्रों का यह अजनबी दृश्य रास्ता चलते लोगों को आकर्षित करने लगा। यह नाटक देखने के लिए बहुतेरे आदमी जमा हो गये। इसी समय एक ज्ञानी तपस्वी मुनि गोचरी के लिए फिरते-फिरते वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने अपने ज्ञान के बल से सारा वृत्तान्त जान लिया। कषाय परिणाम प्रकट करने के लिए वे भी वहाँ खड़े हो गये। माथा

धुनते हुए मन-ही-मन वे कहने लगे—मोह और कषाय के कारण कैसी विडम्बना होती है ? रुद्रदेव ने कलह बन्द करके मुनि से माथा धुनने का कारण पूछा। मुनि ने कहा—'सेठजी, यह सारी लीला तुम्हारी मोहरों के लोभ की और कषाय प्रकृति की है। नेउला और साँप—दोनों तुम्हारे पुत्र हैं। नागिन तुम्हारी पत्नी और नेउली पुत्रवधू है, यह कुत्ती भी पुत्रवधू ही है। कषाय के कारण सारे कुटुम्ब की कैसी पायमाली हुई है, कितनी विडम्बनाएँ भुगतनी पड़ी हैं। इसका चित्र तुम्हारी नजरों के सामने है। भाइयो ! इस परिणाम को देखकर कषाय को दूर करो।' मुनि के वचनों से पाँचों तिर्यञ्चों को जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। उन सब ने मुनि के सामने अनशन किया। रुद्रदेव और पहाड़सिंह विरक्त होकर संसार को छोड़ मुनि के पास दीक्षित हो गये।

कषाय इस भव और परभव में किस प्रकार दुःख उत्पन्न करती है, यह बात रुद्रदेव के कुटुम्ब की कथा से भली-भाँति जानी जा सकती है। कषाय का दुष्ट परिणाम देखकर कषायों को क्षीण करना चाहिए। मन में विचार करना चाहिए कि जिस दिन मैं निष्कषाय बनूँगा, उसी दिन सच्चा सुख और सच्ची शांति का लाभ होगा। प्रयत्न और प्रयास करने से ऐसी स्थिति प्राप्त होना ही जीवन की सफलता है ॥८७॥

अशुभ प्रवृत्ति का त्याग

मनो वचो विग्रह वृत्तयोऽशुभाः
नाना विकारी पुलरैन्द्रियाः सदा।

निहन्ति धर्माभिमुखं बलं ततो,
निरुध्य तांस्त्वं शुभधर्ममाचर ॥ ८८ ॥

अर्थ—मन से किसी का अनिष्ट चिन्तन करना, दुष्ट इच्छाएँ करना, ईर्ष्या या वैर रखना, ये मानसिक अशुभ योग हैं। किसी की निन्दा करना, गाली देना, झूठा लाञ्छन लगाना और असत्य भाषण करना, ये वाचनिक अशुभ योग हैं। किसी को कष्ट पहुँचाना, किसी का हक छीनना, चोरी करना या व्यभिचार कर्म करना, यह कायिक अशुभ योग है। विषयासक्ति मे इन्द्रियों का उपयोग करना ऐन्द्रिय विकार है। यह समस्त अशुभ प्रवृत्तियाँ धार्मिक और आत्मिक बल को नष्ट करती हैं, इसलिए हे भाई! अशुभ प्रवृत्तियों को रोककर आत्मा के पराक्रम को प्रकट करके धर्म का सहारा ले। इससे संवर की निष्पत्ति के साथ मुक्ति-सुंदरी के स्वयंवर में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त होगा ॥८८॥

विवेचन—कर्मग्रन्थ मे कहा है—बल, वीर्य, उत्साह, शक्ति, चेष्टा, करण, ये सब योग के एकार्थक-पर्यायवाची शब्द हैं। वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाले वीर्य को, जिससे कि जीव औदारिक-पुद्गल ग्रहण करके, श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत करके, अवलम्बन करके, कार्य होने के बाद श्वासोच्छ्वास के रूप में बदल सकता है, योग कहते हैं। हिलना-डुलना, चलना-फिरना, खाना-पीना, पाचन होना, श्वास-उच्छ्वास, भाषा, चिन्तन आदि शारीरिक, मानसिक और वाचिक व्यापार—चेष्टा वीर्य से हैं। वीर्य को मुख्य तपयोग कहते हैं। उपचार से वीर्य-विशेष से होनेवाली शारीरिक, मानसिक और

वाचिक चेष्टा—व्यापार—को भी योग कहते हैं। आँख, कान, नाक, जीभ, स्पर्शन, इन पाँचों इन्द्रियों की देखने-सुनने आदि की क्रिया भी योग में ही सम्मिलित है। कषाय और प्रमाद की भाँति योग में स्वतः दुष्टता नहीं है; पर दुष्ट के सयोग से उसमें दुष्टता आती है। जैसे पानी स्वभावत' खराब नहीं होता, परन्तु गटर में पडने पर कीचड के सयोग से वह खराब हो जाता है, इसी प्रकार वीर्यविशेष दुष्ट मन, दुष्ट वचन और दुष्ट काय में जब प्रविष्ट होता है, तो अशुभ योग गिना जाता है। योग की सर्वथा निवृति चौदहवें गुणस्थान मे ही होती है। तेरहवें गुणस्थान तक वह मौजूद रहता है। केवली को मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय, ये चार बध के कारण नहीं हैं, एक योग के कारण ही उन्हें बध होता है। वह योग भी अशुभ नहीं—शुभ है। इसके कारण 'इरियावही' बध होता है, जिसकी स्थिति सिर्फ दो समय की है। एक समय में बध होता है और दूसरे समय वह वेद लिया जाता हैं, तीसरे समय उसकी निर्जरा हो जाती है। कुम्हार चाक को डडे के द्वारा जो वेग देता है, उस वेग की जब तक निवृत्ति नहीं हो जाती, तब तक चाक फिरता रहता है—रुकता नहीं है, उसी प्रकार जब तक आयुष्य आदि कर्मों के कारण योग का वेग प्राप्त है, तब तक योग की निवृत्ति नहीं होती। समस्त कर्मों की पूर्णाहुति होने पर ही योग का निरोध हो सकता है, अतएव इस समय तो हमारा यही कर्त्तव्य है कि जिस प्रकार बन सके दुष्ट-अशुभ योग की निवृत्ति करें। चित्त की वृत्तियों का उत्थान भी इसी से होता है। इसी

कारण योग-शास्त्र में चित्त की वृत्तियों का निरोध समाधि कहा गया है। जब तक ऐसी एकान्त समाधि प्राप्त न हो सके, तब तक अशुभ मन, अशुभ वचन और अशुभ काय के व्यापार को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। ईर्ष्या करना, दूसरे का बुरा विचारना, तृष्णा रखना, क्रोध, लोभ या सहज प्रसंग में दीनता धारण करना, इत्यादि मन के दोष हैं। ये सब दोष मनोयोग को दूषित करते हैं। असत्य, अप्रिय, सावद्य, निन्दायुक्त, तिरस्कार पूर्ण, पर-पीड़ा जनक, मर्मभेदी शब्द बोलना, चुगली खाना, ये भाषा के दोष हैं। ये वचन योग को दूषित करते हैं। हिंसा, चोरी, व्यभिचार - मैथुन आदि काय के दोष हैं। ये काययोग को दूषित बनाते हैं, जिससे मन, वचन और काय के योग दूषित होते हैं वे सब दोष त्याज्य हैं। उन्हें दूर करना चाहिए। स्वत. दूर न हों तो शुभ योग का सहारा लेकर दूर करना चाहिए। अहिंसा, अदत्तादाननिवृत्ति, ब्रह्मचर्य आदि से काय के दोषों को दूर करना चाहिए। सत्य, प्रिय, हित, मित और पथ्य भाषण से भाषा के दोष हटाना चाहिए। क्षमा, निर्लोभता, सरलता, समता, सतोष, वैराग्य, विवेक, ज्ञान, ध्यान सयम, शाति से मन के दोषों का निवारण करना चाहिए। काय के दोष स्थूल हैं, मन के दोष सूक्ष्म हैं। काय के दोष त्यागना सरल है, मन के दोष त्यागना जरा कठिन है। काय के दोष स्वल्प कालीन हैं, मन के दोष चिरकाल से लगे हैं। दोषों को दमन करने या त्यागने की दो रीतियाँ हैं—एक तो यह कि पहले स्थूल दोषों का परिहार करके फिर सूक्ष्म दोषों का परिहार किया जाय;

क्योंकि सरलता से होने वाला कार्य थोडे परिश्रम से ही किया जा सकता है। दूसरी रीति यह है कि पहले ही सूक्ष्म मन के दोषों को पकडा जाय, मानसिक दोष दूर होंगे तो स्थूल दोषों पर विजय पाने में कुछ भी परिश्रम न करना पड़ेगा। वह आप-ही-आप हट जायँगे। अधिकारी के अनुसार दोनों के तरीके उपयोगी हो सकते हैं। अधिक सामर्थ्यशाली और ज्ञान के बल वाले जनों के लिए दूसरा तरीका श्रेयस्कर है, और मन्द ज्ञानवाले तथा निम्न श्रेणी के अधिकारियों के लिए पहला तरीका सुखकर है। जिसे जितना अधिकार होता है, उसे उतनी ही शक्ति होती है। उसी के अनुसार प्रत्येक प्राणी को अशुभमन, वचन और काय की प्रवृत्ति दूर करनी चाहिए। साथ-ही-साथ शुभ प्रवृत्ति का बल प्राप्त करते जाना चाहिए॥ ८८॥
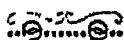
(९) निर्जरा-भावना

निर्जरा भावना

केन प्रकारेण पुराऽऽत्मदर्शिन ,
कृत्वाऽखिलां कर्मगणस्य निर्जराम् ।
ज्ञानं निराबाधमलं प्रपेदिरे,
एवं चिन्तयैतन्च्छुभभावनावश ॥५९॥

अर्थ—भूतकाल में जो आत्मदर्शी महापुरुष हो गये हैं, उन्हें निराबाध अर्थात् किसी भी प्रमाण से बाधा न आ सके, ऐसा परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ है। यह परिपूर्ण ज्ञान तब तक प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक ज्ञानावरण आदि कर्म आवरण के रूप में विद्यमान हैं। इस अवस्था में उन महापुरुषों ने 'आवरण हटाने तथा ज्ञानावरण आदि कर्मों की सर्वथा निर्जरा करने के लिए क्या-क्या उपाय किये हैं? वे किस मार्ग पर चले थे? उन्होंने किस प्रकार के पुरुषार्थ से सर्वथा निर्जरा करके निराबाध ज्ञान प्राप्त किया? हे भद्र! इन बातों पर निर्जरा भावना द्वारा विचार कर ॥५६॥

विवेचन—संवर भावना में आते हुए कर्मों के निरोध करने का उपाय बताया है, परन्तु पहले बाँधे हुए कर्मों से छुटकारा पाये बिना

साध्य की सिद्धि होना सम्भव नहीं है। जब तक पूर्णज्ञान नहीं प्राप्त होता, तब तक कार्य सिद्ध नहीं गिना जा सकता। ज्ञान की पूर्णता घनघाति कर्मों के क्षय होने पर ही हो सकती है। उनका क्षय दो प्रकार से होना चाहिए—प्रथम तो नये कर्मों का आना रुक जाय और दूसरे भूतकाल में बँधे हुए कर्मों का अन्त कर दिया जाय। पहले प्रकार को संवर कहते हैं और दूसरे को निर्जरा। संवर का विचार पिछली भावना में हो चुका है, इस भावना में निर्जरा का विचार करना है, अत. इस भावना का नाम निर्जरा भावना है। निर्जरा के प्रकार, उसका स्वरूप, उसके कारण और फल तथा उसकी प्रशस्यता अप्रशस्यता का निर्णय, इन तमाम बातों के विचार का समावेश इस भावना में हो सकता है। इस काव्य में भूतकाल के किसी उदाहरण में निर्जरा और निराबाध ज्ञान के कार्य-कारण-भाव की विचारणा सूचित की गई है। यह सच है कि आत्मदर्शी महापुरुष निराबाध ज्ञान प्राप्त करने के लिए जो निर्जरा करते हैं, वह उच्च श्रेणी की निर्जरा है, साधारण जनों को वह दुर्लभ है, अत. उसका विचार सर्वसाधारण के लिए उपयोगी नहीं हो सकता, फिर भी 'शते पञ्चाशत्' सौ में पचास समा जाते हैं, इस न्याय के अनुसार उच्च श्रेणी की निर्जरा में निम्न श्रेणी की निर्जरा का समावेश हो जाता है। आत्मदर्शी महापुरुष भी क्रम-क्रम से ही उस स्थिति तक पहुँच पाते हैं। इसलिए कहा है—'केन प्रकारेण' अर्थात् किस प्रकार और किस कर्म से प्राचीन काल के महात्माओं ने कर्म की निर्जरा की, इस बात की आलोचना

करने से कार्य-कारण भाव का निर्णय हो सकता है। महावीर स्वामी का उदाहरण लीजिए। महावीर स्वामी को अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा बहुत ज्यादह कर्म खपाने थे। एक ओर तेईस तीर्थंकरों के कर्म रख लीजिए और दूसरी ओर अकेले महावीर स्वामी के, दोनों की तुलना करें तो महावीर के कर्म अधिक निकलेंगे। कर्म इतने ज्यादह थे और आयु अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा थोडी थी, अतएव श्रीमान् महावीर ने दीक्षा लेकर इन्द्रिय-सुख और शारीरिक-सुख को तिलाञ्जलि दी। वे जगल में या वस्ती में सम भाव से रहकर तप करने लगे। वह तपस्या सार्वभौम-पद या इन्द्रपद पाने के लिए न थी, वह थी सिर्फ कर्म-रूपी आन्तरिक शत्रुओं का दमन करने के लिए ही। सिंह की भाँति निर्भय होकर, सुमेरु के समान निश्चल होकर श्री महावीर ने साढे बारह वर्ष और पन्द्रह दिन तक समाधि भाव के साथ उग्र तपस्या की। इस तपस्या से बड़ा भारी कर्मों का जत्था उड़ गया और निराबाधज्ञान—केवलज्ञान तथा केवलदर्शन पा लिया। गजसुकुमाल ने क्षमा, शान्ति और समाधि-रूप आन्तरिक तपस्या के द्वारा थोड़ी-सी देर में ही कर्मों की निर्जरा करके केवलज्ञान पाया और मुक्त हो गये। भरत चक्रवर्ती ने अरिसा भवन में भावना के बल से कर्म की निर्जरा करके केवलज्ञान पाया। मरुदेवी माता ने पहले ही तपोबल से कर्म की निर्जरा कर दी थी, थोड़े से कर्म जो शेष रह गये थे उन्हें भोगकर, माध्यस्थ्य भावना के बल से निर्जीर्ण करके हाथी के हौदे पर बैठे-बैठे केवलज्ञान प्राप्त

किया और मुक्ति प्राप्त की। इन उदाहरणों में निर्जरा के साधन अलग-अलग हैं, फिर भी अन्तिम निर्जराएक ही प्रकार की थी, अर्थात् चारों घातिया कर्मों की निर्जरा रूप अन्तिम निर्जरा होते ही चारों को एक सरीखा निराबाध ज्ञान उत्पन्न हुआ। इससे यह निश्चय होता है कि निराबाध (सपूर्ण) ज्ञान प्राप्त करने के लिए निर्जरा की आवश्यकता होती है। निर्जरा किस प्रकार करना चाहिए। यह बात आत्मदर्शी महापुरुषों के जीवन वृत्तान्त पढ-सुनकर जानना चाहिए ॥५६॥

निर्जरा का लक्षण और भेद

देशेन यः सञ्चित कर्मणां क्षयः,
सा निर्जरा प्राज्ञजनैर्निवेदिता।
स्यात्सर्वथेयं यदि सर्व कर्मणां,
मुक्तिस्तदा तस्य जनस्य सम्भवेत् ॥६०॥

अर्थ—कर्मों के सचय रूप कार्मण शरीर के द्वारा, उदय में आये हुए या उदीरणा किये हुए कर्मों का वेदन हो जाना—भोग लेना, खिर जाना—झड़ जाना, निर्जरा है। निर्जरा के दो भेद हैं—एक देश से निर्जरा और सर्व देश से निर्जरा। ज्ञानावरणीय आदि आठों कर्मों के अमुक-अमुक अशों का झड़ जाना सो आंशिक-दैशिक निर्जरा है और कर्मों का जड़मूल से सर्वथा उच्छेद हो जाना सर्वदेश-निर्जरा है। एकदेश-निर्जरा तो प्रत्येक समय होती रहती है; पर सर्वदेश निर्जरा मोक्ष-गमन के समय ही होती है ॥६०॥

विवेचन—इस काव्य में निर्जरा और मोक्ष का अन्तर लक्षण द्वारा बताया गया है। नव तत्त्वों में निर्जरा और मोक्ष दोनों तत्त्व उपादेय हैं। दोनों के लक्षण में थोड़ा-सा ही अन्तर है। 'देशेन सचित कर्मणां क्षयो निर्जरा, सर्वथा कर्मणां क्षयो मोक्षः' अर्थात्—सचित कर्मों में से कुछ का नाश होना निर्जरा है और सब का पूर्ण रूप से नाश हो जाना मोक्ष है। दोना के लक्षण में कर्म का नाश समान है, पर निर्जरा में थोड़ा नाश है, जब कि मोक्ष में सब कर्मों का सर्वथा नाश है। साधारणतया कर्म की तीन अवस्थाएँ हैं—बंध अवस्था, सत्ता अवस्था और उदय अवस्था। पहले पहल कर्म बँधता है, तब बँधने के समय उसकी बंध अवस्था ही होती है। इसके बाद वह कुछ समय तक कुछ भी फल न देता हुआ ज्यों का त्यों पड़ा रहता है। ज़मीन में बोया हुआ बीज जैसे कुछ समय तक यों ही पड़ा रहता है, उसी प्रकार दस सागरोपम कोड़ा-कोड़ी की स्थिति वाले कर्म एक हजार वर्ष तक, बीस सागरोपम कोड़ा-कोड़ी की स्थिति वाले दो हजार वर्ष तक, सत्ता में मौजूद रहते हैं। इसी को कर्म की सत्ता अवस्था कहते हैं। सत्ता का समय पूर्ण होने पर कर्म उदय में आता है। उदय दो प्रकार से होता है, एक तो स्थिति का परिपाक होने से उदय होता है, दूसरे उदीरणा से उदय होता है। जैसे एक आम पेड़ में लगा रहकर अपने योग्य समय पर पकता है और दूसरी तरह उसे तोड़कर भूसा वगैरह में दबाकर पकाया जाता है। प्रथम प्रकार का पाक प्रकृति-सिद्ध है, दूसरा प्रयत्न-साध्य है। इसी प्रकार उदय भी प्रकृति सिद्ध

और प्रयत्न-साध्य दो प्रकार का है। उदय को सिद्ध करनेवाला प्रयत्न ही उदीरणा है। स्वयसिद्ध या प्रयत्न—उदीरणा से होनेवाला उदय, कर्म की तीसरी उदय अवस्था है। वेदान्त में इन तीन अवस्थाओं के क्रियमाण, सचित और प्रारब्ध, ये तीन नाम हैं। वहाँ बध को क्रियमाण, सत्ता को सचित और उदय को प्रारब्ध कहा गया है। कर्म की पहली दो अवस्थाओं में निर्जरा नहीं होती, तीसरी अवस्था के बाद ही निर्जरा होती है। तात्पर्य यह है कि सत्ता में रहे हुए कर्म का प्रदेशोदय और विपाकोदय होने के अनन्तर ही उस कर्म का वेदन हो चुकने पर निर्जरा होती है, कर्म आत्मा से अलहदा होते हैं। जैसे वस्त्र को झाडने से उस पर जमी हुई धूल झड जाती है, उसी प्रकार वेदन करने या तपस्या आदि द्वारा उदय में आने पर कर्म आत्मा मे खिर जाते हैं, इसीलिए कहा है—'सचितकर्मणा क्षयः।' शब्द से सचित किये हुए, किन्तु उदय में आये हुए कर्म भोगने हैं, क्योंकि जब तक उन्हें भोग न लिया जाय, तब तक उनकी निर्जरा नहीं हो सकती; अतएव सीधी तरह नहीं तो प्रयत्न करके भी कर्मों को उदय में लाने के अनन्तर ही निर्जरा हो सकती है। निर्जरा और मोक्ष में दूसरा भेद यह है कि निर्जरा में, एक ओर कर्म खिरते हैं, तो दूसरी ओर नये कर्म बँधते भी जाते हैं। पुराने कर्म खपते हैं और नये कर्म बँधते जाते हैं, क्योंकि इस अवस्था मे कर्म बध के कारण भूत कर्म मौजूद रहते हैं। मोक्ष में कर्मों का छुटकारा ही है—बध नहीं है; क्योंकि समस्त कर्मों का नाश हो जाने पर बध का कोई भी कारण शेष नहीं बचा है। उदाहरण के

लिए मान लीजिए, एक पानी का घडा पड़ा है। उसके पेंदे में छेद है। छेद में से पानी झरता रहता है और ऊपर से नया पानी उडेला जा रहा है। इस अवस्था में पानी के झरने को निर्जरा की उपमा दी जा सकती है। यदि पानी उडेलना बंद कर दिया जाय और अन्दर का सारा पानी झर जाय—घडा बिलकुल खाली हो जाय, तो उसे मोक्ष की उपमा दी जा सकती है। मोक्ष अर्थात् आत्मा-रूपी घडे में से कर्म-रूपी पानी का सर्वथा झर जाना, यद्यपि यह लक्षण चौदहवें गुण-स्थानवर्त्ती में भी पाया जाता है, पर इसमें कोई दोष नहीं, क्योंकि चौदहवें गुणस्थान के चरम समय में ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, तभी कर्म का सर्वथा उच्छेद होता है। निर्जरा से आत्मा की आंशिक शुद्धि होती है, मोक्ष से सर्वथा विशुद्धि होती है। निर्जरा द्वारा आत्मा का उत्तरोत्तर विकास होता है और मोक्ष विकास की परिपूर्ण अवस्था है। निर्जरा कारण है, मोक्ष उसका कार्य है, अथवा निर्जरा की उत्तर या अन्त अवस्था मोक्ष है। निर्जरा सब गुणस्थान में होती है, मोक्ष चौद-हवें गुणस्थान के चरम समय में ही होता है। इस प्रकार कई तरह से निर्जरा और मोक्ष में भेद हैं॥ ६०॥

प्रशस्त और अप्रशस्त निर्जरा

भुक्ते विपाकेऽर्जितकर्मणां स्वतो,
यद्भ्रंशनं स्यात्तदकाम निर्जरा।

यन्मोचनं स्यात्तपसैव कर्मणा—
मुक्ता सकामा शुभलक्षणा च सा ॥ ६१ ॥

अर्थ—निर्जरा दो प्रकार की है—अकाम निर्जरा और सकाम निर्जरा। अकाम निर्जरा अप्रशस्त और सकाम निर्जरा प्रशस्त मानी गई है। उदय में आये हुए या उदीर्ण हुए सचित कर्मों की परवशता से, अज्ञान कष्ट से भुगतने के बाद जो निर्जरा होती है, वह अकाम निर्जरा है। ज्ञान, ध्यान, तप, संयम और परिषह आदि सहन करने से बिना ही विपाक के निर्जरा होना सकाम निर्जरा है ॥ ६१ ॥

विवेचन—निर्जरा का सामान्य स्वरूप और मोक्ष से उसका अन्तर बताकर इस काव्य में निर्जरा के भेद बताये हैं। निर्जरा के मुख्य दो प्रकार हैं। एक अकाम निर्जरा, दूसरी सकाम निर्जरा। यहाँ कामना का अर्थ फल की कामना नहीं लेना चाहिए। ऐसा अर्थ करने से सकाम निर्जरा की अपेक्षा अकाम निर्जरा अधिक प्रशस्त हो जायगी ; पर शास्त्र में इससे विपरीत माना गया है। शास्त्रकारों ने अकाम निर्जरा से सकाम निर्जरा को अधिक प्रशंसनीय कहा है, अतएव सकाम और अकाम शब्दों के अन्तर्गत कामना शब्द निर्जरा की करनी को लागू होता है ; अर्थात् कामना—स्वेच्छा से किये जाने वाले अनुष्ठान से होनेवाली निर्जरा सकाम निर्जरा और बिना इच्छा—परवश होकर कष्ट भोगने से या भूख-प्यास सहने से होनेवाली निर्जरा अकाम निर्जरा है। उदाहरणार्थ मान लीजिए किसी को पूर्वकालीन पुण्य के योग से इन्द्रिय-भोग की सब सामग्री प्राप्त हुई है, मनचाहा भोजन तैयार हो गया है, फिर

भी वैराग्यपूर्वक अपनी इच्छा से खान-पान की उन वस्तुओं को त्याग देने, उपवास, एकाशन या आयंबिल आदि तप करने से बहुत से कर्मों की निर्जरा होती है। यह निर्जरा कामना पूर्वक अनुष्ठान-जन्य होने से सकाम निर्जरा कही जा सकती है। इससे विपरीत किसी मनुष्य या पशु को खाने की उत्कट इच्छा होने पर पराधीनता से या अन्तराय के योग से, एक-दो दिन तक खाना-पीना न मिले, लंघन करनी पड़े, तो उस समय कष्ट भोगने के कारण कुछ कर्म भोगे जायँगे, इसलिए थोडी-सी निर्जरा होगी, पर वह निर्जरा अनिच्छा-पूर्वक हुई है, अत: अकाम निर्जरा है। स्वेच्छा से किया हुआ थोड़ा-सा धर्मकृत्य भी अधिक निर्जरा उत्पन्न करता है, किन्तु अनिच्छा से, पराधीनता से, जबर्दस्ती से, अधिक कष्ट भोगने पर भी थोड़ी निर्जरा होती है। अकाम और सकाम निर्जरा में यही भेद है। काव्य का 'स्वत' शब्द 'भुक्ते विपाके' इस वाक्य के साथ सम्बद्ध है, अतएव संचित कर्मों का स्वत:-प्रयत्न बिना सहज ही विपाकोदय होने पर भोगना और तदनन्तर डाली से टूटनेवाले पके फल की भाँति उनका खिर जाना वह प्राय: अकाम निर्जरा है। जप, तप, ज्ञान, ध्यान आदि कारणों से संचित कर्मों की उदीरणा करके उन्हें उदय में लाना और फिर उनका खिर जाना सकाम निर्जरा है। अकाम निर्जरा प्रत्येक जीव को प्रत्येक समय होती रहती है, सकाम निर्जरा धर्मात्मा जीवों में से किसी-किसी को प्रतिक्षण और किसी को कभी-कभी होती है। सकाम निर्जरा दातारी या साहूकारी से ऋण चुकाने के समान है तब अज्ञानी की अकाम निर्जरा कोर्ट के दबाव से

या जबर्दस्ती से धन-सम्पत्ति जब्त करके ऋण वसूल करने के समान है। दातारी से दो आने, चार आने चुकाने से राजी-खुशी कर्ज पट जाता है, जब कि जबर्दस्ती से नाराजी के साथ सर्वस्व लुट जाने पर भी कभी-कभी कर्ज बाकी रह जाता है और कारागार की हवा खानी पड़ती है। इन्द्रियों पर अंकुश रखने तथा भोगोपभोग को 'स्वेच्छा से त्यागने' से कर्म का कर्ज़ सरलता से पट जाता है। चुकौते के दूसरे प्रकार को अकाम निर्जरा कहें, तो अनुचित न होगा। अकाम निर्जरा की अपेक्षा सकाम निर्जरा का अधिक आदर करना, यही इस काव्य का उद्देश्य है ॥ ६१ ॥

अकाम निर्जरा

इच्छां विना यत्किल शीलपालन—
मज्ञानकष्टं नरके च ताडनम्।
तिर्यक्षु तृड्क्षुद्वधबन्धवेदन—
रेतैरकामा भवतीह निर्जरा ॥ ६२ ॥

अर्थ—इच्छा विना केवल लोक लाज से या लोगों के दबाव से ब्रह्मचर्य पाला जाय, सम्यग्ज्ञान और दर्शन विना मिथ्यात्व भाव में मासखमण आदि तप किया जाय, नरक में क्षेत्र जनित अथवा परमाधामियों द्वारा पहुँचाई हुई छेदन-भेदन-ताड़न आदि की पीड़ा भुगती जाय, तिर्यञ्च भव में भूख, प्यास, वध, बधन, ताडन आदि सहन किया जाय, तो इससे जो निर्जरा होती है, उसी को अकाम निर्जरा कहते हैं ॥ ६२ ॥

विवेचन—इस काव्य में अकाम निर्जरा के भेद बताये हैं। जो विधवा स्त्री सास-ससुर के दबाव से या लोक-लाज से ब्रह्मचर्य पालती है, भूमि-शयन और उपवास करती है, जो कैदी स्त्री आदि का योग न मिलने से ब्रह्मचर्य पालते हैं, भूख-प्यास सहते हैं, वह ब्रह्मचर्य या तप अकाम निर्जरा का कारण है, क्योंकि वह पालन करनेवाले की स्वतन्त्र इच्छा से नहीं पाला जाता, वरन बलात् पालना पड़ता है। यह अकाम निर्जरा का पहला प्रकार है। अपनी स्वतन्त्र इच्छा से, ज्ञान पूर्वक, मनोनिग्रह किया जाय तो महान् फल प्राप्त होता है; परन्तु बिना इच्छा अकाम निर्जरा से भी कुछ अशुभ कर्म कम हो जाते हैं और कुछ शुभ गति मिलती है। कहा भी है—

'जे इमे जीवा गामागरणगर निगम रायहाणी खेडकव्वड मडबदोणमुहपट्टणा समसंवाहसन्निवेसेसु अकामतण्हाए अकाम छुहाए अकाम बंभचेरवासेणं अकाम अण्हाणक सीयायवद समसगसे अजल्लमलपंकपरितावेणं अप्पतरो वा भुज्जतरो वा काल अप्पाणं परिकिलेसंति, परिकिलेसित्ता कालमासे काल किच्चा अन्नतरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु उववत्तारो भवंति.. दसवाससहस्साइं ठिई पन्नता..

—(सूत्र उव०)

अर्थ—ग्राम, नगर, पुर, पाटन आदि स्थानों के निवासी लोग अपनी इच्छा के विरुद्ध भूख-प्यास सहते हैं, ब्रह्मचर्य पालते हैं, गर्मी-सर्दी सहते हैं, डँस-मच्छर का परिताप भोगते हैं, मैल-पसीना आदि सहते हैं, थोड़े समय या बहुत समय तक इस क्लेश को सहकर काल

के समय कालधर्म पाकर वाण-व्यन्तर जाति के देवता में उत्पन्न होते हैं। वहाँ दस हजार वर्ष की आयु मिलती है। बिना इच्छा, परतन्त्र होकर क्लेश भोगने मात्र मन पर काबू रखने से मनुष्य देवगति पाता है। अकाम निर्जरा का भी इतना फल मिलता है, तो यदि स्वेच्छा से मन पर भली भाँति अंकुश रखकर सकाम निर्जरा की जाय, तो उसके फल में क्या कमी हो सकती है!

दूसरे प्रकार की निर्जरा अज्ञान-कष्ट से होती है। अर्थात् सम्यग्दर्शन से हीन तापस, बावा आदि पञ्चाग्नि ताप तपकर किसी वासना से या देखादेखी जो कष्ट सहन करते हैं, पेड से उलटे लटक जाते हैं, एक पैर पर खडे रहते हैं, सिर्फ दूध या कन्द पर रहते हैं, अनेक प्रकारों से कष्ट भोगते हैं, यह कष्ट यद्यपि इच्छा-पूर्वक भोगा जाता है तथपि वह वेसमझी से भोगा जाता है, अज्ञान तप है, अतएव उसकी गणना अकाम निर्जरा में ही है। ऐसे कष्टों से कुछ शुभ कर्मों का संचय होने से देवगति की प्राप्ति होती है सही, पर भवभ्रमण नहीं छूटता, संसार से मुक्ति नहीं मिल सकती। भवभ्रमण तो सकाम निर्जरा से ही छूट सकता है। कई बैलों पर बहुत ज्यादा बोझ लाद दिया जाता है। उन्हें खाने-पीने को पूरा नहीं मिलता। दुर्भिक्ष के अवसर पर घास-चारे की कमी के कारण भूखा-प्यासा रहना पड़ता है। खाने की इच्छा होने पर भी चुपचाप भूख-प्यास सहनी पडती है। यह भी अकाम निर्जरा है। मुमुक्षु जनों का कर्त्तव्य है कि वे अकाम निर्जरा के प्रसंग को सकाम निर्जरा के रूप में पलट देवें और सकाम निर्जरा करें ॥६२॥

निर्जरा के कारण भूत तप के भेद

बाह्यादिभेदेन तपोऽस्त्यनेकधा,
निष्काममेवात्र शुभं सदाशयम्।
कीर्त्यादिलोभेन तु यद्विधीयते,
प्रोक्तं सकामं किल मध्यमं तपः ॥६३॥

अर्थ—सकाम निर्जरा के कारण रूप तप के दो भेद हैं—बाह्य तथा आभ्यन्तर। प्रत्येक के छः-छः भेद और हैं। अनशन, ऊनोदर, वृत्तिसत्तेप, रसपरित्याग, कायक्लेश और पडिसलेहणा, ये छः भेद बाह्य तप के हैं। आन्तरिक तप के छः भेद यह हैं—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग। इन बारह तपों में से जो तप निर्जरा के उद्देश्य से, इह-परलोक सम्बन्धी कोई भी आकांक्षा न करते हुए निष्काम भाव से किया जाता है, वही उत्तम तप कहलाता है। जो तप यश, कीर्त्ति, प्रतिष्ठा, सन्मान, द्रव्य या स्वर्ग के सुख की लालसा से किया जाता है, वह सकाम तप हीन कोटि का है॥६३॥

विवेचन—सकाम निर्जरा का मुख्य कारण तप है। जैसे अग्नि ईंधन को जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार तपस्या कर्म-रूपी ईंधन को भस्म कर आत्मा को शुद्ध कर देती है। जैसे सोने को विशुद्ध करने के लिए, उसका मैल हटाने के लिए भट्टी में डालना पड़ता है, उसी प्रकार कर्म-मल को जलाने के लिए आत्मा को तपस्या की भट्टी में गिरना चाहिए। ठीक ही कहा है—

कान्तारं न यथेतरो ज्वलयितुं दक्षो दावाग्निं विना,
दावाग्निं न यथेतरः शमयितुं शक्तो विनाम्भोधरम्।
निष्णातं पवनं विना निरसितुं नान्यो यथाऽम्भोधरम्,
कर्मौघं तपसा विना किमपरं हन्तुं समर्थं तथा॥

अर्थ—घनी झाड़ीवाले जंगल को दावानल के अतिरिक्त और कोई हथियार साफ नहीं कर सकता, चारों ओर फैले हुए दावानल को वर्षा के सिवा और किसी उपाय से शान्त नहीं कर सकते, वर्षा यदि इतनी अधिक हो कि गाँव-के-गाँव बहने की संभावना हो जाय और बादलों को बिखेरने की आवश्यकता पड़े, तो हवा के सिवा और कोई उपाय नहीं है; इसी प्रकार कर्म के समूह को छिन्न-भिन्न करने या बिखेरने के लिए तपस्या के अतिरिक्त अन्य उत्तम साधन क्या है? साधारण लोग तप का अर्थ जंगल में जाकर उपवास ठान लेना या आतापना लेना ही समझते हैं; मगर वास्तव में तप का इतना संकुचित अर्थ नहीं है। उसका अर्थ बहुत विशाल है। तप केवल कायिक ही नहीं, वाचनिक और मानसिक भी है। जैन-शास्त्रों में उसके भेद कहे गये हैं—बाह्य और आन्तरिक। जिसमें खान-पान आदि भोगों को संकुचित किया जाता है और इस प्रकार शारीरिक निग्रह होता है वह बाह्य तप है और जिससे पुरुष आत्मा की ओर उन्मुख होता है, मन और वचन का निग्रह करता है वह आभ्यन्तर तप है। दोनों के छः-छः भेद होने से कुल बारह तप हैं।

तप के १२ भेद

(बाह्य तप)

(१) अनशन—एक दो दिन के लिए या सदा के लिए खान-पान त्याग देना अनशन तप है—उपवास या संथारा।

(२) ऊनोदरी—अपनी सदा की खुराक में से कुछ कम खाना ऊनोदर तप है। वह दो प्रकार से होता है—द्रव्य और भाव से। खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने के द्रव्य में न्यूनता करना द्रव्य-ऊनोदरी है और क्रोध, मान, माया, लाभ आदि कषायों को कम करना भाव-ऊनोदरी है।

(३) वृत्ति संक्षेप—इन्द्रिय और मन की वृत्तियों को संक्षिप्त करना, या अभिग्रह धारण करना।

(४) रस परित्याग—घी, दूध, दही, शक्कर, खाँड़, गुड आदि रसों में से किसी रस का त्याग करना, अरस नीरस आहार लेना, आयंबिल आदि तप करना।

(५) कायक्लेश—दंडासन, लकुटासन, उत्कुटुकासन, वीरासन आदि आसनों से अमुक समय तक स्थिर रहना।

(६) पडिसंलहणा—इन्द्रियों और मन का निग्रह करना, कषायों को रोकना या निष्फल करना, अशुभ मन-वचन-काय की प्रवृत्ति रोकना, एकान्त शान्त स्थान में निवास करना।

(आभ्यन्तर तप)

(१) प्रायश्चित्त—अपने चारित्र्य की त्रुटियाँ ढूँढकर गुरु के

सामने प्रकाशित कर उनके लिए प्रश्चात्ताप करना या दण्ड के स्वरूप में गुरुजी जो तप बतावें वह करना ।

(२) विनय—देव, गुरु और धर्म की भक्ति करना, सत्कार करना, तन, मन और सच्ची लगन से उनकी सेवा करना ।

(३) वैयावृत्त्य—आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, ग्लान, तपस्वी, स्थविर, साधर्मी, कुल गण तथा संघ की स्वय सेवा करना ।

(४) स्वाध्याय—धर्मशास्त्र का वाचन करना, उसमें से प्रश्नादिक पूछना, धर्म-चर्चा करना, मनन करना और दूसरों को उसका उपदेश देना ।

(५) ध्यान—आर्त्त रौद्र ध्यान का त्याग करके धर्म और शुक्ल ध्यान धारण करना ।

(६) व्युतसर्ग—काउस्सग्ग—मन-वचन-काय की चपलता या प्रवृत्ति को रोककर तीनों को निवृत्त करना ।

उल्लिखित बारह तपों में धर्म के प्रायः सभी अंगों का समावेश हो जाता है। बाह्य और आभ्यन्तरिक, मानसिक, वाचिक और कायिक तप करना ही कर्मनिर्जरा का तथा आत्मा को स्वच्छ करने का सच्चा मार्ग है। तप में किसी प्रकार की कामना को स्थान न देना चाहिए। 'निष्काममेवात्र शुभं' अर्थात्—'नो इह लोगट्ठयाए नो परलोगट्ठयाए नो कित्तिवन्नसद्दसिलोगट्ठयाए नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए ।''

—(दश० अ० ६, उ० ४)

'इस लोक के सुखों की इच्छा से नहीं, परलोक की सुखों की इच्छा

से नहीं, इह—पर—दोनों लोकों के सुखों की इच्छा से नहीं, कीर्त्ति, महत्ता या प्रशंसा की लालसा से नहीं ; किन्तु केवल कर्म की निर्जरा के लिए तप करना चाहिए, अतएव निष्काम तप ही उत्तम तप है। धन, कीर्त्ति या अन्य किसी वस्तु के लोभ से तप करना मध्यम या कनिष्ट है। भव्य जीवों को सकाम निर्जरा के लिए निष्काम शुभ तप आदरना चाहिए। फल की आशा न रखते हुए उल्लिखित रीति से तप करना ही भव्य जीवों का कर्त्तव्य है ॥ ६३ ॥

निर्जरा के कारण

निःस्वार्थबुद्धयाऽभयदानमङ्गिनाम्,
पात्रे तथा देह्युचितं सुभावतः ।
अन्तर्विशुद्धयाश्रय भावनागिरिं,
चेदिच्छसि त्वं कटुकर्मनिर्जराम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—हे भद्र ! यदि तू कटुक फल देनेवाले तीव्र कर्मों की निर्जरा करना चाहता है, तो भयभीत प्राणियों को निस्स्वार्थ भाव से अभयदान दे तथा उच्च भाव से सुपात्र को उचित वस्तु का दान दे। अन्तःकरण की शुद्धि करते-करते भावना रूप पर्वत पर चढकर उसे सर्वोच्च शिखर पर जा पहुँचा ॥६४॥

विवेचन—जैसे तप से निर्जरा होती है, उसी प्रकार दान और भावना से भी बहुत से कर्मों की निर्जरा होती है। इस काव्य में निर्जरा के तीन कारण बताये हैं—अभयदान, सुपात्रदान और शुभ भावना।

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं ॥ (—सूयगडांग, अ० ६,)

अर्थात्—सब दानों में अभयदान श्रेष्ट है। अभय अर्थात् किसी को भी भय से मुक्त करना। सात प्रकार के भयों में मृत्यु का भय सबसे अधिक खराब है। मृत्यु के भय में पड़े हुए प्राणी को जीवनदान देने, उसे भय से मुक्त करने से उसे जो आनन्द होता है वह आनन्द अन्य किसी भी पदार्थ से नहीं हो सकता। सूयगडाग सूत्र की टीका में अभय-दान की श्रेष्ठता पर एक चोर का दृष्टान्त दिया है ।

दृष्टान्त—वध स्थान पर ले जाये जाते हुए एक चोर को देखकर रानियों ने राजा से उसके मृत्युदड का कारण पूछा। एक राजपुरुष ने उसका स्पष्टीकरण किया, तब चार रानियों में से एक रानी ने चोर को एक दिन के लिए बचाने की प्रार्थना की। राजा ने एक दिन की छूट दे दी। रानी ने उस चोर को स्नान करवाया, बढ़िया वस्त्र पहिनाये, भोजन कराया और एक हजार सोने की मुहरें बख्शिश कीं। उसकी स्पर्द्धा से दूसरी रानी ने दूसरे दिन बचाने की प्रार्थना की। राजा ने उसे भी स्वीकार कर लिया। उस रानी ने पहली रानी के समान सत्कार करने के अतिरिक्त एक लाख मुहरें बख्शिश कीं। इसी प्रकार तीसरी रानी ने एक दिन की मोहलत माँग ली और एक करोड़ मुहरें बख्शिश कीं। चौथी रानी ने सोचा—एक दिन की माँग करने से क्या होगा? एक समय दिया हुआ राजा का वचन मेरे पास है, उसके बदले में इस चोर को वध से सदा के लिए मुक्त करूँ। ऐसा निश्चय करके रानी ने उसे बचाने की माँग की, और कहा—यदि आपको अपना वचन पालना

है, तो चोर की सजा वापस ले लीजिए। राजा ने स्वीकार कर लिया। अन्त में उसे भोजन कराकर बिना कुछ दिये ही रानी उसे विदा करने लगी, तो दूसरी रानियों ने उसे ताना मारा—हम लोगों ने इतनी-इतनी बख्शिश दी, इससे कुछ भी देते न बन पड़ा! चौथी रानी बोली—मैंने सबसे बड़ी बख्शिश दी है। इसका इंसाफ कराना हो तो इस चोर से ही करा लो। चोर से पूछा गया। वह कहने लगा—आप लोगों की हजार या करोड़ मुहरों की बख्शिश से आज की, जीवन की यह बख्शिश बहुत ऊँची है। क्योंकि—

दीयते म्रियमाणस्य, कोटिं जीवितमेव च।
धनकोटिं न गृह्णीयात्, सर्वो जीवितुमिच्छति॥

अर्थात्—मरते हुए मनुष्य को एक आदमी एक करोड़ सोने की मोहरें दे, अथवा जीवन-दान दे, दोनों में से एक को चुनने को कहे, तो वह मनुष्य मोहरें नहीं लेगा, जीवन-दान ही स्वीकार करेगा; क्योंकि प्रत्येक प्राणी जीवित रहना चाहता है।

मेघकुमार ने हाथी के भव में एक खरगोश को जीवन-दान दिया, इसके प्रभाव से वह तिर्यञ्च योनि में से निकलकर मनुष्य हुआ और वह भी राजकुमार! मेघरथ राजा ने एक कबूतर को अभयदान दिया, इससे उन्होंने तीर्थङ्कर नाम कर्म उपार्जन किया और सोलहवें तीर्थङ्कर शान्तिनाथ हुए। अभयदान की भाँति सुपात्र-दान से भी बहुत से जीवों ने अशुभ कर्म की निर्जरा करके तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन किया है। भगवती के पद्रहवें शतक में रेवती गाथापत्नी ने सिंह अनगार को उत्कृष्ट

भाव से बिजौरा-पाक दिया था। इससे उसका संसार परीत हो गया और तीर्थंकर गोत्र उपार्जित हुआ। विपाक-सूत्र में लिखा है कि सुमुख गाथापति ने चढते भाव से तथारूप साधु को दान दिया, इस कारण संसार परीत किया। ऐसे अनेक दृष्टान्त आगमों और शास्त्रों में पाये जाते हैं। स्वार्थ बुद्धि से अभयदान दिया जाय या चढ़ते भाव बिना सुपात्र-दान दिया जाय, तो उसका फल अधिक नहीं होता, निर्जरा भी उससे अधिक नहीं होती; इसीलिए काव्य में 'निःस्वार्थ बुद्ध्या' 'सुभावतः' ये दो हेतुवाचक शब्द डाले गये हैं। परमार्थ-बुद्धि और चढते भाव से—सच्ची लगन से जो दान दिया जाता है, उसी से कर्म का ध्वंश होता है।

मृत्यु-भय के समान आजीविका पूरी न होना भी एक भय है। आजीविका के भय से दुखी होनेवाले योग्य पुरुषों को सहायता देकर उस भय से मुक्त करना भी अभयदान का एक प्रकार है। साधु जैसे सुपात्र गिने जाते हैं, उसी प्रकार अच्छी-अच्छी ज्ञान का प्रचार करने वाली संस्थाओं को भी सुपात्र गिन सकते हैं। 'पापात् त्रायत इति पात्र' अर्थात्—जो पाप से बचावे सो पात्र, इस अर्थ के अनुसार संस्थाएँ समाज को पाप से बचा सकती हैं, अतः उन्हें भी पात्र कह सकते हैं। उन संस्थाओं में तन, मन और धन से सहायता करना भी सुपात्र-दान में एक उत्तम श्रेणी है।

व्याजे स्याद् द्विगुणं वित्तं,व्यवसाये चतुर्गुणम्।
क्षेत्रे शतगुणं प्रोक्तं, पात्रेऽनन्तगुणं भवेत् ॥

अर्थात्—व्याज पर रखने से अधिक-से-अधिक दुगुना लाभ होता है, व्यापार में बहुत हुआ तो चौगुना लाभ हो सकता है, जमीन में बोने से बहुत-से-बहुत सौगुना लाभ होता है, किन्तु पात्र में अर्पित की हुई वस्तु का अनन्त गुना लाभ होता है।

निर्जरा का तीसरा कारण अन्तःकरण को शुद्ध करके शुभ भावना भरकर अध्यवसाय के उच्च शिखर पर चढना बतलाया गया है। भावना और शुभ अध्यवसाय का बल भी इतना अधिक है कि थोडे से समय में ही उनमे बहुत से कर्म गल जाते हैं। मरुदेवी माता और भरत चक्रवर्ती के दृष्टान्त सुविदित हैं। मरुदेवी भावना के बल से केवल ज्ञान पाकर मोक्ष में विराजीं। भरत महाराज को अरिसा भवन में अपनी छवि देखते-देखते एक अँगुली बिना अँगूठी खाली शोभा-हीन प्रतीत हुई। इस पर उन्होंने दूसरी अँगुली में से भी अँगूठी उतारी, इस प्रकार एक के बाद एक करके सभी आभूषण उतार डाले और उनसे ममता भी हटती गई। अन्त में समस्त पौद्गलिक रचना की अस्थिरता—अनित्यता देखकर विचार करते-करते शुभ भावना की श्रेणी पर आरूढ हुए और केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। इस तरह उन्होंने सिर्फ शुभ भावना के बल से सिद्धि प्राप्त की। यह भावना केवल वाचनिक हो या नीरस हो, तो प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसीलिए इसमें अन्तःकरण की विशुद्धता दिखलाई है। अन्तःकरण जितना ही सरल, निष्कपट और विशुद्ध होगा, उतनी ही अधिक उच्च भावनाएँ उत्पन्न होंगी। मलिन अन्तःकरण में सुन्दर भावना कदापि नहीं उठ सकती, अतएव अन्तः-

करण को निर्मल बनाकर भावना के रस को उत्पन्न होने का अवसर देना चाहिए। ऊपर के तीन कारण यद्यपि तप के वैयावृत्य और ध्यान तप में गर्भित हो जाते हैं फिर भी उनकी अधिक आवश्यकता बताने के लिए उनका अलहदा वर्णन किया है ॥ ६४ ॥

ज्ञान ही निर्जरा का मुख्य कारण है

अज्ञान कष्टाश्रित तापसाद्यो,
यत्कर्म निघ्नन्ति हि वर्ष कोटिभिः।
ज्ञानी क्षणेनैव निहन्ति तद्द्रुतं,
ज्ञानं ततो निर्ज्जरणार्थमर्जय ॥६५॥

अर्थ—अज्ञान-कष्ट सहने वाले बाल तपस्वी करोड़ों वर्ष मासखमण करे, सूर्य की आतापना लें, कुश की नोक पर ठहर सके उतने अनाज का पारणा करके फिर मासखमण करे, तो उनकी इस प्रकार की करोड़ों वर्षों की तपस्या से जितने कर्म खपते हैं, उतने कर्म ज्ञानी पुरुष ज्ञान के बल से क्षण भर में खपा डालता है। 'कोटि जन्म तप तपें ज्ञान बिन कर्म झरे जे, ज्ञानी के क्षण में त्रिगुप्ति तें सहज टरें ते।' ऐसा शास्त्र में स्पष्ट कहा है। इसलिए हे भद्र! कर्मों को धोने वाले उत्तम जल के समान ज्ञान—सम्यग्ज्ञान की खोज करो, उसका संचय करो, जिससे कर्मों की सर्वथा निर्जरा होने पर मोक्ष पद-प्राप्त हो सके ॥६५॥

विवेचन—इस काव्य में अज्ञान-तप की अपेक्षा ज्ञान की विशेषता बतलाई गई है।

जं अन्नाणी कम्मं खवेइ, वहुयाहिं वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ उसासमेत्तेणं ॥

अर्थात्—अज्ञानी जिन कर्मों को करोड़ों वर्षों में भी नहीं खपा सकता, ज्ञानी उन्हें तीन गुप्ति (मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति) के बल से एक श्वासोच्छ्वास जितने समय में खपा सकता है।

मासे मासे उ जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजइ।
न सो सुयक्खाय धम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥

—(उत्त० अ० ९, गाथा ४४)

अर्थात्—बाल—अज्ञानी जीव मास-मासखमण का व्रत करके, दूब की नोक पर समा जाये, इतने अनाज से पारणा करे और फिर मासखमण करे, तो भी वह मनुष्य शास्त्रसमत सम्यग्ज्ञान युक्त धर्म की सोलहवीं कला—अंश की बराबरी नहीं कर सकता। उपदेशमाला में धर्मदास गणि ने कहा है—

सिज्झंति चरणरहिया दंसणरहिया न सिज्झंति।,

अर्थात्—चारित्र्य से भ्रष्ट होनेवाला सिद्ध हो सकता है, पर दर्शन सम्यक्त्व से भ्रष्ट मनुष्य सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता।

दर्शन और ज्ञान सहचारी हैं, अतः जो दर्शन से भ्रष्ट होगा, वह ज्ञान से भी भ्रष्ट हो जायगा। ऊपर के तमाम पद्यों में ज्ञान की विशेषता बतलाई है। अज्ञान, क्रिया का एक कलंक या विष है। तामलि तापस का वृत्तान्त भगवती सूत्र में सुविदित है। उसने ६० हजार वर्ष तक तप किया, छठ-छठ के पारणे किये, सूर्य की आतापना ली, पर यह सब अज्ञान दशा में किया। फल-स्वरूप देवगति में ईशानेन्द्र की पदवी मिली।

इतनी क्रिया यदि ज्ञान भाव में की होती, तो इतने से सात जीव मोक्ष पा लेते। ऐसा उपदेश माला में कहा है।

धन्ना अनगार ने ज्ञानपूर्वक करनी की, तो सिर्फ नौ महीने में सर्वार्थ-सिद्ध विमान प्राप्त किया। अर्जुन माली ने छः महीने में ही कर्म खपाकर सिद्धि सम्पादन कर ली। अतः जो करना हो, समझकर करो। अंधी दौड़ से शायद ही साध्य सिद्धि हो। अन्धी दौड़ का साधारण परिणाम गड्ढे में गिरना या उल्टी दिशा में चला जाना होता है। अन्धश्रद्धा भी कभी-कभी अज्ञान का ही परिणाम लाती है। यथार्थ ज्ञान को ही सम्यग्-ज्ञान कहते हैं। यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रत्येक प्राणी को प्रयत्न करना चाहिए। सद्गुरु का संयोग मिलाना चाहिए। सद्गुरु और सत्-शास्त्र के बिना बहुधा सम्यग्ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। स्वतः ज्ञान का प्रकाश तो कभी-कभी ही होता है। यह आकस्मिक योग अपवाद रूप है, अत. ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रयत्न की आवश्यकता है। इसीलिए कहा गया है—ज्ञान ततो निर्जरणार्थमर्जय।' अर्थात्, निर्जरा के लिए ज्ञान का उपार्जन करो। धन उपार्जन के लिए जितनी चिन्ता रखते हो, उससे भी अधिक चिन्ता ज्ञान-प्राप्ति के लिए करनी चाहिए ॥ ६५ ॥

ज्ञान और क्रिया से मोक्ष

रेऽनन्तजन्मार्जित कर्म वर्गणा—
स्त्वं चेन्निराकर्तुमपेक्षसे तमाम्।

ज्ञानेन साधंञ्च तपस्तदाऽऽचर,
धाहर्विनापो न हि वस्त्र शुद्धिकृत् ॥ ६६ ॥

अर्थ—यदि तुम अनन्त भवों में संचित कर्म-वर्गणाओं को एकदम दूर करने की उत्कट इच्छा रखते हो, तो ज्ञान के साथ तप-क्रिया करो। ज्ञान रहित तप जैसे कार्यकारी नहीं होता, उसी प्रकार तप-क्रिया रहित ज्ञान भी कार्यकारी नहीं होता। धोबी एक वस्त्र धोता है, तो उसे अग्नि और पानी दोनों की आवश्यकता होती है, अकेली अग्नि कपड़े को जला डालती है और अकेला पानी सूक्ष्म मैल को गला नहीं सकता। इसीलिए धोबी पानी में कपडा रखकर नीचे आग जलाकर वस्त्र को शुद्ध करता है। इसी तरह ज्ञान पानी के समान और तप अग्नि के समान है। आत्मा के स्वरूप को शुद्ध करने के लिए दोनों की जरूरत होती है, इसीलिए कहा है—ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्ष'।'

विवेचन—ऊपर के काव्य में ज्ञान सहित क्रिया का समर्थन किया है। उदीरणा द्वारा उदय में लाकर या स्वत. उदय में आये हुए कर्म की निर्जरा करने के लिए और फिर निर्जरा का प्रसग ही न आवे—नये कर्मों का सग्रह न हो, इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए दो चीजों की आवश्यकता है—ज्ञान और क्रिया की। जो लोग ज्ञान को अनावश्यक समझकर केवल क्रिया को ही साधन मानते हैं, अज्ञान पूर्वक मासखमण करते हैं, पचाग्नि-तप तपते हैं, सूर्य की आतापना लेते हैं, उनकी क्रिया वास्तविक फल नहीं प्रदान कर सकती। यह बताने के लिए पहले काव्य में ज्ञान की महत्ता बताई है। 'पढम नाण तओ दया' (दश०अ०४ था)

प्रथम ज्ञान और फिर दया—क्रिया। ज्ञान मार्ग बतलाता है तब क्रिया रास्ता तय करती है। ज्ञान-हीन क्रिया तेली के बैल की क्रिया के समान है। आँखों पर पट्टी बाँधकर तेली उसे दिन-भर चलाता है; परन्तु मार्ग जरा भी नहीं कटता, साँझ होने पर पट्टी खुलती है, तो वही की वही घानी और वही की वही जगह बेचारा देखता है। क्रिया-हीन ज्ञान भी यथेष्ठ फलदायक नहीं होता।

जहा खरो चन्दण भारवाही, भारस्स भागी न हु चन्दणस्स।
एवं खु णाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी न हु सुग्गईए॥

अर्थात्—जैसे गधा पीठ पर लदी हुई चदन की लकड़ियों को ढोता है; पर उसे चदन की सुगन्ध का भान नहीं होता। उसके लिए बबूल और चन्दन की लकडियाँ एक-सी हैं; अर्थात् चन्दन की लकड़ियाँ उसके लिए केवल भार-भूत ही हैं। उसी प्रकार चारित्र्य-गुण से रहित ज्ञानी-शास्त्रवेत्ता फोनोग्राफ के प्लेट की तरह शास्त्रों के अर्थ अपने मस्तिष्क में भरता है, उसका कुछ भी उपयोग अपने लिए नहीं करता।

'शक्कर-शक्कर' चिल्लाने से मुँह में शक्कर की मिठास नहीं आ सकती, मिठास के लिए शक्कर खाने की आवश्यकता है। औषध के गुण जान लेने मात्र से वह लाभ नहीं पहुँचा सकती। रोग का नाश उसका सेवन करने से होता है। ठीक इसी प्रकार ज्ञान को वर्त्तन-प्रवृत्ति क्रिया का रूप देने से ही वह लाभकारक होता है, ज्ञान का सच्चा उपयोग करना—सदाचार में ही है। ज्ञान-हीन क्रिया अन्धी है, तो क्रिया-हीन ज्ञान लँगड़ा है। अन्धे को जैसे लँगड़े की सहायता की आवश्य-

कता होता है, वैसे ही लँगड़े को अन्धे की आवश्यकता होती है।

संजोग सिद्धा सफलं वयंति, न हु एकक चक्केण रहो पयाइ।
अन्धा य पंगू य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरे पविट्ठा॥

अर्थात्—एक पहिये से रथ नहीं चल सकता, दोनों पहियों के संयोग से ही चलता है और लक्ष्य तक पहुँच सकता है। अन्धा और लँगड़ा सम्मिलित होकर वन से चले, तो नगर में जा पहुँचे।

दृष्टान्त—एक जंगल में किसी पेड़ के नीचे एक लँगड़ा बैठा था। वहीं एक अंधा ठोकरें खाता हुआ, रास्ता न मिलने से इधर-उधर भटक रहा था। इसी बीच जंगल में दावानल सुलग उठी। लँगड़े ने अंधे को बुलाकर सावचेत कर दिया। कहा—'भाई! दावानल एकदम नज़दीक आ पहुँचा है। इसी दम यहाँ से भाग चलना चाहिए!' अन्धे ने उत्तर दिया, मुझमें चलने की शक्ति है, पर अफसोस यह है कि मुझे मार्ग नहीं सूझता।' लँगड़े ने कहा—'मित्र! तेरे पैरों में शक्ति है और मेरी आँखों में देखने की शक्ति है, पर पैर बेकार हैं। रास्ता सूझता है; पर चलने की शक्ति नहीं है। तुम मुझे सहायता दो, मैं तुम्हें सहायता दूँ। एक दूसरे की सहायता से हम दोनों सुरक्षित जगह पहुँच सकेंगे।' अंधे ने कहा—'ठीक है, मैं तुम्हें अपने कंधे पर बिठलाता हूँ और तुम मुझे रास्ता बताते चलो। तुम्हारी सहायता से मैं रास्ता ढूँढ़ सकूँगा और मेरी सहायता से तुम रास्ता काट सकोगे।' इस प्रकार दोनों संगठित होकर एक दूसरे की सहायता से जंगल से बाहर नगर में जा पहुँचे।

इसी प्रकार अंधे और लँगडे का एक और जोड़ा जंगल में मिल गया, पर वे दोनों आपस में झगडने लगे। एक ने दूसरे की सहायता न की। इतने में अग्नि चारों ओर सुलग उठी और परिणाम-स्वरूप दोनों का वहीं स्वाहा हो गया। इसके लिए विशेषावश्यक में कहा है—

हय नाण क्रिया हीणं, हया अन्नाणओ किया।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो य अन्धलो ॥

अर्थात्—लँगडा देख रहा था और अंधा इधर-उधर भाग रहा था, परन्तु एक ने दूसरे की सहायता नहीं की। दोनों अलग-अलग हो गये जो जल मरे। इसी प्रकार क्रिया और ज्ञान यदि सम्मिलित न हों अर्थात् क्रिया हो, पर ज्ञान न हो अथवा ज्ञान हो, पर क्रिया न हो, तो वे दोनों नष्टप्राय हैं—मुर्दा हैं। यद्यपि चौथे गुणस्थान में क्रिया-हीन ज्ञान है और वह कुछ सीमा तक लाभकारी भी है; पर यहाँ इतने लाभ की अपेक्षा नहीं है। ज्ञान और क्रिया मिलकर जितना लाभ पहुँचाते हैं, उतना लाभ अकेला के ज्ञान नहीं पहुँचा सकता। यहाँ यही बतलाने का आशय है। पहले के काव्य में ज्ञान की श्रेष्ठता बतलाई है और इस काव्य में ज्ञान तथा क्रिया की समता—तुलना बतलाई है। यह कथन सापेक्ष है, विरोधी नहीं समझना चाहिए। पहले काव्य में अज्ञान सहित क्रिया की अपेक्षा अकेले ज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादन की गई है। इसमें ज्ञान सहित क्रिया की ही श्रेष्ठता प्रदर्शित की है। यह दोनों कथन परस्पर अविरोधी हैं। जो लोग अकेले ज्ञान को ही मोक्ष का साधन मानते हैं, उसका स्पष्टीकरण भी इस काव्य में कर दिया

गया है कि एक से नहीं, किन्तु दोनों की सहचरता से ही मुक्ति मिलती है। कर्मों की निर्जरा करके आत्म-शुद्धि चाहने वाले को पहले शास्त्रीय-ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ज्ञान प्राप्त करके हिताहित, कर्त्तव्याकर्त्तव्य, सत्यासत्य, लाभालाभ आदि द्वन्द्वों का यथार्थ पृथक्करण करके, अहित, अकर्त्तव्य, असत्य और लाभहीन वस्तु का त्याग करके, हित-कर्त्तव्य और लाभवाली सत्य वस्तु का आदर करना चाहिए, सन्मार्ग पर चलना चाहिए, सदनुष्ठान करना चाहिए, परोपकार परायण बनना चाहिए, जिससे कर्म-निर्जरा होने के साथ ही आत्म-शुद्धि हो जाय। ज्ञान, जल है और तप या चरित्र अग्नि है। इन दोनों का मेल जैसे वस्त्र के मैल को, उसकी चिकनाई को अलग कर वस्त्र को विशुद्ध कर देता है, उसी प्रकार ज्ञान तथा क्रिया का योग आत्मा के कर्म-रूपी मैल को नष्ट कर देता है। अतएव निर्जरा भावना में आत्मशुद्धि के लिए 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः' इस अटल सिद्धान्त को कदापि न भूलना चाहिए॥ ६६॥

(१०) लोक-भावना

---०:०:०---

[निर्जरा आदि क्रियाएँ लोक में ही होती हैं, सबका आधार है; अतएव निर्जरा-भावना के बाद लोक-भावना का स्वरूप बतलाया जाता है।]

लोक-भावना

धर्माधर्मौ पुद्गल आत्मकाला,
एतद्द्रव्याभिन्नरूपो हि लोकः ।
तत्राकाशं सर्वतः स्थाप्यनन्त-
मेतन्मध्ये विद्यते लोक एषः ॥६७॥

अर्थ—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल, इन छः द्रव्यों—पदार्थों के समुदाय को ही लोक कहते हैं। लोक का ऐसा कोई भी भाग नहीं है, जहाँ इन छः द्रव्यों में से कोई द्रव्य न हो। उक्त छः द्रव्य आकाश के जिस भाग में व्याप्त हैं, उस भाग की 'लोक' संज्ञा है। उक्त पदार्थों—द्रव्यों में से आकाशास्तिकाय सर्वत्र व्यापक है, जब कि अन्य पदार्थ उसके व्याप्य हैं; अर्थात् आकाश शेष पाँच द्रव्यों के साथ भी रहता है और उनसे बाहर भी रहता है। यह अनन्त है, कोई उसका अन्त नहीं ले सकता।

आकाशास्तिकाय के मध्य छः द्रव्यों का समुदाय-रूप लोक-तत्व विद्यमान है ॥६७॥

विवेचन—जैसे वन शब्द भिन्न-भिन्न प्रकार के पेड़ों के समूह का वाचक है; अर्थात्—विविध झाड़ों के समुदाय को ही वन कहते हैं। वृक्ष समुदाय के अतिरिक्त वन कोई जुदी वस्तु नहीं है, उसी प्रकार लोक शब्द भी धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों के समूह का वाचक है। छः द्रव्यों का समूह ही लोक है। छः द्रव्यों के समूह के अतिरिक्त लोक कोई जुदी चीज़ नहीं। अथवा जिस पृथ्वी पर वृक्षों का समुदाय होता है, उस पृथ्वी को वन कहते हैं। इसी प्रकार जिस आकाश के हिस्से में धर्मास्तिकाय आदि छः द्रव्यों का समूह है, वह विभाग लोक कहलाता है। आकाश छः द्रव्यों में से एक द्रव्य है। जैनशास्त्रों में कुल छः द्रव्य-तत्व हैं। जगत् में इन छः के सिवाय सातवाँ द्रव्य नहीं है। पहला द्रव्य धर्मास्तिकाय है। जैसे पृथ्वी के ऊपर वातावरण में हवा भरी है, समुद्र में पानी भरा है, इसी प्रकार लोक के सब भागों में धर्मास्तिकाय नामक पदार्थ भरा हुआ है। हवा और पानी वर्ण, रस, गंध और स्पर्श वाले हैं, इस कारण वे आँखों से दिखाई देते हैं, उनका स्पर्श होता है; मगर धर्मास्तिकाय में रूप, स्पर्श, गन्ध या रस नहीं है, इस कारण वह आँखों से नहीं दिखता, स्पर्श भी नहीं हो सकता, वह इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है। वह लक्षण गम्य है या अतीतदर्शी, केवल ज्ञानी द्वारा प्रत्यक्ष ग्राह्य है, गति करने के स्वभाव वाले जीव और पुद्गलों की गति में धर्मास्तिकाय सहायता करता है। जैसे मछली में गमन करने की शक्ति

अणुओं के बीच अन्तर मौजूद है, शक्कर या नमक के अणु पानी के अणुओं से भी सूक्ष्म बनकर उस अन्तर में—अवकाश में—समा गये।

चौथा द्रव्य काल है। वह दो प्रकार का है। एक क्रिया रूप, दूसरा वर्त्तन रूप। सूर्य की गति—क्रिया से होने वाला क्षण, आवलिका, घड़ी, प्रहर, दिन, अहोरात्रि, पक्ष, मास, वर्ष, युग आदि समय रूप पहला काल सिर्फ अढाई द्वीप—मनुष्यक्षेत्र में ही होता है। दूसरा वर्तन-रूप काल लोक के सब पदार्थों पर वर्त्तता है। पुराना नया और नया पुराना हो जाता है। और इस प्रकार पर्यायों में जो परिवर्त्तन होता है वह इस वर्तन-रूप काल से ही होता है। यह भी वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श से रहित सिर्फ लक्षणगम्य पदार्थ है। पाँचवाँ द्रव्य पुद्गलास्तिकाय है। सिर्फ इसी द्रव्य में रूप, रस, गध और स्पर्श पाया जाता है। जगत् में जो भी वस्तु हमें दृष्टिगोचर होती है, सूँघी जाती है, चखी जाती है, छुई जाती है, आकृतिमान है, वह सब पुद्गल ही है। बिखरे हुए परमाणुओं का समुदित हो जाना और फिर बिखर जाना पुद्गल का धर्म है, स्वभाव है। लोक में पुद्गल न होते, तो विभिन्न आकृतियाँ, विविध दृश्य, तरह-तरह के रस, भाँति-भाँति की गध, शब्द, प्रकाश आदि, जिनका हम इन्द्रियों से अनुभव करते हैं कदापि न कर सकते। खान-पान, विचार, भाषा, श्वासोच्छ्वास आदि सब पुद्गल की ही लीलाएँ हैं। जीव को लगनेवाले कर्म भी पुद्गल ही हैं। ससार के समस्त प्राणियों के समस्त शरीर भी पुद्गल ही है। पुद्गल दो प्रकार के हैं—परमाणु और स्कन्ध। दो से अधिक परमाणुओं के योग से बनी हुई वस्तु

पुद्गल का स्कन्ध कहलाती है और अलग-अलग परमाणु पुद्गल के परमाणु कहलाते हैं। पुद्गल के सिवाय और किसी द्रव्य के परमाणु नहीं होते।

छठा द्रव्य जीव—आत्मा है। आत्मा का लक्षण चेतना—चैतन्य अथवा ज्ञान-दर्शन है। जानना, देखना, समझना, आदि कार्य आत्मा के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। आत्मा में रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं हैं। वह स्वसंवेद्य, अर्थात्—अपने ज्ञान से आप ही प्रकाशित है, वह स्वयं ही अपने को जान सकती है। अँधेरे में अन्य वस्तुओं को देखने के लिए दीपक की आवश्यकता पडती है, परन्तु दीपक को देखने के लिए दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं होती, सूर्य को देखने के लिए दूसरे सूर्य की जरूरत नहीं रहती, उसी प्रकार आत्मा को जानने के लिए कोई दूसरे की आवश्यकता नहीं है। वह तो अपने प्रकाश से—अनुभव से ही गम्य है। अनादि काल से कर्मों का संसर्ग होने के कारण वह एक कर्म के योग से दूसरे कर्म को ग्रहण करती है और उसके फल-स्वरूप सुख-दुःख भोगती है। वह स्वयं ही कर्त्ता और भोक्ता है। सुख दुःख आदि पर्याय आत्मा के ही हैं। आत्मा दो प्रकार की है—कर्म-सहित कर्म-रहित। पहले प्रकार की आत्मा संसारी और दूसरे प्रकार की सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, कहलाती है। मुक्त आत्मा का शरीर या अन्य किसी भी पौद्गलिक लीला के साथ जरा भी संबंध नहीं है। वह अपने स्वरूप में लीन है। संसारी जीव का पुद्गल से संसर्ग है। प्रत्येक पर कर्म का आवरण है। उसी की बदौलत सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, हानि-वृद्धि आदि

की प्राप्ति होती है। प्रत्येक शरीर का अधिष्ठाता आत्मा अलग-अलग है। ऐसी अनन्त आत्माएँ हैं। लोक का कोई भी भाग आत्माओं से खाली नहीं है।

उपर्युक्त छः द्रव्य एक दूसरे के साथ ओत-प्रोत होकर लोकाकाश में रहे हुए हैं। वे यद्यपि ओत-प्रोत हैं, तथापि अपने-अपने स्वभाव में स्थित हैं। सोना और मिट्टी एकमेक हो जाने पर भी, दूध और पानी ओत-प्रोत हो जाने पर भी अपने-अपने स्वभाव को कायम रखते हैं। इसी प्रकार छहों द्रव्य भी अपने-अपने स्वभाव को नहीं त्यागते। उक्त छः द्रव्यों की अपने-अपने स्वभाव में स्थिति ही लोक की स्थिति है। काव्य में छः द्रव्यों का क्रम छन्द की योजना के लिए बदला गया है। वास्तविक क्रम—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, जैसा कि विवेचन में बताया है, वही है ॥६७॥

लोक का कर्त्ता कौन है ?

नायं लोको निर्मितः केनचिन्नो,
कोऽप्यस्यास्ति त्रायको नाशको वा ।
नित्योऽनादिः संभृतोऽजीवजीवै—
र्वृद्धिह्रासौ पर्ययानाश्रयन्ते ॥ ६८ ॥

अर्थ—क्या इस लोक का कोई बनाने वाला है ? इसका उत्तर 'नकार' में है; अर्थात्—इस लोक को किसी ने बनाया नहीं है, इसका कोई पालक (रक्षक) और नाशक—संहारकर्त्ता भी नहीं है। तो क्या

आप-ही-आप उत्पन्न हो गया ! उत्तर—नहीं । वह कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ । वह अनादिकाल से है, है और है । वह कभी नष्ट होने वाला भी नहीं है, वह नित्य है—शाश्वत है । जड़ और चेतन, जीव और अजीव से भरा हुआ है ।

शंका—लोक जब नित्य है, तो उसमें घटती-बढ़ती, हानि-वृद्धि भी नहीं होनी चाहिए ?

समाधान—छ द्रव्यों की द्रव्य-रूप से हानि-वृद्धि कभी नहीं होती । फिर भी जो हानि वृद्धि दिखलाई पड़ती है, वह पदार्थों पर आश्रित है । यद्यपि अनित्य है , अतएव उनमें हानि वृद्धि होना दोष नहीं है ।

विवेचन—'कालओ ण लोए न कयाइ न आसी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ । भविसु य, भवइ य, भविस्सइ य । धुवेणिइए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, णिच्चे । णत्थि पुण से अते । (भग० श० २ उ० १)

अर्थ—काल की अपेक्षा लोक का विचार करने से मालूम होता है कि वह भूतकाल में किसी समय नहीं था ऐसा नहीं, वर्त्तमान काल में नहीं है यह भी नहीं कहा जा सकता और भविष्य में किसी समय लोक न होगा, यह कहना भी अयुक्त है । वह था, है और होगा, यही कहा जा सकता है । वह ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षीण है, अव्यय है, अवस्थित है और नित्य है । अत. उसका कभी अत नहीं होता ।

भगवती के उल्लिखित पाठ में श्रीमान् महावीर भगवान ने

खधक सन्यासी के प्रश्न के उत्तर मे लोक का जो स्वरूप बतलाया है, उससे लोक की स्थिति का खयाल आ सकता है। फिर भी उस पर कुछ अधिक ऊहापोह करने की आवश्यकता है।

जब भूतकाल में लोक का कभी अभाव न था और भविष्य काल मे कभी अभाव न होगा, तो वर्त्तमान काल मे तो उसका अस्तित्व प्रत्यक्ष सिद्ध ही है; अर्थात्—लोक अनादिकालीन है और अनन्त काल तक उसका कभी अंत नहीं आ सकता। अनादि और अनन्त वस्तु कृत्रिम हो ही नहीं सकती। जब लोक कृत्रिम नहीं, कभी बना नहीं, तो उसके कर्त्ता—बनाने वाले का प्रश्न ही नहीं उठता फिर भी कितनेक लोगों की ऐसी मान्यता है कि यह जगत् कृत्रिम—बनाया हुआ—है। गॉड (God) अल्लाह या ईश्वर ने बनाया है। इसी विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए इस काव्य का निर्माण किया गया है। यह जगत् धर्मास्तिकाय आदि छः द्रव्यों का समुदाय-रूप है। यदि इन द्रव्यों मे से एक भी द्रव्य न होता, तो कह सकते थे कि जगत् किसी समय नहीं था, किन्तु यदि ऐसा मान लिया जाय, तो जगत् के निर्माता ईश्वर या अल्लाह का ही अस्तित्व कहाँ रहता है? सृष्टि-कर्त्ता मानने वालों को ईश्वर का अस्तित्व सृष्टि से पहले तो मानना ही पड़ेगा। यदि यह मान लिया, तो उसकी स्थिति किसी-न-किसी स्थान पर माननी होगी और स्थिति आकाश के बिना हो नहीं सकती, अतः ईश्वर से पहले आकाश तत्व अवश्य होना चाहिए। ईश्वर स्वय चैतन्य-रूप है, अतः आत्म-तत्व का भी सद्भाव सिद्ध हो गया। जिस काल मे जगत् नहीं है

और ईश्वर है, वह काल भी जगत् से पहले ही सिद्ध हो गया। शून्य में से जगत् का बनना असम्भव है; अतः जिनसे जगत् बना है, वह पुद्गल द्रव्य भी जगत् से पहले सिद्ध है, पुद्गल परमाणुओं के आकर्षण विकर्षण, जोड़-तोड़ के बिना कोई कृति नहीं बन सकती। और यह जोड़-तोड़ गति-सहायक धर्मास्तिकाय के बिना तथा स्थिति-सहायक अधर्मास्तिकाय के बिना बन नहीं सकता, अतएव धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय भी जगत् के पहले थे यह बात सिद्ध होती है। इस प्रकार ईश्वर की सत्ता मानने से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल पुद्गल और जीव ये छहों द्रव्य सिद्ध होते हैं, जिन्हें जैनशास्त्रों मे 'लोक' शब्द से व्यवहृत किया गया है। जब जगत् के बनाने वाले ईश्वर से पहले षट् द्रव्यमय जगत् सिद्ध ही है, तो फिर ईश्वर ने बनाया क्या है? इन छः तत्त्वों के सिवा सातवाँ तत्व तो है ही नहीं, जिसे ईश्वर या अल्लाह मियाँ ने बनाया हो।

यह कहना उचित न होगा कि ईश्वर जितने भाग में विराजते हैं, उतना आकाश, उतने भाग का धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, उतना काल, उतने ही पुद्गल और वह एक ही आत्मा था। शेष आकाश, धर्मास्तिकाय आदि ईश्वर ने बनाये हैं—ऐसा तो तब कहा जा सकता था, जब धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय के जुदे-जुदे टुकड़े होते, पर ऐसा तो है नहीं, ये द्रव्य तो अविछिन्न, अखण्ड, एक रूप हैं। उनका एक भाग पहले हो और दूसरा भाग बाद में हो, यह कैसे हो सकता है? कदाचित् यों कहो कि धर्म, अधर्म,

आकाश, काल और जीव ये पाँच द्रव्य पहले ही थे, सिर्फ एक पुद्गल द्रव्य ईश्वर ने रचा है, तो यह भी सही नहीं होगा। ईश्वर को स्वय अशरीरी मान लेने से ईश्वर के पास पुद्गल न थे, यह कहा जा सकता है; पर प्रश्न यह होता है कि पुद्गलों के बिना यह पुद्गल-रूप जगत् बना कससे? किन उपादानों से वह रचा गया है? 'नासतो विद्यते भावो नाभावा विद्यते सतः।' गीता में स्वीकृत इस सिद्धान्त के अनुसार असत् से सत् नहीं हो सकता और सत् से असत् नहीं बन सकता। फिर शून्य में से 'एका' हो कैसे गया? यही नहीं; किन्तु अशरीर, निस्सग, कर्म रहित, परमदयालु, सर्वज्ञ, परमेश्वर को सृष्टिकर्त्ता मानने से उसकी सर्वज्ञता में, दयालुता मे, न्यायीपन में और सामर्थ्य मे भी कमी आती है। यदि यह जगत् किसी दयालु ईश्वर ने बनाया होता, तो इसमें महामारी, हैजा, प्लेग, युद्ध, रोग, दु ख आदि कुछ भी न होता, क्योंकि ईश्वर मे सर्व सामर्थ्य होने से दयालुता के कारण वह बढ़िया-से-बढ़िया, परम सुखी जगत् बनाता। वह दुःखों का भण्डार ससार कदापि न बनाता। वह ऐसे अधर्मी-पापी जीवों की सृष्टि कभी न करता। जिन्हें दण्ड देने के लिए खुद को भाग आना—अवतार लेना—पड़ता है। पर सच तो यह है कि इसमें ईश्वर का कुछ भी हाथ नहीं है। जीव, कर्म और वस्तुओं के विविध स्वभावों के कारण ये नये-नये परिवर्त्तन होते रहते हैं। मुख्य छः द्रव्य तो सदैव कायम रहते हैं। लोकतत्त्व अविच्छिन्न शाश्वत नित्य है। पृथ्वी, पर्वत, नदी, सरोवर, गाँव, जगल, वस्ती,

ऊजड़ आदि फेरफार काल, पवन, वर्षा, भूकम्प आदि घटनाओं और मानवीय प्रवृत्तियों के कारण होते हैं। ये फेरफार, रूपान्तर और अवस्थान्तर लोक की पर्यायें हैं। पर्यायों में हानि-वृद्धि, चय - उपचय होती है, किन्तु लोक द्रव्य शाश्वत—नित्य है, जीव अजीव से भरा हुआ है, जैसे न उसका कोई उत्पादक है, वैसे ही न उसका संहारक है, न पालक है ॥ ६८ ॥

लोक का परिमाण

उच्चैर्नीचैर्वेदद्विरज्जुमान,
स्तन्मध्यांशे मेरुमूलं ततोऽयम्।
भक्तो लोको मध्यमुख्यैस्त्रिभागै-,
र्मध्येतिर्यङ्कूर्ध्व ऊर्ध्वेऽस्त्यधोधः ॥ ६९ ॥

लोक की वस्ती

तिर्यग्लोके सन्ति तिर्यङ्मनुष्याः,
प्रायो देवा ऊर्ध्वलोके वसन्ति।
नीचैर्लोके नारकाद्याः प्रभूताः,
सर्वस्याग्रे मुक्तजीवा सुखाढ्याः ॥ ७० ॥

लोक की आकृति और लोक विभागों का परिमाण

आयामोऽधो रज्जवः सप्तमूले,
मध्येचैका ब्रह्मलोके च पञ्च।

प्रान्ते त्वेका सप्तरज्जुर्घनोऽस्य,

न्यस्तश्रोणी हस्तमर्त्याकृतिश्च ॥ ७१ ॥

अर्थ—लोक के नीचे के हिस्से से ऊपर के हिस्से तक एक कल्पित डोरी से नापा जाय, तो वह डोरी चौदह रज्जु लम्बी होगी। 'नारायण' (रज्जु का परिमाण अन्यत्र देख लेना चाहिए) अर्थात्—ऊपर से नीचे तक यह लोक चौदह रज्जु परिमाण है। लोक के मध्य भाग में मेरु नामक एक पर्वत है, उससे लोक के तीन विभाग होते हैं। मेरु का समतोल भाग मध्यलोक है, ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक है, और मेरु से नीचे का भाग अधोलोक कहलाता है। तात्पर्य यह है कि मेरु की सीमा से एक ही लोक के ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक, ये तीन विभाग हो जाते हैं ॥ ६९ ॥

मध्यलोक या तिर्यक् लोक में मुख्य रूप से मनुष्य और तिर्यञ्च निवास करते हैं। (यद्यपि वाणव्यन्तर, जंभका, ज्योतिषी देवता भी तिर्यक लोक में बसते हैं ; पर वे गौण हैं) ऊर्ध्वलोक में अधिकाश वैमानिक देवता निवास करते हैं और अधोलोक में नारक तथा भवन-पति आदि असुर रहते हैं। तीनों लोकों के अग्र भाग पर ; 'अर्थात्—लोक के शिखर पर निरुपाधिक, परमानन्दमय मुक्त - सिद्ध - जीव अव-स्थित हैं ॥ ७० ॥

अधोलोक का विस्तार सात राजू का है ; अर्थात्—अधोलोक की ऊँचाई सात राजू की है और अधोलोक का निचला भाग सातवें नरक का प्रदेश सात राजू चौड़ा है। मध्यलोक एक राजू लम्बा-चौड़ा है

और उसकी ऊँचाई १८०० योजन की है। ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई कुछ अधिक सात राजू की है। लम्बाई-चौड़ाई पाँचवें देवलोक के पास पाँच राजू की है और क्रमशः कम होते-होते सर्वार्थसिद्ध के किनारे एक राजू की लम्बाई मोटाई है। लंबाई-चौड़ाई और ऊँचाई समान करने के लिए लोक का घन किया जाय, तो घनीकृत लोक सात राजू लम्बा, चौड़ा और ऊँचा होता है। कोई पुरुष जामा पहनकर, दोनों पैर फैलाकर, कमर पर हाथ रखकर नाचे, उस समय उसकी जो आकृति होती है, वही लोक की आकृति है ॥ ७१ ॥

विवेचन—लोक की ऊँचाई चौदह राजू की है। 'राजू' शब्द यहाँ 'रज्जु' का अपभ्रंश है। रज्जु अर्थात् डोरी। इस पृथ्वी पर असख्यात द्वीप और असख्यात समुद्र हैं। उन सबके बीच का द्वीप यह जम्बू-द्वीप है। जम्बू द्वीप के चारों ओर खाई की तरह समुद्र और समुद्र के चारों ओर द्वीप हैं। इस प्रकार एक द्वीप, एक समुद्र है। उत्तरोत्तर एक-एक की लम्बाई-चौडाई पिछले द्वीप, या समुद्र से दुगुनी है। जैसे जम्बू द्वीप की लम्बाई चौड़ाई एक लाख योजन की है, तो लवण समुद्र की लम्बाई-चौडाई उससे दुगुनी, अर्थात्—दो लाख योजन की है। इस प्रकार द्विगुणित करते-करते अन्त में स्वयभूरमण समुद्र आता है। एक ओर सारे द्वीप समुद्र और दूसरी ओर अकेला स्वयभूरमण समुद्र। आधे में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं और आधे भाग में अकेला स्वयभूरमण समुद्र है। स्वयभूरमण आधे राजू में है और बाकी तमाम द्वीप समुद्र भी आधे राजू में हैं। स्वयंभूरमण के पूर्व के छोर से पश्चिम के

छोर तक यदि डोरी बाँधी जाय, तो वह डोरी एक राजू प्रमाण होगी। सक्षेप में, इस पृथ्वी के सब द्वीपों और सब समुद्रों की जितनी लंबाई-चौड़ाई है, उतना ही एक राजू का परिमाण है। इस राजू से यदि लोक की ऊँचाई नापी जाय, तो वह चौदह राजू होगी। लोक का मध्य बिंदु मेरु पर्वत के मूल में है। तिर्यक् लोक या जंबू द्वीप के बीचोंबीच मेरु नामक पर्वत है। उसका पाया जमीन में एक हजार योजन गहरा है, और ९९००० योजन जमीन पर है। जमीन के सपाट भाग पर इसकी लंबाई-चौड़ाई दस हजार योजन की है। इसके बराबर मध्य भाग में गोस्तनाकार आठ रुचक प्रदेश हैं—चार ऊपर और चार नीचे। वे दसों दिशाओं के केन्द्र रूप हैं; अर्थात्—वहीं से दिशाओं का व्यवहार आरंभ होता है। उससे नौ सौ योजन नीचे से अधोलोक का प्रारंभ होता है, उसके नीचे ठेठ सातवें नरक के तल भाग तक अधोलोक है। अधोलोक के ऊपर १८०० योजन तक; अर्थात्—रुचक प्रदेश से नौ सौ योजन ऊपर और नौ सौ योजन नीचे, इस प्रकार १८०० योजन में मध्यलोक की सीमा है और मध्यलोक के ऊपर मुक्ति-स्थान पर्यन्त ऊर्ध्वलोक गिना जाता है। इन्हीं तीन विभागों को स्वर्ग, मर्त्य और पाताल लोक कहते हैं। तीनों लोकों में अधोलोक और ऊर्ध्व-लोक की चौड़ाई से ऊँचाई ज्यादा और अमुक भाग में समान है, जब कि मध्यलोक की ऊँचाई की अपेक्षा लंबाई-चौड़ाई अधिक है; क्योंकि ऊँचाई सिर्फ १८०० योजन की है, तब लंबाई-चौड़ाई एक राजू की है। अधोलोक और ऊर्ध्व-लोक की लम्बाई-चौड़ाई एक-सी नहीं है। बिलकुल नीचे से लें, तो अधोलोक

में सात पृथ्वियाँ हैं। इनमें से सातवीं पृथ्वी की, जिसे सातवाँ नरक भी कहते हैं, लम्बाई-चौड़ाई सात राजू की है, जो अधोलोक की ऊँचाई से कुछ कम है, किन्तु नीचे के भाग से एक-एक प्रदेश चारों ओर से घटते-घटते छठे नरक में एक राजू की घटी हो जाती है। छठा नरक छः राजू लम्बा-चौड़ा है। इसी प्रकार एक-एक प्रदेश घटते-घटते पाँचवीं पृथ्वी—नरक—पाँच राजू, चौथी चार राजू, तीसरी तीन राजू, दूसरी दो राजू और पहली पृथ्वी (नरक) एक राजू, लम्बी-चौड़ी है। तिर्छे लोक की लम्बाई-चौड़ाई भी यही है। इसके बाद ऊपर लीजिए, तो एक-एक प्रदेश की वृद्धि होते-होते ऊर्ध्व लोक में पाँचवें भाग में पाँच राजू चौड़ाई है। इस चौड़ाई के बाद फिर एक-एक प्रदेश की कमी हो जाती है; अतः लोक के बिलकुल ऊपरी भाग पर एक राजू की चौड़ाई रह जाती है।

इस प्रकार लोक की आकृति तीन सिकोरों के समान है, अर्थात्—पहला सिकोरा औंधा रखा जाय, उस पर दूसरा सीधा रखा जाय और फिर तीसरा उस पर औंधा रखा जाय। पहले के औंधे सिकोरे की तरह अधोलोक नीचे चौड़ा और ऊपर सँकड़ा, दूसरे सीधे सिकोरे के समान मध्य लोक से लेकर पाँचवें देवलोक तक का भाग, नीचे सँकड़ा और ऊपर चौड़ा। तीसरे औंधे सिकोरे के समान पाँचवें देवलोक के ऊपर का भाग—नीचे चौड़ा और ऊपर सँकड़ा। अथवा जामा पहनकर कमरे के दोनों ओर दोनों हाथ रखकर चारों ओर चक्कर खानेवाले मनुष्य के आकार सरीखा लोक का आकार है। पैरों के पास चौड़ा, नाभि के पास

सँकड़ा, कोहनियों के पास चौड़ा और मस्तक के पास फिर सँकड़ा है। पैरों के पास सातवाँ नरक, नाभि की जगह मध्यलोक, कोहनी के स्थान पर पाँचवाँ देवलोक और मस्तक के स्थान पर मोक्ष है। पहले नरक के घनोदधि, घनवात, तनुवात के नीचे असख्यात योजन' प्रमाण आकाश है, उसमें असख्यात योजन नीचे जायँ, तो वही लोक का मध्यभाग है। चौथे नरक के नीचे घनोदधि, घनवात और तनुवात के बाद आकाश में आधे से कुछ अधिक जाएँ, तो वहाँ अधोलोक का मध्यभाग है। इस लोक की यदि घनाकार कल्पना की जाय ; अर्थात्— लंबाई-चौड़ाई और ऊँचाई एक-सी की जाय, तो सात राजू की ऊँचाई सात राजू की लबाई और सात राजू की चौड़ाई होगी, क्योंकि लोक के एक-एक राजू प्रमाण टुकडे करें, तो ३४३ होते हैं; उनमें से अधो-लोक के १९६, और ऊर्ध्वलोक के १४७ घन राजू हैं। ३४७ राजू का घनमूल ७ होता है, अतः घनीकृत लोक का प्रमाण सात राजू है। वह इस प्रकार—लोक के मध्य भाग में एक राजू लम्बी-चौड़ी और चौदह राजू ऊँची त्रस नाडी है। उसके सात-सात राजू के दो हिस्से करके उन्हें शामिल किया जाय, तो दो राजू की चौड़ाई और सात राजू की ऊँचाईवाला एक हिस्सा हुआ, फिर अधोलोक के त्रस नाड़ी से दक्षिणार्द्ध पर उत्तरार्द्ध को औंधा करके रख दिया जाय, तो वह तीन राजू की चौड़ाई और सात राजू की ऊँचाई का एक हिस्सा हुआ। इसे पहले में मिला दिया जाय, तो पाँच राजू की चौड़ाई और सात राजू की ऊँचाई का हिस्सा हो गया। इसके बाद ऊर्ध्वलोक में पाँचवें देवलोक में,

जहाँ पाँच राजू की चौडाई है, उस पर और नीचे के दोनों ओर के हिस्सों को एक दूसरे पर औंधा रख दिया जाय, तो दो राजू की चौड़ाई और सात राजू की ऊँचाई का एक हिस्सा हुआ। उने पाँच राजू के हिस्सों में शामिल कर दें, तो सात राजू की ऊँचाई और सात राजू लम्बाई-चौड़ाई वाला घनीकृत लोक हुआ। जो सात राजू लम्बा, सात राजू चौड़ा और सात राजू ऊँचा होता है। उसके घनराजू ३४३ होते हैं।

अधोलोक में रत्नप्रभा, शर्करप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और तमतमाप्रभा नामक सात पृथ्वियाँ—नरक—हैं। प्रत्येक नरक में मंडी के माल की भाँति पाथडे और आँतरे हैं। पाथड़ों में नारकी के उत्पन्न होने और रहने के नरकावास हैं। सातों नरकों में कुल ८४००००० नरकवास हैं। उनमें नारकियों को शीत, उष्ण, भूख, प्यास आदि के तीव्र दुःख भुगतने पड़ते हैं। पहले तीन नरकों तक परमाधामी भी दुःख पहुँचाते हैं और नीचे के चार नरकों में आपस में मार-काट करके दुःख भोगते हैं। पहली रत्नप्रभा पृथ्वी का एक लाख अस्सी हजार योजन का पिंड है, इसमें से एक हजार ऊपर और एक हजार नीचे का भाग छोड़कर एक लाख अठहत्तर हजार योजन की पोलार में तेरह पाथड़ा और बारह आंतरा हैं। आंतरा में दस भवनपति जाति के देवताओं के सात करोड़ बहत्तर लाख भवन हैं। उनमें भवनपति देव निवास करते हैं। ऊपर के एक हजार योजन में से ऊपर नीचे एक-एक सौ योजन छोड़ दें, तो बीच के ८०० योजन की पोलार में वाणव्यन्तर

जाति के देव रहते हैं। ऊपर के सौ योजनों में से नीचे ऊपर दस-दस योजन छोडकर बीच के ८० योजन की पोलार में जभका देवता वसते हैं। पहली पृथ्वी की सतह पर असख्यात द्वीप समुद्र हैं। उनमें मनुष्यों और तिर्यञ्चों के सिवाय वाणव्यन्तर जाति के देवों के भी नगर हैं और ज्योतिषी देवताओं की राजधानी है। तथा जम्बूद्वीप, धातकी खण्डद्वीप और अर्द्धपुष्कर द्वीप में मनुष्यों की वस्ती है। अढाई द्वीप के बाहर मनुष्य नहीं रहते, केवल तिर्यंच होते हैं। इसके सिवाय किसी-किसी जगह व्यन्तर और ज्योतिषी देवताओं के क्रीडा स्थान और निवास-स्थान हैं। वहाँ इनका आवागमन होता रहता है। पृथ्वी के समतल से ७८० योजन ऊपर ज्योतिष-चक्र है। चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा, ये पाँच प्रकार के ज्योतिषी देवता हैं। इन्हीं के विमानों को ज्योतिष-चक्र कहते हैं। यह ज्योतिष-चक्र ११० योजन की ऊँचाई में है। ७८० योजन से ६०० योजन तक में ज्योतिष-चक्र की सीमा समाप्त हो जाती है। वहाँ से असंख्यात कोड़ा-कोड़ी योजन ऊपर बारह देवलोकों में से पहला और दूसरा देवलोक है। ये दोनों एक-दूसरे से जुडे हुए हैं। एक-एक अर्द्ध चन्द्रमा और दोनों पूर्ण चन्द्रमा के आकार हैं। ये असख्यात योजन की लम्बाई-चौड़ाई में हैं। यहाँ वैमानिक देव निवास करते हैं। वहाँ से असख्यात योजन ऊपर तीसरा और चौथा देवलोक, आपस में जुडे हुए, आधे-आधे चन्द्रमा के आकार के हैं। वहाँ से असंख्यात-असंख्यात योजन के अन्तर पर एक दूसरे के ऊपर पाँचवाँ, छठा, सातवाँ और आठवाँ देवलोक है। वहाँ

से असंख्यात योजन दूर जुड़े हुए नौवें और दसवें देवलोक हैं। वहाँ उतनी ही दूरी पर ग्यारहवाँ और बारहवाँ देवलोक परस्पर जुड़े हुए हैं। वहाँ से असंख्यात योजन ऊपर लोक-रूप पुरुष की ग्रीवा के स्थान पर नौ ग्रैवेयक हैं, वे तीन पाथड़ों पर हैं। एक-एक पाथडे पर तीन ग्रैवेयक हैं। यहाँ ग्रैवेयक जाति के देवता रहते हैं। इनके ऊपर मुख के स्थान पर पाँच अनुत्तर विमान हैं। चारों दिशाओं मे चार और बीच में एक सर्वार्थसिद्ध नामक विमान है। इनमें निवास करनेवाले देवता सर्वोत्कृष्ट हैं। वे सम्यग्दृष्टि ही होते हैं। एक दम बालक या योगी की भाँति निर्विकार हैं। नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमानों में राज्यतन्त्र नहीं है। सब स्वतन्त्र—अहमिन्द्र देवता हैं। जिन्हें अधिक - से - अधिक तीन या पाँच भव करने होते हैं, वही अनुत्तर विमानों में जा सकते हैं। पाँच अनुत्तर विमानों से उत्तर बारह योजन के अन्तर पर सिद्ध-शिला है। वह मध्य भाग में आठ योजन मोटी है। मध्य भाग से, चारों ओर एक-एक प्रदेश पतली होते-होते किनारे पर मक्खी के परों से भी पतली स्फटिकमय है। उसके ऊपर एक योजन के अंतिम कोस के छठे भाग में, अर्थात्—३३३ धनुष, ३२ अगुल जितने क्षेत्र में, सिद्ध भगवान् अपने स्वरूप में लीन हुए विराजमान हैं। यहीं लोक या धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्यों की सीमा समाप्त होती है। उसके बाद अलोक है। वहाँ केवल आकाश द्रव्य है। लोक के प्रत्येक भाग में प्रत्येक जीव अनन्त-अनन्त बार उत्पन्न हो आया है; फिर भी अब तक कार्य की सिद्धि नहीं हो पाई; अतएव ऐसा

चिन्तन करना चाहिए कि लोक के अग्र भाग में मेरा अक्षय स्थान है, उसमें मेरा निवास कब और कैसे हो सकेगा ? ॥ ६९-७०-७१ ॥

लोक की स्थिति

पृथ्वी तोये तच्च वायु प्रतिष्ठं,
सोऽप्याकाशे स्यात्ततोऽलोकदेशः ।
यत्राकाशं द्रव्य मेकं विहाय,
नान्यत्किञ्चिद्विद्यतेऽनन्तकेऽस्मिन् ॥ ७२ ॥

अर्थ—जिस पर सब प्राणी रहते हैं, यह पृथ्वी घनोदधि—जल पर आश्रित है । वह घनोदधि, घनवायु के सहारे और घनवायु तनु-वायु के सहारे है । तनुवायु आकाश पर अवलम्बित है । इस आकाश का अमुक भाग छोड़ देने से अलोक की हद आ जाती है । अलोक में सिवाय आकाशास्तिकाय के और कोई भी द्रव्य नहीं है ; केवल आकाश है और वह भी सीमा-हीन—अनन्त ; अतएव अलोक भी अनन्त है ॥ ७२ ॥

विवेचन—कइविहाणं भंते लोगठिइ पन्नत्ता ? गोयमा ! अट्ठविहा लोगठिइ पन्नत्ता, तंजहा—आगास पइठिए वाए, वायपइठिए उदही, उदहिपइठिया पुढवी, पुढवीपइठिया तसा थावरा पाणा, अजीवा जीव-पइठिया जीवा कम्मपइठिया, अजीवा जीव संगहिया जीवा कर्म-संगहिया (भग० श० १ उ० ६)

अर्थात्—भगवन् ! लोकस्थिति कितने प्रकार की है ? गौतम !

लोक की स्थिति आठ प्रकार की कही है, वह इस प्रकार—प्रथम आकाश के आधार पर वायु (तनुवात), वायु के आधार पर उदधि-घनोदधि, घनोदधि के आधार पर पृथ्वी, पृथ्वी पर त्रस और स्थावर जीव, जीव के आधार पर अजीव—औदारिक आदि शरीर, कर्म के आधार पर जीव रहते हैं। अजीव, जीव से सग्रहीत और जीव, कर्म से सग्रहीत है। इस प्रकार आठ तरह की लोक स्थिति है।

भगवती के उल्लिखित सिद्धान्त में लोक की स्थिति बतलाई गई है। स्थावर, त्रस, जीव, अजीव, आदि पदार्थ पृथ्वी पर रहते हैं, यह तो स्पष्ट ही है , पर यह पृथ्वी किस पर टिकी हुई है, यह एक गम्भीर प्रश्न है। इस सम्बन्ध मे अन्य शास्त्रकारों की भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ हैं। कोई कहता है, कि यह पृथ्वी शेषनाग के फन पर ठहरी है ; मगर यह बात सम्भव प्रतीत नहीं होती ; क्योंकि ऐसी मोटी और अपरिमित वजनवाली पृथ्वी शेषनाग के फन पर रह नहीं सकती। जैन-शास्त्र इस विषय में इस प्रकार स्पष्टीकरण करते हैं—इस पृथ्वी का पाया घनोदधि पर है। पृथ्वी अपरिमित—असख्यात योजन की है, इसी प्रकार घनोदधि भी असख्यात योजन विस्तारवाला है। नीचे के भाग में सात पृथ्वियाँ हैं। उन सबके नीचे चारों ओर घनोदधि है। जैसे पेड़ के चारों तरफ उसकी छाल होती है, उसी प्रकार पृथ्वी के चारों तरफ़ घनोदधि नामक पदार्थ है। वह जल-जातीय है ; पर है जमे हुए घी के समान। नीचे के मध्य भाग में बीस हजार योजन उसकी मोटाई है , पर वहाँ से एक-एक प्रदेश पतला होते-होते बिलकुल ऊपरी किनारे वह सिर्फ छः

योजन मोटा रह जाता है। दूसरी पृथ्वी के घनोदधि की भी यही अवस्था है ; पर किनारे के मोटेपन मे योजन के एक तृतीयांश की अधिकता होती है। इस प्रकार प्रत्येक पृथ्वी के घनोदधि की मोटाई में योजन का एक-तिहाई अश अधिक होते-होते सातवें नरक के घनोदधि की मोटाई किनारे पर आठ योजन की है। मध्य भाग में सातों के घनोदधि की मोटाई २० हजार योजन की है। लंबाई-चौड़ाई और परिधि असख्यात योजन की है।

घनोदधि के नीचे घन वायु का आवरण है। वह कुछ पतले—पिघले हुए घी के समान है। वह घनोदधि के चारों ओर है। लबाई-चौड़ाई और परिधि असख्यात योजन की है ; किन्तु पतला होते-होते किनारे पर सिर्फ साढ़े चार योजन का ही पतला रह जाता है। यह प्रमाण पहले नरक के घनवायु का है। दूसरे नरक के घनवायु की मोटाई एक कोस और अधिक है ;' अर्थात्—दूसरे नरक में पौने पॉच योजन, तीसरे में पॉच योजन, चौथे में सवा पाँच योजन, पाँचवें में साढ़े पाँच योजन, छठे में पौने छ. योजन और सातवें में घनवायु की मोटाई छः योजन है।

घनवायु के नीचे, उसके चारों ओर तनुवायु है, वह तपाये हुए घी के समान है। उसकी लबाई, चौड़ाई, परिधि और मध्य में मोटाई असख्यात योजन की है। मोटाई घटते-घटते अन्त में सिर्फ डेढ योजन रह जाती है। नीचे की पृथ्वियों में, प्रत्येक पृथ्वी में १/६ भाग बढते-बढ़ते, सातवें नरक के तनुवायु की मोटाई दो योजन की है। तनुवायु के नीचे

असंख्यात योजन प्रमाण आकाश है। सातवें नरक के आकाश के असंख्यात योजन आगे धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्य पूरे होते हैं; अतएव लोक की सीमा भी वहाँ समाप्त हो जाती है। इसके बाद अलोक आता है, उसमें सिवाय आकाश के और कोई भी द्रव्य नहीं है। लकड़ी के तीन पात्रों का सेट हो और उसमें पात्र एक-दूसरे के भीतर रखे हों, उसी प्रकार तनुवात, घनवात और घनोदधि, ये तीन वलय एक दूसरे में व्यवस्थित हैं। तीसरे छोटे पात्र में जैसे कोई वस्तु रखी जाय, वैसे ही घनोदधि वलय के भीतर प्रत्येक पृथ्वी है। सब से बड़े पात्र के बाहर जैसे आकाश होता है, इसी प्रकार तनुवात के चारों ओर आकाश है। पात्रों के सात सेट आकाश में थोड़ी-थोड़ी दूर, एक दूसरे के ऊपर लटकते हों, वैसे ही सात पृथ्वियाँ अपने-अपने घनोदधि में ऊपर-ऊपर स्थित हैं। पृथ्वी और अलोक के बीच, ऊपरी भाग में सिर्फ बारह योजन का अन्तर है। साढे छः योजन का घनोदधि, साढे चार योजन का घनवात और डेढ़ योजन का तनुवात, इस प्रकार ये बारह योजन हैं। इसके बाद अलोक आता है और सातवें नरक के तीन वलयों के सोलह योजन होते हैं; अतः सोलह योजन का वहाँ अंतर है। इन सात पृथ्वियों के अतिरिक्त देवलोक भी घनोदधि के आधार पर हैं। वह इस प्रकार—पहले दो देवलोक घनोदधि पर आश्रित हैं, तीसरा, चौथा और पाँचवाँ घनवात पर टिका है; छठा, सातवाँ और आठवाँ घनोदधि और घनवात दोनों पर अवलम्बित है और नौवें से सर्वार्थसिद्ध तक अकेले आकाश के सहारे हैं॥ ७२ ॥

सुख-दुःख की हानि-वृद्धि का क्रम

उच्चैरुच्चैर्वर्तते सौख्यभूमि-
नींचैर्नीचैर्दुःख वृद्धिः प्रकामम् ।
लोकस्याग्रेऽस्त्युत्कटं सौख्यजातं,
नीचैः प्रान्ते दुःखमत्यन्तमुग्रम् ॥७३॥

दसवीं भावना का उपसंहार

उच्चैः स्थानं स्वात्मनश्रित स्वभावा-
न्नीचैर्यानं कर्म लेपाद् गुरुत्वे ।
तस्माद्धर्मं कर्म मुक्त्य विधेया,
लोकाग्रे स्याद्येन ते स्थानमर्हम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—लोक के निचले हिस्से से ज्यों-ज्यों ऊपर बढते जायें, त्यों-त्यों दु.ख कम और सुख की वृद्धि होती जाती है और ऊपरी भाग से ज्यों-ज्यों नीचे की ओर बढ़ते हैं, त्यों-त्यों सुख की हानि और दु.ख की वृद्धि होती जाती है। ऊपर-ऊपर सुख की वृद्धि होने पर लोक के अग्र भाग में सबसे ऊपरी शिखर पर, जहाँ सिद्ध-मुक्त जीव रहते हैं, वहाँ सबसे अधिक सुख है और लोक का सबसे नीचे का हिस्सा सातवाँ नरक है, वहाँ उत्कट-से-उत्कट भयंकर दु.ख है ॥७३॥

जीव की चेतन्य शक्ति अगुरु लघु स्वभाववाली है; अर्थात्—उसका स्वभाव ऊर्ध्वगामी है और तेजस् शरीर आदि पुद्गल गुरु लघु हैं। गुरुत्ववाली वस्तु स्वभावतः नीचे जाती है; अतः पुद्गल के साथ जीव-

का अधोगमन होता है। ज्यों-ज्यों कर्म का लेप अधिक और पुद्गल का सयोग ज्यादह होता है, त्यों-त्यों यह जीव नीचे के स्थान में जन्म लेता है। इसके विपरीत चित् स्वभाव की निर्मलता जितनी अधिक होती है, उतना ही जीव का ऊर्ध्वगमन होता है। जब कर्म सर्वथा छूट जाते हैं, तब केवल चित्स्वभाव से लोक के अग्र भाग पर अवस्थिति होती है; इसलिए हे भव्य जीव ! यदि लोक के अग्र भाग पर स्थित होने की अभिलाषा है, तो कर्मों का लेप टालने के लिए और चित् का निर्मल स्वभाव प्रकट करने के लिए धर्म का सेवन करके आत्मिक गुणों को प्रकट कर ॥७४॥

विवेचन—ऊपर के दो काव्यों में लोक के उच्च और नीच प्रदेश में सुख-दुःख की कैसी स्थिति है, तथा ये किस प्रकार प्राप्त होते हैं, यह बताया गया है। पहले काव्य से यह तो विदित ही हो चुका कि नीचे नारकी, मध्य में मनुष्य और तिर्यञ्च, ऊपर देवता और सबसे ऊपर अग्रभाग में सिद्ध भगवान् रहते हैं। नीचे के भाग में सातवें नरक के नारकी को जितना दुःख है, ऊपर भाग में वसने वाले सर्वार्थसिद्ध विमान के देवताओं को उतना ही सुख है। आयुष्य दोनों जगह ३३ सागरोपम का है। पहले को इतने लम्बे समय तक दुःख भोगना होता है, तब दूसरा इतने समय तक सुख भोगता है; किन्तु सिद्ध भगवान् को इससे भी अधिक—असीम सुख शान्ति है। उच्च और नीच अवस्था में सुख और दुःख में कितना अन्तर है, वह थोड़े से शास्त्रीय उदाहरणों से ठीक समझ में आ जायगा। सूयगडांसूत्र के पाँचवें अध्ययन में नारकी की स्थिति का इस प्रकार वर्णन है—

ते घोररूवे तमिसंधयारे तिव्वाभितावे नरए पडंति (गा३)

अर्थ—वे नरक में पड़ते हैं। उस नरक का दृश्य अत्यन्त घोर—भयंकर है, उसमें प्रकाश का नामोनिशान तक नहीं है, प्रकाश के बदले घोर अन्धकार भरा है और ताप क्षेत्र की स्वाभाविक गर्मी इतनी प्रचण्ड है, कि उसके आगे अग्नि का ताप तो किसी गिनती में ही नहीं।

वहाँ गर्मी और सर्दी कितनी है, यह स्पष्ट शब्दों मे उत्तराध्ययन के १६ वें अध्ययन में मृगापुत्र इस प्रकार कहते हैं—

जहा इहं अगणि उण्हो, इत्तोणंतगुणो तहिं।

नरएसु वेयणा उण्हा, असाया वेइया मए। (उ०अ०१६)

अर्थात्—इस लोक में अग्नि जितनी गर्म है, उससे अनन्त गुनी अधिक उष्ण वेदना नरक में है। (मृगापुत्र कहते हैं) ऐसी वेदना मैंने भोगी है।

नरक में कैसे भयंकर शब्द बोले जाते हैं? सुनिए—

हण छिंद भिंद णं दहेति, सद्दे सुणित्ता परहम्मियाणं।

ते नारगाओ भयभिन्न सन्ना, कंखंति कन्नाम दिसं वयामो॥

(सूय० अ० ५ गा० ६)

अर्थात्—मारो इसको मुद्गर से, इसे तलवार से काट डालो, इसे भाला घुसेड़ दो, इसे अग्नि में जला दो—परमाधामियों के ऐसे ऐसे शब्द सुनकर भयभीत हुए नारकी जीव भाग छूटने का रास्ता खोजते हैं; पर उन्हें कहीं जाने की गुंजाइश नहीं।

....

अन्ने तु सूलाहिं तिसूलियाहिं, दीहाहिं विद्‌ण अहे करंति।

(सूय० अ० ५ गा० ६)

अर्थात्—जब कोई नारकी भागना चाहता है, तब उसे लम्बे भाले या त्रिशूल से वेधकर परमाधामी नीचे पटक देते हैं। नरक के दुःखों के वर्णन का इतना अधिक विस्तार है कि उसे सुनकर हृदय काँप उठता है। ऐसी वेदना नरक के जीव रात दिन भुगतते ही रहते हैं। सात नरकों में पहले की अपेक्षा दूसरे में दूसरी की अपेक्षा, तीसरे में यावत् सबसे नीचे सातवें नरक में अतुल वेदना है। अधोलोक के ऊपर मध्य-लोक में मुख्यतः मनुष्य और तिर्यञ्च वसते हैं। वहाँ भी दुःख है। कहा है—

सारीरमाणसाइं दुक्खाइं तिरिक्खि जोणीए।

माणुस्सं च अणिच्चं वाहिजराणवेयणा पउणा उववाई॥

अर्थात्—तिर्यञ्च योनि में शारीरिक और मानसिक दुःख हैं, तब मनुष्य योनि में आयु की अस्थिरता, व्याधि, रोग, जरा, मरण, आदि की प्रचुर वेदना है, परन्तु यह दुःख नरक से कम है। नरक-जैसी उष्ण वेदना, शीत वेदना, भूख, प्यास, मध्यलोक के प्राणियों को नहीं भोगनी पड़ती। यहाँ से ऊपर जाने पर वैमानिक देवताओं को, जो ऊर्ध्व लोक में रहते हैं, मध्यलोक के बराबर दुःख नहीं है। वहाँ आयु लम्बी, वैक्रिय शक्ति, मन चाहे भोग, दिव्य ऋद्धि, दिव्य सुख, दिव्य अनुभव, आदि सुख हैं। ज्यों-ज्यों ऊपर जायँ, त्यों-त्यों दीर्घ-जीवन,

निर्विषयता, कषाय की मन्दता, अधिक ऋद्धि, अधिक उज्ज्वलता, और अधिक सुख है। सबसे ऊपर सर्वार्थसिद्धि के देवों का सुख तो अवर्णनीय है। तैंतीस सागर की उनकी आयु है। एक बार के आहार से वे ३३ हजार वर्ष तक तृप्त रहते हैं। तैंतीस पखवाड़ों में एक बार वे श्वासोच्छ्वास लेते हैं। उनकी शय्या के ऊपर चँदोवा की जगह मोतियों के झूमकों में से राग-रागिनियों की ध्वनि और बत्तीस प्रकार के नाटकों की रचना होती है। इन्हें सुनते-देखते, सब प्रकार की खटपटों से रहित चिरकालीन सुख में उनका जीवन व्यतीत होता है। उसके ऊपर लोक के अग्र भाग में सिद्ध भगवान् विराजते हैं। कहा है—

कहिं पडिहया सिद्धा?, कहिं सिद्धा पइट्ठिया?।
कहिं बोंदिं चइत्ताणं, कत्थ गन्तूण सिज्झइ॥
अलोगे पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहंबोंदिं चइत्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्झइ॥ —उववाई

अर्थात्—प्रश्न—सिद्ध भगवान् कहाँ रुक गये हैं? कहाँ स्थित हुए? कहाँ शरीर छोड़ा? और कहाँ जाकर सिद्ध हुए? उत्तर—अलोक के आरम्भ में ही रुक गये। लोक के अग्रभाग में स्थित हुए। इस पृथ्वी पर शरीर त्याग कर लोक के अग्रभाग में जाकर सिद्ध बुद्ध मुक्त हुए। वहाँ कितना सुख है, इस बात का वर्णन शास्त्रीय प्रमाणों-पूर्वक करना उचित है।

णवि अत्थि माणुसाणं, तंसोक्खं णविय सव्वदेवाणं।
जं सिद्धाणं सोक्खं, अव्वाबाहं उवगयाणं॥ १॥

जं देवाणं सोक्खं, सव्वद्धपिंडिय अणंत गुणं।
नय पावइ मुत्तिसुहं, णं ताहिं वाग वग्गूहिं ॥ २ ॥
सिद्धस्स सुहोरासी, सव्वद्धा पिंडिओ जइहवेज्जा।
सोऽणंत वग्गा भइओ, सव्वागासे ण मायेज्जा ॥ ३ ॥
जहणाम कोइ मिच्छो, नगरगुणे बहुविहे वियाणंतो।
न चाये परिकहेउं, उवमाहि तहिं असंतीये ॥ ४ ॥

—उववाई

अर्थ—(१) प्रत्येक प्रकार की पीड़ा से रहित, सिद्ध भगवान् जो सुख भोगते हैं, वह मनुष्य या देवता, किसी को भी प्राप्त नहीं है। (२) देवताओं का सर्व काल का सुख एकत्र करके उसका एक पिंड बनाया जाय और उसे अनन्त गुना कर लिया जाय, यही नहीं, किन्तु अनन्त बार उसके वर्ग का वर्ग कर लिया जाय, तो भी वह सिद्ध के सुख के बराबर नहीं हो सकता। (३-४) सिद्ध भगवान् के समस्त सुख का एक पिण्ड बनाकर उसके अनन्त भाग कर लें, उनमें से एक भाग आकाश में बिखेर दें, तो लोक और अलोक—दोनों का आकाश उससे भर जाय, फिर भी वह पूरा न हो।

दृष्टान्त—एक राजा वन में क्रीड़ा करने गया। उसका घोड़ा उसे जंगल के विषम मार्ग में ले गया। भूख, प्यास, और थकावट से खिन्न राजा पानी खोजने लगा। इतने में एक जंगली मनुष्य उसे मिला। उसने पानी पिलाया और खाने को दिया। राजा को इससे बड़ी शांति हुई। राजा संतुष्ट होकर भील को अपने साथ ले आया। उसे एक

सुन्दर महल में ठहराया। बढ़िया-से-बढ़िया खान-पान की वस्तुएँ उसे दी गई। पहनने को मूल्यवान् वस्त्र और आभूषण दिये गये। उसकी सेवा में एक-दो नौकर रख दिये गये। थोड़े समय तक वह वहाँ रहा ; पर बाद में उसे अपने कुटुम्ब की याद आ गई। इस आनन्द का समाचार वहाँ पहुँचाने की इच्छा हुई। वहाँ से छुटकारा पाने के लिए उसका मन छटपटाने लगा। अन्त में वह एकान्त का मौका देखकर अपने पुराने कपड़े पहनकर भाग गया। वह अपने कुटुम्बियों के पास गया और बड़े प्यार से उनसे मिला। कुटुम्बियों ने पूछा—'इतने दिनों तक कहाँ चला गया था ? हम तुझे ढूँढ़ते - ढूँढ़ते हैरान हो गये।' उसने कहा—'मैं एक घोड़ा वाले के साथ गया था, वहाँ बड़ा आनन्द था।' सम्बन्धियों ने पूछा—'क्या आनन्द था ?' वह बोला—'अजी, उस आनन्द का क्या पूछना ! बड़ा ही आनन्द था।' उन्होंने अपने अच्छे से-अच्छे कपड़े, वर्त्तन, भोजन और झोंपड़ी बताई और पूछा—'क्या ऐसी वस्तुएँ तुझे वहाँ मिली थीं ?' वह बोला—'इनसे भी बढ़िया।' भील ने जो देखा था, चखा था, सूँघा था, स्पर्श किया था और अनुभव किया था, वह सब मन-ही-मन उसे ज्ञात है ; पर शब्दों द्वारा प्रकट करने में वह समर्थ नहीं हो सका ; क्योंकि उन सुखों को व्यक्त करनेवाले शब्द ही उसके पास न थे ; अतएव सब कहने लगे—तू झूठा है। इससे अधिक और कोई सुख हो ही नहीं सकता। 'गूँगे को सपना भया समझ-समझ पछिताय।' इसी प्रकार भील मन-ही-मन झुँझलाकर बैठ रहा।

इस उदाहरण से समझना चाहिए कि भील ने इन्द्रिय-जन्य सुखों का जो अनुभव किया था, उसका भी वर्णन उससे न हो सका, इसी भाँति आत्मा के सुखों का या सिद्धों के वास्तविक आनन्द का वर्णन कोई भी नहीं कर सकता ; क्योंकि उसके लिए कोई उपमा लागू नहीं होती। सचमुच ही वह अनुपम सुख है। इस प्रकार उच्च-से-उच्च स्थान पर संपूर्ण निरुपाधिक दुःख रहित एकान्त सुख है, वहाँ से नीचे-नीचे क्रमशः सुख की कमी होते-होते मध्यलोक में मध्यम स्थिति और अधोलोक में दुःख-ही-दुःख है। अधोलोक से ऊपर-ऊपर जाने का और अन्त में अग्र स्थान पर पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए और लोक-रचना का विचार करना इस भावना का सार है।

इस काव्य में आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना और कर्म की गुरुता का स्वभाव नीचे गिरना बताया गया है। यदि किसी तूम्बे पर मिट्टी का लेप कर दिया जाय, तो वह भारी होकर पानी में डूब जायगा। लेप हट जाने पर वह अपने स्वभाव से ही पानी के ऊपर आकर उतराने लगेगा। इसी प्रकार आत्मा को कर्मों का जितना ही अधिक लेप लगता है, आत्मा उतना ही भारी होकर अधोगति में जाता है। महा आरंभ, महा परिग्रह, मांसाहार और पंचेन्द्रिय की घात, इन चार प्रकार के कर्मों से नरकायु का बंध होता है और आत्मा अधोलोक में गमन करती है। माया, कपट, विश्वासघात और षड्यन्त्र, मिथ्या भाषण और मिथ्या नाप-तोल रखना, इन चार कारणों से तिर्यंच गति में जन्म धारण करना पड़ता है। भद्र प्रकृति, सरल स्वभाव, अनुकम्पा और अमत्सर भाव—इन

चार कारणों से मनुष्य-जन्म मिलता है। सराग संयम, देशविरति, श्रावकता, बाल-भाव सहित तप और अकाम निर्जरा, 'इन चार कारणों से देवगति प्राप्त होती है। राग-द्वेष का समूलोच्छेद करके वीतराग अवस्था प्राप्त करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, लोक के अग्रभाग पर सिद्ध-मुक्त रूप में निवास होता है, जो शाश्वत निवास है, जहाँ एक बार पहुँचने पर फिर वापस नहीं लौटना पड़ता। वह शाश्वत स्थिति प्राप्त हो जाय, तो जन्म, जरा, मरण, आधि, व्याधि, उपाधि का नामो-निशान भी नहीं रह सकता; अतएव सर्वोच्च स्थान पाने के लिए कर्मरूपी कारणों को दूर करके आत्मभाव हासिल करो। परभाव से निवृत्त होकर—आत्मभाव में स्थित होकर लोक-भावना के स्वरूप का चिन्तन करो ॥ ७३-७४ ॥

(११) बोधिदुर्लभ-भावना

—*०*—

[लोक की महत्ता —विशालता बताकर इस भावना में यह बताया जाता है कि लोक में किस प्रकार भवभ्रमण हुआ है और इस समय क्या अपूर्व वस्तु मिल गई है ।]

एकेन्द्रिय में भवभ्रमण

सूक्ष्मबादर निगोद गोलके—
ऽनन्त कालमधयोगत स्थित ।
सूक्ष्मबादरधरादिके ततो—
ऽसङ्ख्यकालमथ दु खसङ्कुले ॥७५॥

विकलेन्द्रियों में भ्रमण

द्व्यक्षमुख्य विकलेन्द्रिये क्रमा—
ऽसङ्ख्यकालमटितो व्यथान्वित. ।
नारके पशुगणे पुन पुन—
र्यापितोऽतिसमय सुखोज्झित ॥७६॥

अर्थ—भूतकाल में पाप के कारण अशुभ कर्मों के दबाव में यह जीव निगोद के गोले में, जहाँ चैतन्य शक्ति एकदम अव्यक्त होती

है, और अकेली स्पर्शेन्द्रिय भी बहुत कम सामर्थ्य वाली होती है, गया। अनन्त जीवों की साझेदारी में एक शरीर मिला। इतना ही नहीं; किन्तु सूक्ष्म और बादर निगोद के अन्दर निरन्तर अनन्त काल-अनन्त पुद्गल परावर्त्तन तक निवास किया। अन्यत्र कहीं न जाकर वहाँ का वहीं भटकता रहा। निगोद में अनन्त काल व्यतीत करने के बाद सूक्ष्म और बादर, पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति इन स्थानों में, जहाँ एकान्त दुःख ही है, असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी तक लगातार भवभ्रमण किया ॥७५॥

जब एकेन्द्रिय में भ्रमण करते-करते, दुःख भोगते-भोगते, अशुभ कर्म कुछ कम हुए, तो कुछ उच्च पदवी पर पहुँचा, अर्थात्—यह जीव एकेन्द्रिय अवस्था से दो इन्द्रिय वाला हो गया। वहाँ भी असंख्यात काल तक पर्यटन करके क्रमशः त्रीन्द्रिय और चतुरेन्द्रिय अवस्था में उत्पन्न हुआ। यहाँ भी दुःख झेलता हुआ संख्यात काल तक घूमता रहा। इसके बाद पंचेन्द्रिय अवस्था में प्रविष्ट हुआ। वहाँ भी एकान्त दुःखवाली नारकी और तिर्यंच पर्याय में बहुत-सा समय बिताया और बार-बार इन्हीं दोनों योनियों में भ्रमण करता रहा ॥७६॥

विवेचन—जीव के उत्पन्न होने का क्षेत्र लोकाकाश अपरिमित है। उत्पन्न होने की योनियाँ भी अनेक हैं और काल भी अपरिमित है। इन तीनों की अपरिमितता से कर्म-परतंत्र प्राणी को बहुत परिभ्रमण करना पड़ा है। संसार में तैरने के साधनों की अपेक्षा डूबने के साधन बहुत अधिक हैं। शास्त्र में भी पुण्य के नौ प्रकार कहे हैं, तो

पाप के अठारह प्रकार बतलाये हैं। पुण्य—धर्म करने का समय अल्प है, पाप करने का समय अनन्त है, यद्यपि शास्त्र में कहा है कि प्रति समय पाप और पुण्य दोनों का बंध होता है, किन्तु वह वचन निश्चय नयाश्रित है। यहाँ व्यवहार में उपयोगी न होने से उसकी विवक्षा नहीं की गई है। साधारणतया जीव को सब जगह पाप का योग मिलने से अशुभ कर्मों का लेप होता है और नीच योनि में बहुत-सा समय बिताना पड़ता है। एक-एक जगह कितना-कितना समय व्यतीत किया है, यह बात ऊपर के काव्यों में बताई गई है। इस लोक में निकृष्ट-से-निकृष्ट स्थान निगोद हैं, क्योंकि वहाँ अनन्त जीवों की भागीदारी में एक शरीर मिलता है। प्रथम तो हिस्सेदार बहुत, और तिसपर शरीर बहुत छोटा, चिउँटी या कुँथवा जितना होता, तो भी गनीमत थी। सुई की नोक पर कंद का जितना हिस्सा रह सकता है, उसमें असंख्यात श्रेणियाँ, और प्रतर हैं। एक-एक श्रेणी में असंख्यात गोले हैं और एक-एक गोले में असंख्यात शरीर हैं। अब विचार कीजिए कि एक शरीर के भाग में कितनी ज़रा-सी जगह हिस्से में आई ? ऐसे निकृष्ट क्षुद्र शरीर में सिर्फ एक स्पर्शनेन्द्रिय है। पर्याप्तियाँ चार हैं; पर वे अनन्त जीवों के बीच हैं, अर्थात्—अनन्त जीवों को एक ही श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति से श्वास लेना पड़ता है। उन जीवों की आयु बहुत थोड़ी है। तदुरुस्त मनुष्य के एक श्वासोच्छ्वास-जितने समय में उनके लगभग साढ़े सत्रह भव हो जाते हैं। इस प्रकार एक अन्तर्मुहूर्त में ६५५३६ भव करते हैं; अर्थात्—पैंसठ हजार, पाँच सौ, छत्तीस बार वे

जन्म लेते और मरते हैं। आश्चर्य तो यह है कि वे मरकर पुनः-पुनः उसी काय में उत्पन्न होते रहते हैं; अर्थात्—अनन्त काल तक—अनन्त पुद्गल परावर्त्तन तक, सूक्ष्म बादर निगोद में ही वह मरते-जीते रहते हैं। इसको कायस्थिति कहते हैं। एक भव की स्थिति को भवस्थिति और दूसरी काय में न जाकर एक ही काय में रहना कायस्थिति है। प्रत्येक प्राणी की कायस्थिति कितनी-कितनी है, इसका विस्तृत वर्णन जीवाभिगम सूत्र में है। जिज्ञासु वहीं से देख लें। संक्षेप में, उत्तराध्ययन में उसका जो वर्णन किया गया है, उसका यहाँ उल्लेख कर देना उचित होगा।

पुढविकायमइगओ, उक्कोसं जीवोय संवसे।
कालं संखाईय, समयं गोयम मा पमायए ॥१॥
आउकायमइ० ॥२॥ तेउक्काय० ॥३॥ वाउकाय० ॥४॥
वणस्सइकाय० उक्कोस, कालमणंतं दुरंतं समयं० ॥५॥
बेइंदियकाय० उक्कोस०, कालं संखिज्जसण्णियं समयं
॥६॥ तेइंदियकाय० ॥७॥ चउरिन्दिय० ॥८॥ पंचिन्दियकाय
मइगओ उक्कोसं० सत्तट्ठभवगाहणे समयं ॥९॥
उ० अ० १० गा० ५—१३

अर्थ—यह जीव पृथ्वीकाय—सूक्ष्म और बादर पृथ्वी में जाकर अधिक-से-अधिक वहाँ असख्यात काल तक रहता है, अर्थात्—असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी समाप्त हो जायें तब तक सिर्फ पृथ्वी-ही-पृथ्वी में भ्रमण करता रहता है, दूसरी योनियों में न जाकर पुनः पुनः वहीं उत्पन्न होता है। अपूकाय (पानी) तेउकाय (अग्नि) वाउकाय

(हवा) में भी प्रत्येक जगह अधिक - से - अधिक असख्यात अवसर्पिणी और असंख्यात उत्सर्पिणी पर्यन्त रहता है । वनसतिकाय में अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी तक चक्कर काटता है ; अर्थात्—सूक्ष्म निगोद से बादर में और बादर निगोद से प्रत्येक वनस्पति में भ्रमण करता है ; परन्तु वनस्पतिकाय छोड़ कर अनन्त काल तक और कहीं नहीं जाता । इस प्रकार पाँच स्थावरों में उत्कृष्ट इतने अधिक समय तक प्रत्येक जीव को निवास करना पड़ा है । स्थावर नाम कर्म का व्यय हो जाने पर जब त्रस नाम-कर्म का उदय हुआ, तो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय अवस्था को क्रम-क्रम से प्राप्त हुआ , पर प्रत्येक अवस्था में उसे ठहरना पड़ा । दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रियवाले जीवों की सख्यात-सख्यात हजार वर्ष की उत्कृष्ट कायस्थिति है। कर्म-दबाव यदि ज्यादा हुआ, तो प्रत्येक अवस्था में उत्कृष्ट स्थिति में रहकर समय बिताना पड़ता है। उस दशा में जीव जब पचेन्द्रिय मे आता है, तो नारकी और देवता का तो एक-एक ही भव होता है ; क्योंकि वहाँ भवस्थिति ही कायस्थिति है। तिर्यंच और मनुष्य अवस्था में निरन्तर सात-आठ भव तक निवास हो सकता है , परन्तु मनुष्यत्व तो पूर्ण पुण्य के योग से ही प्राप्त होता है , अतएव विशिष्ट पुण्यात्माओं के अतिरिक्त औरों को तिर्यंच भव ही समझिए। वहाँ उत्कृष्ट सात-आठ भव करता है।

इस कायस्थिति के अनुसार एक-एक स्थावर में लगातार असख्यात और वनस्पति में अनन्त भव जीव ने किये हैं। क्योंकि पृथ्वी की

भवस्थिति उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की, पानी की सात हजार वर्ष की, अग्नि की तीन अहोरात्र की, वायु की तीन हजार वर्ष की, और वनस्पति में से प्रत्येक की दस हजार वर्ष की, साधारण की अन्तर्मुहूर्त की, दो इन्द्रिय की बारह वर्ष की, त्रीन्द्रिय की उनचास दिन की, चतुरिन्द्रिय की छः महीने की, नारकी और देवता की तेतीस सागरोपम की और मनुष्य-तिर्यञ्च की तीन पल्योपम की है। जघन्य भवस्थिति नारकी और देवता की दस हजार वर्ष की, और सबकी अन्तर्मुहूर्त की है, परन्तु अन्तर्मुहूर्त के अनेक भेद हैं। इसलिए इस काल में एक भव भी हो सकता है और अनेक भव भी हो सकते हैं और वे भी साधारण वनस्पति में छोटे-से-छोटे ६५५३६ तक होते हैं। प्रत्येक वनस्पति में ३२०००, पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु में १२८२४, दो इन्द्रिय में ८०, तेइन्द्रिय में ६० चौन्द्रिय में ४०, असज्ञी पचेन्द्रिय में २४ और सज्ञी पचेन्द्रिय मे १, अन्तर्मुहूर्त मे एक भव होता है। इस प्रकार एक-एक काय में छोटे-मोटे सख्यात, असख्यात और अनत भव जीव ने किये हैं। मनुष्य और देवता के सिवाय प्रत्येक योनि मे, काय में अपार दुःख भोगा है और अव्यक्त अवस्था में अनत काल बिताया है ॥७५-७६॥

मनुष्य भव की प्राप्ति

तत्र-तत्र दुरितार्ति भोगतः,
कर्मणामपनयो यदाऽभवत्।

प्राप रत्नमिव दुर्लभं भृशं,
मानवत्वमति पुण्ययोगतः ॥७७॥

अर्थात्—ऊपर कहे अनुसार अमुक-अमुक सकीर्ण योनियों में भ्रमण करते और दु ख भोगते हुए जब अशुभ कर्म-भुक्त हो जाने से खिर गये, तब शुभ कर्मों की पूँजी निकली, अथवा वहीं किसी सुकृत का योग मिलने पर पुण्य का सचय हुआ, तो उत्पन्न पुण्य के योग से चिन्तामणि रत्न से भी अधिक मूल्यवान् और दुर्लभ मनुष्य भव इस जीव को प्राप्त हुआ ॥ ७७ ॥

विवेचन—कम्मसगेहिं समूढा, दुक्खिया बहुवेयणा ।
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मन्ति पाणिणो ॥
कम्माणंतु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ ।
जीवासोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं ॥
(उत्त. अ. ३ गा. ६-७)

अर्थ—कर्म के सयोग से दुःखी—वेदना को भोगनेवाले मूढ प्राणी मनुष्य के सिवाय अन्य एकेन्द्रिय आदि योनियों मे भटकते फिरते हैं॥१॥ भटकते भटकते कदाचित् कर्म की हानि हुई, अर्थात्—अशुभ कर्मों का बल कम हो गया और कुछ अशों में आत्म-शुद्धि हुई, तो मनुष्य-जन्म प्राप्त होता है ॥ २ ॥

उत्तराध्ययन की इन गाथाओं में मनुष्य-जन्म की अन्य जन्मों के साथ अप्रकट रूप में तुलना की गई है। प्राय. अन्य जन्म, कर्म के दबाव से, अशुभ कर्म की प्रबलता से होते हैं, तब मनुष्य भव-कर्म की

शुद्धि होने या कर्म की अशुभता घटने से प्राप्त होता है, जैसा कि पहले कह चुके हैं। पृथ्वी पानी आदि में बहुत समय तक दुःख भोगते और अशुभ कर्मों को खपाते हुए, जब शुभ कर्म की सत्ता बढती है, तब मनुष्य-भव मिलता है। एक प्रकार से मनुष्य-भव देवता के भव से भी अधिक श्रेष्ठ गिना गया है। वह इसीलिए कि प्रत्येक धर्माचरण और उससे प्राप्त होनेवाली मोक्षसंपत्ति केवल मनुष्यभव में ही मिल सकती है। मोक्ष का दर्वाजा सिर्फ एकही जीवन के लिए खुला हुआ है और मनुष्य-जीवन के लिए ही। सर्वार्थसिद्ध विमान तक ऊपर पहुँचा हुआ जीव भी जब मनुष्य-भव में आता है, तभी उसे मोक्ष मिल सकता है। वह सीधा मोक्ष नहीं जा सकता। इसी कारण विवेकी देवता भी मनुष्य-भव की अभिलाषा करते हैं। मनुष्य के औदारिक शरीर से देवता का वैक्रिय शरीर ऊँचे दर्जे का है। मनुष्य मे सहज वैक्रीय शक्ति नहीं है, देवता को है। मनुष्य की वाह्य ऋद्धि से देवता की वाह्य ऋद्धि अधिक है। यह सब ठीक है, फिर भी जिस महान् प्रयोजन की सिद्धि देव-भव से कदापि नहीं हो सकती, उसकी मनुष्य-भव से सिद्धि होती है। इसीलिए मनुष्य-भव को रत्न की उपमा दी गई है। द्रव्य की सब जातियों में रत्न अधिक कीमती गिना जाता है, उसी प्रकार समस्त अवतारों में मनुष्य का अवतार श्रेष्ठ है। रत्न जहाँ-तहाँ चाहे जिसे नहीं मिल सकते, उसी प्रकार मनुष्य-भव भी सब जगह सबको प्राप्त नहीं हो सकता। वह बड़े ही पुण्य के योग से मिलता है। पारखी जौहरी रत्न की खूब चौकसी रखता है; पर नासमझ जङ्गली मनुष्य उसे इधर-उधर फेंक देते हैं। इसी

प्रकार सुज्ञ पुरुष विषय-भोगों में मनुष्य-भवरूपी रत्न को चय नहीं करते ; पर धर्मकृत्यों में उसका उपयोग करते हैं। मनुष्य-भव के सद्व्यय और दुर्व्यय के सबंध में सोमप्रभसूरि ने 'सिंदूरप्रकर' नामक ग्रंथ में सुन्दर चित्रण किया है। इस जगह उसका निदर्शन अनुचित न होगा।

यःप्राप्य दुष्प्राप्यमिदं नरत्वं,
धर्मं न यत्नेन करोति मूढः।
क्लेशप्रबन्धेन सलब्धमब्धौ,
चिन्तामणिं पातयति प्रमादात् ॥१॥

अर्थात्—जो मनुष्य दुर्लभ-से-दुर्लभ मनुष्यत्व पाकर सयत्न हो धर्म नहीं करता, वह मूढ पुरुष कठिनता से मिले हुए चिंतामणि रत्न को लापरवाही से समुद्र में पटकता है।

स्वर्णस्थाले क्षिपति सरजः पादशौचं विधत्ते।
पीयूषेण प्रवरकरिणं वाहयत्यैन्धभारम् ॥
चिन्तारत्नं विकिरति कराद् वायसोड्डायनार्थं
यो दुष्प्राप्यं गमयति मुधा मर्त्यजन्म प्रमत्तः ॥२॥

अर्थात्—जो मनुष्य दुष्प्राप्य मानव-जन्म को प्रमादी बनकर व्यर्थ गँवा देता है, वह मनुष्य सोने की थाली में रेत डालता है, अमृत से पैर धोता है, हाथी की पीठ पर ईंधन लादता है, कौवा उड़ाने के लिए चिन्तामणि फेंक देता है। तात्पर्य यह है कि सोने की थाली, अमृत, हाथी और चिन्तामणिरत्न-जैसी उत्तम वस्तुओं का कैसा उपयोग करना चाहिए और नासमझ लोग उनका कैसा दुरुपयोग करते हैं।

ते धत्तूरतरुं वपन्ति भवने प्रोन्मूल्य कल्पद्रुमं।
चिन्तारत्नमपास्य काचशकलं स्वीकुर्वते ते जडाः।
विक्रीय द्विरदं गिरीन्द्रसदृशं क्रीडन्ति ते रासभं।
ये लब्धं परिहृत्य धर्ममधमा धावन्ति भोगाशया ॥३॥

अर्थात्—जो अधम पुरुष प्राप्त धर्म को त्यागकर भोगों की आशा से इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं, वे अपने घर में उगे हुए कल्पवृक्ष को उखाड़ कर उसकी जगह धतूरे का पेड़ बोते हैं; चिन्तामणिरत्न को छोड़कर काँच के टुकड़े को उठाते हैं, पहाड़-जैसे हाथी को बेचकर उसके बदले गधा स्वीकार करते हैं।

शिखरिणी

अपारे संसारे कथमपि समासाद्य नृभवं।
न धर्मं यः कुर्यात्—विषयसुखतृष्णातरलितः॥
ब्रुडन् पारावारे प्रवरमपहाय प्रवहणं।
स मुख्यो मूर्खाणामुपलमुपलब्धुं प्रयतते॥ ४॥

अर्थात्—इस अपार संसार में किसी प्रकार मनुष्य-भव पाकर जो मनुष्य विषय-सुख की तृष्णा में विह्वल होकर धर्म नहीं करता है, वह मूर्खों का सरदार समुद्र में डूबते समय, मिले हुए सुन्दर जहाज को छोड़कर पत्थर को पकड़ने का प्रयत्न करता है।

उक्त चारों श्लोकों में दृष्टान्तों के साथ यह स्पष्ट बतलाया गया है कि मनुष्य-जीवन का सदुपयोग और दुरुपयोग किस प्रकार होता है।

धर्माराधन के लिए उसका उपयोग करने से यह कल्पवृक्ष, चिंतामणि-रत्न, अमृत, हाथी और सुवर्ण के थाल के समान बनता है, अन्यथा धतूरे आदि के समान अधम होता है।

कुलीनता आदि की प्राप्ति

मानवेऽपि न हि पुण्यमन्तरा,
प्राप्यते सुकुलदेश वैभवम्।
रोगहीनमखिलाक्षसयुतं,
कान्तगात्रमपि दीर्घजीवितम् ॥७८॥

अर्थ—मनुष्य जन्म में भी विशिष्ट पुण्य के बिना आर्य देश और उत्तम गुणों वाले कुल में जन्म नहीं मिलता, अर्थात्—विशिष्ट पुण्य का उदय हो तभी धर्मसामग्रीवाले देश और कुल में जन्म मिलता है। इससे भी अधिक पुण्य के उदय से सुंदर शरीर, इन्द्रियों की परिपूर्ण शक्ति, शारीरिक आरोग्य के साथ मानसिक स्वस्थता और दीर्घ जीवन मिलते हैं। पुण्य के बिना यह सब सामग्री नहीं मिल सकती ॥ ७८ ॥

विवेचन—

लद्धूण वि माणुसत्तणं, आयरियत्तणं पुणरवि दुल्लहं।
बहवे दसुया मिलक्खुया, समयं गोयम! मा पमायए ॥
लद्धूणवि आयरियत्तणं, अहीण पंचिंदियया हु दुल्लहा।
विगलिंदियता हु दीसइ, समयं गोयम! मा पमायए ॥
(उत्त० अ० १० गा० १६-१७)

अर्थात्—मनुष्यत्व कदाचित् मिल भी गया, तो आर्य क्षेत्र, आर्य

जाति और आर्य-कुल के बिना वह किस मतलब का ? सामान्य मनुष्य-भव मिलना जितना कठिन है, उससे आर्य-क्षेत्र में मानव-जन्म होना अधिक दुर्लभ है ; क्योंकि इस लोक में चोरी, लूट-पाट, खून आदि अनार्य कर्म करनेवालों और अनार्य-क्षेत्र में उत्पन्न होनेवालों—म्लेच्छों, की कमी नहीं है, उनकी संख्या बहुत है। आर्यों की ही कमी है। आर्यपन पाकर भी परिपूर्ण पाँच इन्द्रियाँ प्राप्त होना कठिन है ; अर्थात्—आर्य-क्षेत्र में मनुष्य-जन्म के साथ पाँचों इन्द्रियों की परिपूर्णता होना दुर्लभ है। बहुतेरे लोग आर्य-क्षेत्र में मनुष्य-जन्म पाकर कोई जन्म से ही अन्धे, कोई बहरे, कोई लूले, कोई टौंटे, कोई गूँगे, कोई पगले होते हैं और कोई-कोई बीमारी के कारण ऐसे हो जाते हैं। पुण्य की कमी के कारण आर्य मनुष्य होने पर भी इन्द्रिय से विकल होना पड़ता है, जिससे मनुष्य-जीवन का मूल्य बहुत ही कम रह जाता है। हीन इन्द्रियवाले को चारित्र्य धर्म की प्राप्ति नहीं होती। 'आँखों बिना चलते-फिरते समय पैर के नीचे जीव दब जाय, तो पता भी नहीं चलता। कानों के बिना शास्त्र या गुरु का उपदेश नहीं सुना जा सकता। जीभ के बिना दूसरों को न सच्ची सलाह दे सकते हैं, न सदुपदेश ही। गूँगे आदमियों को साथ ही बहिरापन भी होता है ; इसलिए वह न बोल सकते हैं और न सुन ही सकते हैं। पैरों बिना देव, गुरु-दर्शन या धर्म-स्थान में नहीं जा सकते। हाथों के बिना दान भी नहीं दे सकते। कदाचित् पुण्य ने ज्यादा जोर मारा और इन्द्रियाँ परिपूर्ण मिल गईं, फिर भी यदि शरीर रोगी हुआ, तो मन चाहा काम नहीं हो सकता। रोगों की शरीर में कमी नहीं

है। प्रत्येक रोग में पौने दो-दो रोग सत्ता में रहते हैं, उनमें से एकाध रोग ही फूट पड़ा, तो धर्म आदि के कार्यों में अड़ंगा लगा देता है, फिर यदि एक साथ बहुतेरे इकट्ठे फूट पड़ें, तब तो कहना ही क्या है ? रोगी मनुष्य रोग की पीड़ा से ही व्याकुल रहता है, उसका मन खिन्न-उद्विग्न हो जाता है और उद्विग्न मन में धर्म के विचार न उत्पन्न हो सकते हैं, न टिक सकते हैं। कदाचित् शरीर भी नीरोग मिल गया ; पर जिन्दगी थोड़ी हो, बाल्यावस्था या भरी जवानी में ही आयु पूरी हो जाय, तो मानव-जीवन का मिलना-न-मिलना बराबर हो जाता है। आयु कदाचित् लम्बी स्थिति की बाँधी हो, तो भी उसे उपक्रम लगने से वह छोटी हो जाती है। महामारी, प्लेग, सर्पदंश, ज़हर, समुद्र में डूब जाना, रेल, मोटर-संबंधी दुर्घटना होना आदि कई कारण हैं, जिनसे आयु कम हो जाती है ; क्योंकि निरुपक्रमी—निकाचित आयुवाला ही पूरी आयु भोग सकता है। बाकी के बहुत से तो सोपक्रम आयुष्य वाले ही होते हैं। वे अधूरी आयु में भी मर जाते हैं। सन्ध्या का रंग—ललाई, दूब की नोक पर लटकने वाला जल का बूँद और बिजली की चमक के समान आयु अस्थिर हैं। ऐसी अवस्था में मन-की मन में रह जाती है, नीरोगी शरीर परिपूर्ण इन्द्रियाँ और लम्बी आयु, ये सब बोल अतिशय पुण्य के योग से ही प्राप्त हो सकते हैं ॥ ७८ ॥

सद्गुरु का समागम

पूर्वपुण्यवशतोऽखिलं हि त—
ल्लभ्यते यदि सुकर्म योगतः ।

दुर्लभस्तदपि कल्पवृक्षवद्—
योग्यसंयमि गुरोः समागमः ॥ ७९ ॥

श्रवण और बोधि की दुर्लभता

दुर्लभादपि सुदुर्लभं मत,
वीरवाक श्रवणमात्म शान्तिदम् ।
हा ततोऽपि खलु बोधिवैभवो,
यो न कर्मलघुता विनाप्यते ॥ ८० ॥

अर्थ—पूर्व-भव के पुण्य के योग से, शुभ कर्म के फल से कभी वह सब सामग्री मिल जाय, तो भी शुद्ध सयमधारी त्यागी सद्गुरु का यदि समागम न हो, तो वह सामग्री किस काम की ? ऐसे तारनहार सद्गुरु का समागम भी क्या सुलभ है ? नहीं-नहीं, कल्पवृक्ष के समान सद्गुरु का सयोग मिलना दुर्लभ है। पूर्ण पुण्य के बिना सद्-गुरु महाराज का समागम नहीं मिल सकता ॥ ७९ ॥

सद्गुरु का समागम होना जितना दुर्लभ है, उसकी अपेक्षा वीत-राग भगवान् की वह वाणी सुनने का सौभाग्य मिलना और भी दुर्लभ है, जिसके सुनने से आत्मा में शान्ति की लहरें उमड़ने लगती हैं। उसे सुनकर उससे बोध-ज्ञान-प्राप्त करके सम्यग्दर्शन की विभूति पा लेना तो और भी कठिन है , सचमुच वह विभूति कर्मों की लघुता हुए बिना प्राप्त नहीं हो सकती।, अर्थात्—जब तक एक कोडाकोडी सागरोपम से अधिक स्थितिवाले कर्म बँधे हुए हैं, तब तक सम्यग्दृष्टि नहीं प्राप्त हो सकती ॥ ८० ॥

विवेचन—अति दुर्लभ मनुष्य-भव कदाचित् पुण्य के योग से प्राप्त हो जाय, यह नहीं, किन्तु साथ ही शारीरिक सम्पत्ति और लम्बा जीवन भी मिल जाय, तो इतने से ही आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। इसके लिए तो सद्गुरु के समागम की आवश्यकता है। विषम प्रदेश में मुसाफिरी करते हुए अनजान आदमी को मार्ग-दर्शक की जितनी आवश्यकता होती है, उतनी ही आवश्यकता भवरूपी अटवी में भटकने वाले मनुष्य को सद्गुरु के समागम की है। काव्य में योग्य और संयमी गुरु की आवश्यकता इस लिए दिखलाई है कि जिसमें सच्चा त्याग नहीं है, संयम नहीं है, मगर जो गुरु कहलाता है, वह नामधारी गुरु न अपना आत्म-कल्याण कर सकता है, न दूसरों का ही कल्याण कर सकता है। वह एक सच्चे पथ-प्रदर्शक का कर्त्तव्य नहीं बजा सकता। पत्थर की नाव न खुद तैरती है, न बैठने वाले को तारती है। वह दोनों डूबते हैं। एक विद्वान ने ठीक ही कहा है—

गुरु लोभी शिष्य लालची, दोनों खेले दाव।
दोनों बूडे बापडा, बैठ पत्थर की नाव॥

मणिरत्नमाला में गुरु का लक्षण इस प्रकार कहा है—

गुरुस्तु को यश्च हितोपदेष्टा

अर्थात्—गुरु कौन हो सकता है? उत्तर—जो शिष्य के हित का उपदेश दे, वह गुरु है। यह लक्षण है, तो ठीक, पर आवश्यकता से कुछ संक्षिप्त है। वास्तव में जो अपना और पराया हित करे, स्वयं तैरे तथा औरों को तारे, वह गुरु है। सच्ची शुद्धि और सच्चे संयम के बिना

कोई स्वयं तैर नहीं सकता और जो स्वयं नहीं तैर सकता. वह दूसरों को कैसे तारेगा ? आजकल सच्चे गुरुओं की अपेक्षा नामधारी गुरुओं की बहुत अधिकता जान पड़ती है।

बहवो गुरवो लोके, शिष्य वित्तापहारका ।
दुर्लभस्तु गुरुर्लोके, शिष्य चित्तापहारकः ॥

अर्थात् शिष्य के पैसे को हरनेवाले गुरु दुनिया में बहुत हैं, पर शिष्य के वित्त—पैसे के बदले चित्त को हरने वाला गुरु दुर्लभ है।

लाखों करोड़ों वर्ष की मिहनत से जो कार्य सिद्ध नहीं होता. सद्गुरु की कृपा से वह पल भर में सुधर जाता है। ऐसे गुरु सच-मुच चलते-फिरते कल्पवृक्ष ही हैं और सच तो यह है कि वे कल्प-वृक्ष और पारसमणि से भी बढ़कर हैं। तुलसीदास ने कहा है—

पारस में अरु संत में, बड़ा आंतरा जान।
वो लोहा कंचन करे, वो करे आप समान ॥
लोहा पारस स्पर्श से, कंचन भई तलवार।
तुलसी तीनो ना मिटे, धार मार आकार ॥
ज्ञान हथौड़ा हाथ लई, सद्गुरु मिले सुनार।
तुलसी तीनो ना मिटे, धार मार आकार ॥

ऐसे सद्गुरु का समागम पुण्य के बल बिना मिलना कठिन है। सुन्दरदास कहते हैं कि—

मात मिले पुनि तात मिले, सुत भ्रात मिले युवती सुखदाई।
राज मिले सब साज मिले, गजराज मिले मन वंछित पाई।

लोक मिले सुरलोक मिले, विधिलोक मिले वैकुंठ में जाई।
सुन्दर ओर मिले सब सुख ही सुख, दुर्लभ सत समागम भाई ॥

सत्समागम का पहला फल शास्त्रीय तत्त्वों का श्रवण है, वह भी सत्समागम के समान, बल्कि उससे भी अधिक दुर्लभ है। कहा भी है—

माणुस्स विग्गह लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
(उत्त० अ० ३, गा० ८)

अर्थ—मनुष्य जन्म मिलने पर भी धर्मशास्त्र के श्रवण करने का सुअवसर किसी किसी को ही मिलता है, क्यों कि वह अत्यन्त दुर्लभ है।

अहीणपंचिंदियत्तपि से लहे उत्तमधम्म सुई हु दुल्लहा।
(उत्त० अ० १०, गा० १८)

अर्थ—पाचो इन्द्रियों की परिपूर्णता कदाचित् प्राप्त हो जाय, पर उत्तम धर्मशास्त्र का श्रवण मिलना दुर्लभ है। श्रवण कराने वाला, श्रवण करने योग्य शास्त्र और श्रवण करने की शक्ति, ये सब मिलने पर भी श्रवण के प्रतिबंधकों (बाधक) को दूर न कर दिया जाय, तब तक श्रवण का लाभ नहीं प्राप्त हो सकता। श्रवण के प्रतिबंधक १३ हैं।

आलस्स मोहऽवन्ना, थभा कोहा पमाय किविणत्ता।
भय सोगा अन्नाणा, विक्खेव कुऊहला रमणा ॥
एएहिं कारणेहिं लद्धूण सुदुल्लहंपि माणुस्सं।
न लहइ सुइं हिअकर संसा त्तारिणि जीवो ॥

अर्थ—आलस्य, मोह, अवज्ञा, अहङ्कार, क्रोध, प्रमाद, कृपणता,

भय, शोक, अज्ञान, विक्षेप, व्याकुलता, कुतूहल, और खेल-तमाशे की रुचि, इन तेरह कारणों से जीव मनुष्य जन्म पाकर भी संसार-समुद्र से तारने वाला हितकर वचन श्रवण नहीं कर सकता। श्रवण और चारित्र्य पुरुषार्थ मे एक वस्तु की खास आवश्यकता है—वह है सद्दहणा—श्रद्धा।

आहच्च सवणं लद्धुं श्रद्धा परमदुल्लहा।

—(उत्त० अ० ३, गा० ६)

अर्थ—कदाचित पुण्य के योग से शास्त्र श्रवण करने का सुयोग मिल जाय, परन्तु उस मे श्रद्धा होना बहुत कठिन है। श्रद्धा, अर्थात्—तत्त्व का पूरा निश्चय, देव गुरु और धर्म की सच्ची पहचान, सत्यमार्ग में पूरी पूरी रुचि—प्रेम। इसी श्रद्धा को बोधि कहते हैं। वह कर्म की लघुता के बिना प्राप्त नही होती। ज्ञानावरणीय आदि किसी भी कर्म की स्थिति एक कोडाकोडी सागरोपम से अधिक न हो, किन्तु कुछ कम हो तब राग द्वेष की मजबूत गाठ खुलती है—ग्रंथिभेद होता है। ग्रंथिभेद होना कर्म की लघुता का ही चिह्न है। ग्रंथिभेद होने से बोधि—सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। बोधि का प्रभाव इतना अधिक है कि इसे जिस ने पा लिया, उस का भव भ्रमण अधिकांश मे रुक जाता है, अर्थात्—बोधि प्राप्त होने के बाद यदि वह कायम रहे, तो पंद्रह भव मे मुक्ति प्राप्त हो जाती है यदि वह उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती है तो, भी अर्द्ध पुद्गल परावर्त्तन मे मोक्ष अवश्य ही होता है। चारित्र का मूलभी यही बोधि है। इसके बिना की जाने वाली समस्त क्रियाये तुच्छ फल देने वाली हैं—बिना

एका के शून्यों के समान हैं। पहले एका हो, तो बिन्दियों की कीमत है, एका न हो तो वे सब बेकार हैं। इसी प्रकार बोधि—सम्यक्त्व में ही चरित्र की सफलता है। मनुष्यभव, आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल, नीरोगी शरीर, परिपूर्ण इन्द्रियां, लम्बी आयु, शास्त्रश्रवण और श्रद्धा, इन सब की दुर्लभता बतलाने का आशय है कि ये बहुत कीमती हैं। जो वस्तुएं अधिक कीमती होती हैं, वही दुर्लभ होती हैं। जो वस्तुएं अधिक कीमती होती हैं, उन्हें पाने के लिए मन ललचाता रहता है। वह मिल जाती हैं, तो कीमती समझ कर उस की रक्षा बड़ी सावधानी से की जाती है, क्योंकि यदि उसके मिलने का मौका निकल गया, तो फिर बार-बार ऐसा मौका नहीं मिलता, फिर तो अनन्तकाल व्यतीत हो जाने पर भी भाग्य से ही ऐसा सुन्दर अवसर हाथ लग सकता है, अतएव प्राप्त न कर पाये हों तो उसको प्राप्त करने के लिए, और प्राप्त कर चुके हों, तो उसे अधिक शुद्ध बनाने के लिए और उसकी रक्षा करने के लिए सावधान रहना चाहिए। बार-बार प्रयत्न करना चाहिए ॥ ७९-८० ॥

बोधि सब से ज्यादा दुर्लभ है

संसदग्रपदमाप्यते श्रमा—
द्राज्यसम्पदपि शत्रुनिग्रहात्।
इन्द्रनैभवबल तपोव्रतै—
र्बोधिरत्नमखिलेषु दुर्लभम् ॥८१॥

ग्यारहवीं भावना का उपसंहार

भ्राम्यता भववनेऽघघर्षणा—
त्काकतालवदिदं सुसाधनम्।
प्राप्यमूर्ख किमु भोग लिप्सया,
रत्नमेतदवपात्यतेऽम्बुधौ ॥ ८२ ॥

अर्थ—किसी बड़ी सभा या कांग्रेस जैसी महान संस्था का प्रमुख पद मिल जाना उतना कठिन नहीं है। पुण्य के योग से राज्यसत्ता की बड़े अधिकारी की पदवी भी सरलता से मिल सकती है। देवता की ऋद्धि या इन्द्र का पद भी कई बार मिल चुका है और मिल सकता है, पर बोधि-रूपी दिव्य रत्न की प्राप्ति होना इन सब से ज्यादा कठिन है। कदाचित् एक बार भी बोधि-रत्न की प्राप्ति हो जाय, तो संसार का भ्रमण टल सकता है ॥ ८१ ॥

संसार-रूपी अटवी में भ्रमण करते-करते, दु ख भोगते-भोगते जब अशुभ कर्मों का घर्षण हुआ—वे पतले पड़े, तब काकतालीय न्याय से मनुष्य-भव, सुकुल जन्म, नीरोगी शरीर, परिपूर्ण इन्द्रिया, लम्बी आयु और सद्गुरु का समागम—यह सब सामग्री तुझे मिली है। फिर भी रे मूर्ख! मोह-माया मे फंस कर—विषय भोगो मे आसक्ति रख कर, बोधि-रत्न पाने का प्रयास नहीं करता। यह सचमुच ही हाथ मे आये हुए चिन्तामणि रत्न को समुद्र मे फेंक देने के समान है। इस लिए, हे भद्र! इस उत्तम समय को व्यर्थ न गंवा कर शुद्ध पुरुषार्थ कर। इससे भव भ्रमण छूट जायगा ॥ ८२ ॥

विवेचन—सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक सभा-सोसाइटी, कांफरेंस या कांग्रेस के प्रीसीडेन्ट बनने की इच्छा रखनेवाले को सामाजिक, धार्मिक या राजनीतिक कार्यो मे कुशलता प्राप्त करनी चाहिए। आत्म-भोग देना चाहिए, यद्यपि ऐसा करने मे मिहनत पडती है, कठिनाइया झेलनी पडती हैं, पर परिश्रम करने से प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। एक साधारण कुटुम्ब मे जन्मे हुए मनुष्य को राज पाने की इच्छा हो जाय और सतत प्रयास करे, तो सेना इकट्ठी करके, शत्रु के साथ लडकर, शायद राज्य प्राप्त कर ले। शिवाजी ने साधारण स्थिति मे से प्रयास करके, मरहठों की सेना इकट्ठी करके, परिश्रम के साथ लडाई की और राज्य का विस्तार किया। तप के बल से इन्द्र की पदवी भी प्राप्त हो सकती है। पूरण तापस ने चमरेन्द्र की, तामली तापस ने ईशानेन्द्र की और कार्त्तिक सेठ ने शक्रेन्द्र की पदवी तपोबल से पाई, ये उदाहरण भगवती मे प्रसिद्ध हैं। सभापति का पद, राज-पद और इन्द्र-पद, ये तीन पदविया यद्यपि बहुत सरलता से नहीं मिलतीं, प्रयास साध्य हैं, फिर भी वे बोधिरत्न के समान दुर्लभ नहीं हैं। ऊपर-ऊपर से ये तीनो पदविया भबकादार और बडी मालूम होती हैं, पर वास्तव में ये बोधिरत्न के समान महान् नहीं हैं। ये पदविया थोडे दिन, थोडे महीने, थोडे वर्ष या थोड़े सागरोपम तक अपनी चकाचौंध दिखा सकती हैं। वे एक एक भव की महत्ता बढाती हैं। तब बोधिरत्न का प्रकाश, उसकी महत्ता भव-भव मे पहुचती है। इतना ही नही, मोक्ष का अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, शाश्वत आनन्द भी इसी की बदौलत मिलता है।

इन्द्रपद से अधिक मूल्यवान् बोधिरत्न, जो मोक्ष का पहला साधन है, साधारण मनुष्य को काकतालीय न्याय से प्राप्त होता है, अर्थात्—जैसे ज्योंही कौआ बैठा, त्यों ही ताड़ गिरा, यह एक अकस्मात है, वस्तुतः कौए के भार से ताड का वृक्ष गिर नहीं सकता। काल योग से पुराना पड़कर ताड गिरनेवाला तो था ही, उसी समय अचानक ही कौआ जाकर उस पर बैठ गया। लोगों को कहने को हो गया कि 'कौआ बैठा और पेड़ गिर पडा।' इसी प्रकार ससार-रूपी अटवी में परिभ्रमण करते-करते किसी जीव के अशुभ कर्म पतले हुए और तभी मनुष्य-भव, पूर्ण इन्द्रियां, निरोगी शरीर और लम्बी आयु आदि का संयोग मिल गया, तो बोधिरत्न की प्राप्ति होती है। यह प्राप्ति साधारणतः सुलभ मानी जा सकती है, पर वस्तुतः यह सुलभता 'काकतालीय' न्याय के समान है। इसकी प्राप्ति सहज नहीं है, परन्तु अनेक भवों के दुःख का अनुभव और प्रयास करने के बाद ही वह प्राप्त होता है। अनेक कठिनाइयां झेलकर पाए हुए इस रत्न को विषय-भोगों की लालसा-ही-लालसा में—तुच्छ वस्तु पाने में—ही उसे गवा दे, तो यह कहना ठीक ही होगा कि उसने चिन्तामणि को, रक्षा करने के बदले समुद्र के अगाध जल मे फेंक दिया है। इस कृत्य के उपलक्ष्य में उसे मूर्खों के सरदार का ही सार्टिफिकेट या उपनाम दिया जा सकता है।

दृष्टान्त—एक दरिद्र ब्राह्मण था। वह दक्षिणा लेने की आशा से किसी बंदर के किनारे जहाज-द्वारा मुसाफिरी करनेवाले मुसाफिरों के पास जाया करता था। महीने मे चार-छ बार यह मौका मिल जाता और

इस से ब्राह्मण का किसी प्रकार निर्वाह हो जाता । एक वार उसकी स्त्री को प्रसूति का अवसर आया । सदा की अपेक्षा पैसे की अधिक आवश्यकता पडी, इस लिए ब्राह्मण अधिक आजीजी करके मुसाफिरों से पैसा मांगने लगा । समय अधिक लगने से जहाज रवाना हो गया । थोडी दूर जाने पर ब्राह्मण को जहाज के चलने का पता चला । उस ने जहाज खडा रखने को बहुत कुछ कहा-सुना, पर वहा कौन उसे दाद देता था ? आखिर रोता-कलपता हुआ वह अन्य मुसाफिरों के साथ पडा रहा । रास्ते मे जब अपनी असहाय स्त्री का स्मरण होता, तो उस के दुःख का ठिकाना न रहता, पर वह लाचार था—लौटने का कोई मार्ग न था । कुछ समय बाद वह दूर परदेश जा पहुचा । वहा बडे कष्ट से उस ने देवता की आराधना की तो उसे चिन्ता-मणि रत्न प्राप्त हो गया । वह प्रसन्न होकर अपने देश की ओर रवाना हुआ । चिन्तामणि रत्न को जेब में या कपडे मे बांधकर न रख हाथ मे ही रखा । उसे भय था कि शायद कभी कोई जेब काट ले या गाठ ले । मनुष्यों ने उसे बहुत समझाया बुझाया, पर उसने कहीं न रखा, उसे हाथ मे ही लिये रहा । हाथ भी जहाज के बाहर रखा, इसलिए कि जहाज का कोई आदमी रत्न छीन न ले । एक वार बैठे बैठे उसे नींद का झोंका आया, मुट्ठी ढीली हुई और रत्न समुद्र के पेटे मे जा पडा । रत्न के गिरते ही उसकी नींद उडी, पर अफसोस ! सिवाय निराशा और विलाप के उस के पास कुछ भी न था । रत्न उस के हाथ लगना सम्भव ही न था, अतएव वह पुकार-पुकार कर रोने लगा । मनुष्यों ने उसे धीरज बंधाया, पर

वह रोते-रोते बोला—हाय ! इतनी बड़ी दरिद्रता भोगने के बाद बड़ी भारी कठिनाई से इच्छित वस्तु—चिन्तामणि रत्न मिल पाया था, पर उसका मैं कुछ भी उपयोग न कर पाया। अब जिन्दगी-भर यही अवस्था भुगतनी पड़ेगी। हाय ! क्या गया हुआ रत्न अब मुझे मिल सकता है ? कभी नहीं। इस प्रकार कहकर वह मस्तक कूटने लगा। अन्त में खेद करता हुआ जैसे घर से निकला था, वैसे ही वापस आ गया। जिन्दगी-भर उसका पश्चात्ताप नहीं मिटा।

इसी प्रकार मनुष्य-भव और बोधिरत्न का अवसर हाथ से निकल गया, तो मूर्ख ब्राह्मण की भांति पश्चात्ताप करना पड़ेगा ? हानि होगी और ऊपर से हंसी होगी, अतएव बोधिरत्न की प्राप्ति करके यत्न से सदा उसका रक्षण करना चाहिए॥ ८१-८२॥

(११) धर्म-भावना

[बोधिरत्न की प्राप्ति होने पर धर्म की मर्यादा मे प्रवेश होता है। अत बोधिदुर्लभ-भावना के पश्चात् धर्म-भावना का निरूपण किया जाता है।]

धर्म-भावना

येन समग्रा सिद्धिर्दिव्यर्द्धि श्चापि जायते शुद्धि'।
धर्म स किंस्वरूपो, जानीहि त्व तत्वधिया तत्र ॥ ८३ ॥

धर्म की परीक्षा

मम सत्य मम सत्यं, वदन्ति सर्वे दुराग्रहाविष्टा।
नैतद्वचसा मुह्येत्-किन्तु परीक्षा बुद्धिमता कार्या ॥ ८४ ॥

अर्थ—जो सकल सिद्धि, दिव्य ऋद्धि और आत्मशुद्धि को उत्पन्न करती है, उस धर्म का स्वरूप क्या है, इस पर विचार करना चाहिए। हे भद्र ! यह विचार किसी प्रकार का पक्षपात रख कर या ऊपरी नजर से नहीं करना है, पर निष्पक्ष भाव से तात्त्विक बुद्धि द्वारा करना है ॥८३॥

मतवाद अक्सर दुराग्रह के आवेश वाले होते हैं। इस कारण वे सच्चे तत्व की खोज नहीं कर सकते और न उसे बता ही सकते हैं। हा, वे ऐसा जरूर कहते हैं कि—हम जो कहते हैं सो सत्य है, हम जो

मानते हैं वही तत्व है, दूसरों के पास सत्य नहीं है, परन्तु यह वचन दुराग्रह-पूर्ण होने से विश्वास करने या ग्रहण करने योग्य नही है। उन पर किसी को मोहित न हो जाना चाहिए। अपनी विचार-शक्ति और परीक्षा-बुद्धि की कसौटी पर उन वचनों की जाच करके जो ग्रहण करने योग्य हो, उन्हे ही ग्रहण करना चाहिए ॥ ८४ ॥

विवेचन—साधारणतया जगत् मे तीन चीजे चाहने योग्य हैं—ऋद्धि, सिद्धि और शुद्धि। ऋद्धि में तमाम मानवीय और दैविक वैभव का समावेश होता है। सिद्धि मे अणिमा आदि विभूतियाँ जंघाचरण, विद्याचरण वगैरह लब्धियों और चमत्कार करने वाली शक्तियों का समावेश होता है। कर्म के आवरण हटने पर आत्मा की जो विशुद्धता होती है, उसे यहा शुद्धि शब्द से कहा गया है। ऋद्धि संसारी जीवों की अभिलाषा का विषय है, सिद्धि योगियो की इच्छा का विषय है तथा शुद्धि जिज्ञासु तथा मुमुक्षु जीवो को इष्ट है। साधारणतः ससार की प्रत्येक प्रवृत्ति का लक्ष्य इन्हीं तीनों मे से कोई होता जिस के लिए दुनिया के लोग देश-विदेश मारे-मारे फिरते हैं, प्राणो को जोखिम मे डालते हैं, शारीरिक कष्ट उठाते हैं, उन तीनो चीजों को पाने का मुख्य साधन एक धर्म है। सिर्फ धर्म ही एक ऐसा है, जिस मे ऋद्धि, सिद्धि और शुद्धि, तीनो की खेती आबाद होती है। जिस धर्म का फल इतना विशाल और मधुर फल देने वाला है, उस धर्म का स्वरूप जानने की प्रत्येक मनुष्य को पूरी आवश्यकता है और इसी लिए कहा है—'जानीहि त्व तत्त्वधिया।' त्वं शब्द जिज्ञासु के लिए प्रयुक्त हुआ

है, अर्थात्—हे जिज्ञासु ! यदि तुझे ऊपर बताये हुए फल की चाह है, तो धर्म के स्वरूप को पहचान, मगर ऊपरी नजर से नहीं, तत्व बुद्धि से। किसी के कहने से नहीं, मगर हेतु-न्यायपूर्वक पर्यालोचन करके। ऊपरी नजर से देखने से धर्म का सच्चा रहस्य नहीं जाना जा सकता। फिर आज कल ऐसे निष्पक्ष मनुष्य भी बहुत कम हैं, जो अपने मान लिये गये विचारों को घुसेडे बिना धर्म का निखालिस स्वरूप बतला देवें। बहुतेरे धर्म के उपदेशक तो यह कहकर ही अपनी महत्ता का टिंटोरा पीटते फिरते हैं कि—'जो मेरा सो सच्चा, दूसरों के पास सचाई है ही नहीं, बस अकेले हमीं संसार में धर्म के असली प्रकाशक हैं, हमीं मोक्ष का प्रमाणपत्र दे सकते हैं, किसी दूसरे से वह नहीं मिल सकता।' वे इस प्रकार दूसरों का तिरस्कार भी करते हैं। जो लोग दुराग्रह से वितंडावाद करके खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति में पड़ते हैं, उनके वचनों में भी धर्म का रहस्य कैसे जाना जा सकता है ? प्रथम तो धर्म की सच्ची कुञ्जी सत्य है और इसी का उनमें अभाव पाया जाता है। राग-द्वेष और पक्षपात के कारण उनकी रीति-भांति उलटी होती है, अर्थात्—वे काली बाजू को धौली और धौली को काली बाजू कहकर प्रकट करते हैं। अतएव, किसी के कथन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। बहुत से मतवादियों में यदि अंगुलियों पर गिनने योग्य सत्यवादी और निष्पक्ष व्यक्ति हुए भी, तो परीक्षा किए बिना उनकी पहचान नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, दुनिया में ढोंग का ठिकाना नहीं है, इस लिए कई बार भीतर राग-द्वेष से भरे हुए, पर ऊपर से मध्यस्थता का ढोंग करने वाले

कितने ही दम्भी महात्मा अपने आपको शुद्ध महात्मा कह कर प्रसिद्ध करते हैं और बहुतेरे भोले-भाले लोग भीतर की परीक्षा किये बिना ही उनके ढोंग में मोहित होकर सत्यवादी को मतवादी और मतवादी को सत्यवादी मानने की भूल कर बैठते हैं. इसी लिए कहा है कि 'परीक्षा बुद्धिमता कार्या।' बुद्धिमान पुरुषों को चाहिए कि वे धर्म का सच्चा स्वरूप समझने के लिए भीतर और बाहर—दोनों प्रकार से धर्म की परीक्षा करे। कहा है—

यथा चतुर्भि कनक परीक्ष्यते, निघर्षणच्छेदन तापताडनै।
तथा च धर्मो विदोपदेशकै श्रुतेन शीलेन समाधिभावत.॥

अर्थ—सोने के ग्राहक खरीदने से पहले चार प्रकार से उसे परखते हैं—पहले उसे कसौटी पर घिसते हैं, इससे निश्चय न हो तो उसे काटते है, इससे भी परख न हो सके, तो अग्नि में तपाते हैं और फिर हथौडियो से पीटते हैं। इसी प्रकार धर्म के जिज्ञासुओं को भी चार प्रकार से धर्म की परीक्षा करनी चाहिए। प्रथम, तो यह कि उसके उपदेशक कैसा चरित्र पालते हैं यह देखना, इससे निश्चय न हो, तो उस धर्म के शास्त्र कैसे हैं—सगत हैं या नहीं, यह देखना चाहिये, इसमें भी निश्चय न हो, तो यह जानना चाहिए कि धर्म का आचार—वर्त्ताव—कैसा है ? उसमे शान्ति—समाधि का कितने अंशो मे आविर्भाव है ? यह चार बाते जिसमे ठीक-ठीक पाई जावेगी, वही धर्म माननीय हो सकता है। एक-दो पैसे की हाड़ी लेते समय चारों ओर घुमा-फिरा कर, उलट-पुलट कर, टकोरा मारकर उसकी परीक्षा की जाती है, तब धर्मकी

पहचान के लिए पूरी जाँच क्यों न की जाय? धर्म विषयक अज्ञानता जितनी हानि पहुँचाती है, उससे अधिक हानि अंधश्रद्धा से होती है। परीक्षा किये बिना और गहरा उतरे बिना धर्म के नाम पर चलने वाली कुरूढ़ियों और खोटी मान्यताओं को पकड़ रखना, यह अंधश्रद्धा कहलाती है। यह अंधश्रद्धा स्वपर को अज्ञान के गड्ढे में गिरा कर विपरीत परिणाम पैदा करती है, इसी लिए अंधश्रद्धा और अज्ञान को दूर कर तात्त्विक बुद्धि से धर्म को पहचानना चाहिए ॥ ८३-८४ ॥

किस का कहा हुआ धर्म सच्चा है?

यस्य न राग द्वेषौ, नापि स्वार्थो ममत्वलेशो वा।
तेनोक्तो यो धर्म, सत्य पथ्य हितहि त मन्ये ॥ ८५ ॥

अर्थ—जिस से राग द्वेष का सर्वथा अभाव हो गया हो, द्रव्य, कीर्त्ति, गौरव या प्रतिष्ठा पाने की वृत्ति जिस में ज़रा भी नहीं हो—'मैंने सच्चा या झूठा जो भी मान लिया है वही ठीक है।' इस प्रकार का आग्रह या ममत्व जिस में लेशमात्र भी नहीं है, ऐसे परमार्थी महापुरुष ने सिर्फ प्राणियों के कल्याण के लिए ही जिस धर्म का उपदेश दिया है, वही धर्म सत्य है, पथ्य है, हितकारी है और वही बुद्धि की कसौटी पर खरा उतर सकता है, अत ऐसे परमार्थी पुरुषों द्वारा आचरित और प्रकाशित धर्म श्रेष्ठ माना जा सकता है ॥ ८५ ॥

विवेचन—पहले काव्यमें बतलाया जा चुका है कि धर्म की पहली परीक्षा का आधार उस धर्म के प्रकाशक या उपदेशक पर है।

रसायन औषधि का अच्छा या बुरा होना उसे तैयार करने वाले वैद्य पर निर्भर है। कुशल वैद्य ठीक-ठीक परिमाण में वस्तुएँ लेकर ठीक परिमाण में पुट देकर, प्रभाव उत्पन्न करने वाली उत्तम औषधि बनाता है। इस के विपरीत अनजान वैद्य के हाथों उन्हीं वस्तुओं से मात्रा, पुट, पकाने आदि की गडबडी के कारण ऐसी खराब दवा तैयार होती है कि जिस रोग के लिए वह बनाई जाती है, उसे मिटाने के बदले और ज्यादा बढा देती है। कहावत है—'नीम मुल्ला खतरे जान, नीम हकीम खतरे जान।' अर्थात्—अधूरा गुरु धर्म को जोखिम में डालता है और अधूरा हकीम वैद्य बीमार के प्राणों को जोखिम में डाल देता है। जैसे दवा बनाने वाला और देने वाला वैद्य सुयोग्य होना चाहिए, उसी प्रकार धर्म की स्थापना करने वाला और उसका उपदेश देने वालाभी पूर्ण योग्यता वाला होना चाहिए। इस की योग्यता कैसी होनी चाहिए, सो इस काव्य में बतलाया गया है। प्रथम तो राग-द्वेष से रहित, तटस्थ होना चाहिए। प्रकाशक—स्थापक और उपदेशक में यदि राग-द्वेष भरा होगा, तो वह राग-द्वेष उसके द्वारा प्ररूपित धर्म में भी आये बिना नहीं रह सकता। जहा धर्म में राग-द्वेष की परिणति घुसी, वहा धर्म टिक ही नहीं सकता, क्योंकि धर्म का लक्ष्य सम-भाव या मध्यस्थ्य है। राग-द्वेष परिणाम, धर्म को अपने स्थान से च्युत कर देता है। धर्म का इस से पतन हो जाता है। अतएव धर्म का स्थापक-प्रकाशक, वीतराग—राग-द्वेष रहित होना चाहिए। प्रकाशक ने राग-द्वेष से हीन शुद्ध धर्म बताया हो। पर पीछे के उपदेशक उस में राग-द्वेष का विष मिला

हैं, तो भी धर्मकी बड़ी दुर्दशा होगी, अतएव उपदेशकभी राग-द्वेष को सर्वथा या अधिकांश में जीतनेवाले होने चाहिए। धर्म के प्रकाशक को देव कहते हैं और धर्मके उपदेशक गुरु कहलाते हैं। देव और गुरु ये दो तत्व यदि शुद्ध हों, तो उनसे प्राप्त होनेवाला धर्म-तत्व भी शुद्ध ही होगा। देव और गुरु में स्वार्थवृत्ति भी न होनी चाहिए। स्वार्थी मनुष्य धर्म का सच्चा उपदेश नहीं दे सकता। जिसे पैसे का स्वार्थ होता है, वह पैसे से दब जाता है। मान या कीर्ति का स्वार्थ हो, तो भी वह समाज के अधिकांश लोगों के दबाव में रहता है। ऐसे मनुष्य निस्पृह होकर मध्यस्थतासे सत्य उपदेश देनेमें अकचकाते हैं। निःस्वार्थ और निस्पृह पुरुष ही सत्योपदेशक हो सकता है। वक्ता या उपदेशक का तीसरा गुण निर्ममत्व ही है। ममता, अर्थात्—खोटी वस्तु में अपनेपन की भावना। जहां ममता है, वहां निष्पक्षता नहीं रह सकती और निष्पक्षता के बिना मध्यस्थता असंभव है। जहां मध्यस्थता नहीं, वहां समान भाव—समता नहीं। धर्म के उपदेशक में समभाव की पूरी-पूरी आवश्यकता है, अतः उसमें ममता का अभाव अवश्य होना चाहिए।

ऊपर लिखे अनुसार वीतराग, दशा, निस्वार्थ वृत्ति और निर्ममता ये तीन गुण जिसमें प्रकाशमान हों, उसीके द्वारा प्ररूपित धर्म सच्ची कसौटी पर चढ़ सकता है। यद्यपि यह ठीक है कि जहां वीतराग दशा होगी, वहां निस्वार्थवृत्ति और निर्ममत्व भाव नियम से होगा। फिर इन दो विशेषणों को कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती, तथापि प्रथम गुण देव के लिए और दूसरे-तीसरे गुण गुरु के लिए बताये गये हैं।

वीतराग देव और निस्वार्थी तथा निर्ममत्वी गुरु का बनाया हुआ धर्म ही सच्चा हो सकता है ॥८५॥

धर्म के भेद

श्रुता चरणाभ्यां द्विविध., सज्ज्ञानदर्शन चरित भेदाद्वा ।
धर्मस्त्रेधा गदित., सोऽयं श्रेय. पथ समाख्यात. ॥८६॥

धर्म के आविर्भाव का क्रम

सप्तप्रकृत्युपशमाऽऽदितः उदयति गुणपदे चतुर्थेऽलम् ।
धर्म: केवलमाद्योऽन्यलवोपि च पञ्चमे इयं षष्ठे ॥ ८७ ॥

अर्थ—आत्मा को परभाव में न जाने देकर अपने स्वभाव मे धारण करने वाला धर्म है। वह दो प्रकार का है—श्रुत धर्म और चरित धर्म। श्रुत के भी दो भेद हैं—ज्ञानधर्म और दर्शनधर्म, अत. ज्ञान दर्शन और चरित्र—इन तीन भेदों को रत्नत्रयी या रत्नत्रय कहा जाता है। रत्नत्रय मोक्ष का कारण है। कहा भी है—'सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन सम्यक् चारित्राणि मोक्षमार्ग'।' जो मोक्ष का मार्ग है, वही धर्म का सच्चा स्वरूप है ॥८६॥

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, समकित मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय, और मिश्र मोहनीय इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम या क्षय से चौथे गुणस्थान में श्रुत धर्म का आविर्भाव होता है। इस गुणस्थान मे विरति रूप चरित्र धर्म नहीं होता, किन्तु दृष्टि शुद्ध हो जाने से श्रुतिधर्म की सम्पत्ति रहती है। दूसरे चरित्र-धर्म के दो भेद

हैं—एक देश चरित्र और सर्वथा चरित्र। देश चरित्र पाचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया और लोभ को दूर करने से होता है और सर्वविरति—सर्वथा चारित्र्य की प्रत्याख्यानी की चौकडी को भी हटाने से छठे गुणस्थान मे प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि मोहनीय कर्म की अमुक-अमुक प्रकृतियों का क्षय, क्षयोपशम पर श्रुत और चारित्र्य धर्म के आविर्भाव का आधार है, अर्थात—चौथे गुणस्थान में अकेला श्रुतधर्म, पाचवें मे श्रुतधर्म और एक देश-चारित्रधर्म तथा छठे गुणस्थान में श्रुत और सम्पूर्ण चरित्र्यधर्म का उदय होता है ॥ ८७ ॥

विवेचन—देव-गुरु की योग्यता से धर्म की योग्यता बताकर प्रकृत दो काव्यों में धर्म का स्वरूप बतलाते हुए धर्म की स्वतः सिद्ध योग्यता बतलाई जा रही है। धर्म की अन्य परीक्षाएं श्रुत, शील और समाधि हैं। जिस धर्म के निरूपक शास्त्र अविरुद्ध, निर्दोष, और प्रमाण-सिद्ध सत्य तत्त्व का प्रतिपादन करें, असत् उपदेश न करें, वह श्रुत-शास्त्र, धर्म की दूसरी परीक्षा है। जो धर्म सदाचार रूप हो और समाधि को उत्पन्न करता हो, वह धर्म की तीसरी और चौथी परीक्षा है। उदाहरण के लिए—जैन-धर्म के प्रकाशक श्री ऋषभदेव से श्री महावीर पर्यन्त २४ तीर्थंकर हुए। चौबीसों के चरित्र पढ़ने से ज्ञात होता है कि वे काम, क्रोध, मोह, मद आदि दोषों से रहित थे। राज्यऋद्धि मिलने पर उन्होंने उसे तिनके की तरह त्याग दिया था। वे महापुरुषों के योग्य पवित्र-से-पवित्र जीवन व्यतीत करते थे। शत्रु-मित्र, तृण-मणि, पत्थर-धन सबको समान गिनते थे। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी

थे, अतएव प्रतीत होता है कि जैन-धर्म के प्रकाशक देव पूरी-पूरी योग्यता रखनेवाले थे। जैन-धर्म के उपदेशक गुरु भी कंचन-कामिनी के त्यागी, माया-ममता के त्यागी, पंच महाव्रतधारी, अखंड ब्रह्मचारी, सत्यवादी, स्वाश्रयी, निस्वार्थी और परमार्थ जीवन बितानेवाले हैं। देव गुरु की उत्तमता के कारण जैन-धर्म की उत्तमता सर्वत्र विख्यात है। जैन-धर्म के शास्त्र जीव-अजीव आदि प्रमाण-सिद्ध नव-तत्त्वों का प्रतिपादन करने वाले हैं, जिनके जानने से भली भाँति मालूम हो जाता है कि जीव को दु:ख-सुख क्यों होते हैं? छुटकारा किस प्रकार मिल सकता है। पुण्य क्या है? पाप क्या है? धर्म क्या है, अधर्म क्या है? कर्म की वृद्धि और हानि किस प्रकार होती है? ये शास्त्र तीर्थङ्करों ने कहे हैं और गणधरों ने रचे हैं, अतएव प्रमाण रूप हैं। अबाधित तत्त्व को दर्शानेवाले हैं। इस से भी जैन-धर्म की उत्तमता प्रमाणित होती है। जैन-धर्म का स्वरूप श्रुत-धर्म, और चरित्र-धर्म इस प्रकार दो हिस्सों में बंटा हुआ है। श्रुत-धर्म, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन-रूप दो भागों में विभक्त है, इस प्रकार सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चरित्र के दायरे में धर्म का समावेश होता है। सम्यग्ज्ञान, अर्थात्—पदार्थों का यथार्थ ज्ञान, सम्यक्दर्शन, अर्थात्—यथार्थ निश्चय—श्रद्धान, सम्यक्चारित्र्य, अर्थात्—शुद्ध वर्तन, जैसे—किसी को पीड़ा न पहुंचाना, असत्य भाषण न करना, परायी वस्तु बिना दिये न लेना, ब्रह्मचर्य पालन, निष्परिग्रही—सन्तोषी होना। चलने में, बोलने में, जीवन-निर्वाह करने में, वस्तु उठाने-रखने में, शारीरिक आवश्यकता की

पूर्ति में, असावधानी न करके यत्नवान् होना। संक्षेप में ऊंचे दरजे के सदाचार को चारित्र्य कहते हैं। यह तीन तत्व ही जैन-धर्म के मोक्षमार्ग को साबित करते हैं और वास्तव में मोक्षमार्ग ही धर्म गिना जाता है। हिंसा, असत्य, ठगी, विश्वासघात, चोरी, जारी, तृष्णा, मांस-भक्षण, जूआ-खेलना, वेश्या-गमन, शिकार, क्रोध, मान, माया, लोभ, चुगली, निन्दा आदि दोषों को जैन-धर्म दूर हटाता है, अर्थात्—सदाचार की कसौटी में जैन-धर्म की उत्तमता पूर्णरूप से सिद्ध होती है। समाधि—सुलह शान्ति के विषय में भी जैन-धर्म उच्च स्थान प्राप्त करने का अधिकारी है। जैन-धर्म बाह्याचार की अपेक्षा अन्तर आचार—भावों की शुद्धता को अधिक महत्व देता है। बाह्याचार में कोई कितना ही बढ़ा-चढ़ा क्यों न हो, पर जब उसने मोहनीय की प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम या क्षय नहीं कर पाया, तब तक वह गुणस्थान की उत्तम श्रेणी पर नहीं चढ़ सकता और न उस धर्म का उच्च पद ही पा सकता है। इसके लिए अभव्य का उदाहरण ही बस होगा। अभव्य जीव बाह्याचार का निर्दोष पालन करता है, पर आन्तर-शुद्धि के बिना प्रथम गुणस्थान को छोड़कर आगे नहीं बढ़ सकता। धर्म का आविर्भाव चौथे गुणस्थान से ही होता है। चौथा गुणस्थान राज्यसत्ता से, श्रीमन्ताई से, अधिकारी के दबाव या मेल-जोल आदि से नहीं प्राप्त किया जा सकता। वह तो मोहनीय की प्रकृतियों को जीतने से, अर्थात्—उपशम, क्षय या क्षयोपशम करने से ही प्राप्त होता है। यह गुणस्थान सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन रूप श्रुतधर्म के दो

दायरों मे समा जाता है। चारित्र्य के दायरे तक चौथे गुणस्थान की सीमा नहीं है। यह गुणस्थान तो धर्म की नींव डालता है। यहां धर्म के एक अंग रूप तत्त्व-ज्ञान और तत्त्व-निश्चय का आविर्भाव होता है। धर्म के दूसरे अंग चारित्र्य का विकास आंशिक रूप से पांचवे गुणस्थान मे और पूर्ण रूप से छठे गुणस्थान मे होता है। पांचवा गुणस्थान देशविरति का है—श्रावकधर्म का है, तब छठा गुणस्थान सर्व विरति—साधु का है, जहां व्रत रूप चारित्र्य की पूर्ण निष्पत्ति हो जाती है। उसके बाद ज्यों-ज्यों मोहनीय की प्रकृतियों का अधिकाधिक उपशम या क्षय होता जाता है, त्यों त्यों चारित्र्य की विशुद्धि होती जाती है और ज्यों-ज्यों चरित्र की विशुद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों गुणस्थान की श्रेणी पर चढा जाता है। मोहनीय की सब प्रकृतियों का उपशम होने पर ग्यारहवां और क्षय होने पर बारहवां गुणस्थान प्राप्त होता है और परिणाम-स्वरूप केवल ज्ञान केवल दर्शन की उत्पत्ति होने पर तेरहवां गुणस्थान प्राप्त होता है। इस गुणस्थान के बाद आयुष्य का अंत होने पर चौदहवां गुणस्थान पाकर अवश्य ही मोक्ष का लाभ होता है। इस प्रकार कषायों की क्षीणता से चारित्र्यधर्म की वृद्धि बतलाते हुए यह जताया गया है कि शांति और समाधि में ही धर्म की उत्क्रांति होती है, अतएव चारों कसौटियों पर जैन-धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। यह श्रेष्ठता श्रुत और चारित्र्य धर्म के विकास मे और गुणस्थान के चढने मे है। सिर्फ बातें करने मे नहीं है, इस रहस्य को भूल न जाना चाहिए ॥८६-८७॥

धर्म का फल

तत्फलमवाप्यते नो कामगवीतः सुरद्रुमेभ्यो वा ।
सुरचिन्तामणितो वा, धर्मोऽपूर्वेहि यत्फलं दत्ते ॥८८॥

धर्म का माहात्म्य

तद्वस्तु न त्रिलोके, जिनधर्मात्तु भवेन्न यत्साध्यम् ।
तद्दुख नो किञ्चिद्यस्य विनाशो न जायते धर्मात् ॥८९॥

अर्थ—धर्म के सेवन से जिस फल की प्राप्ति होती है, वह फल कामधेनु गाय, कल्पवृक्ष, देवता या चिन्तामणि रत्न के सेवन से नहीं मिल सकता। कामधेनु आदि से जिस फल की प्राप्ति होना सम्भव है, वह फल थोडे समय के लिए भी पूर्णसिद्धि नहीं देता, जबकि धर्म सेवन से मिलनेवाला मोक्षरूप फल चिरकाल-स्थायी और पूर्ण सुखदाता है ॥८८॥

स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और पाताललोक मे कौन-सी उत्तम से उत्तम वस्तु ऐसी है, जिसकी सिद्धि परमार्थी महापुरुष द्वारा प्ररूपित धर्म से न हो सकती हो ? और ससार मे बडे-से-बडा कौन-सा दु ख है, जिसका धर्म से विनाश न हो सके ? अर्थात्—धर्म सम्पूर्ण दु खो का नाश करके सम्पूर्ण सिद्धि का दाता है। धर्म से उत्तम और कोई वस्तु नहीं है और न धर्म से अधिक सामर्थ्य किसी वस्तु मे है। धर्मका माहात्म्य अकथनीय है। ॥८९॥

विवेचना—साधारणतया मनुष्य को यह शंका हो सकती है कि

धर्म किसलिए करना चाहिए ? धर्म का ऐसा कौन-सा फल है जिसकी आशा से सासारिक सुख को तिलांजलि देकर चरित्र्य आदि का कष्ट उठाया जाय ? इस शंका का उत्तर उल्लिखित दो काव्यों मे दिया गया है। प्रत्येक प्रवृत्ति दु.ख का नाश करने और सुख प्राप्त करने के लिए की जाती है। मनुष्य भोजन इसलिए करता है कि उसका भूख-रूप दु ख मिट जाय और तृप्ति-रूप सुख की प्राप्ति हो। दवा इसलिए ली जाती है कि रोग-जन्य दु.ख की निवृत्ति हो कर आरोग्य सुख का उदय हो। धन प्राप्त करने का प्रयास इसलिए किया जाता है कि दारिद्र्यता—तंगी का दु ख दूर हो और आवश्यक सामग्री प्राप्त कर सुख प्राप्त किया जाय। फल दो प्रकार के होते हैं—एक तो तत्काल होने वाला और दूसरा कालान्तर मे होने वाला। भोजन का फल पहले प्रकार का है, क्योंकि भोजन करते ही तत्काल भूख की निवृत्ति हो जाती है। दवा और धन प्राप्त करने की प्रवृत्ति उतनी तात्कालिक नहीं है, क्योंकि आरोग्य और पैसे की प्राप्ति तत्काल शायद ही हो सकती है। साधारणतया तो इनका फल कालान्तर मे ही मिलता है। किसान जमीन मे बीज बोता है, उसका फल दो-चार महीना बाद मिलता है, माली पेड़ लगाता है, उसका फल वर्षों बाद मिलता है, और कोई-कोई पेड तो ऐसे होते हैं, जिनके फल बोने वाले को न मिल कर उसकी संतान को ही मिलते हैं। अन्वेषणों के सम्बन्ध मे भी यही बात है। बहुत से अन्वेषक (खोजी) अन्वेषण की नींव डाल कर ख्याति पाये बिना यों ही दुनिया से कूच कर जाते हैं, उस की खोज

का परिणाम दूसरों ने ही पाया है। दक्षिण ध्रुव की खोज मे बहुत लोगों ने प्रयास किया और वे फल दूसरो के लिए छोड़कर चल बसे। फिर भी वह प्रवृत्ति अभी बंद नहीं हुई है, यही उनकी महत्ता का एक लक्षण है। महान पुरुष तात्कालिक फल की अपेक्षा विलम्ब से होने वाले फल की कीमत अधिक आकते हैं। मजदूर दिन के फल का ही विचार करता है, तो व्यापारी वर्ष-भर के फल पर नजर फेंकता है। अन्वेषक एक अन्वेषण के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देते हैं, फिर भी फल के लिए आतुर नहीं होते। उनकी आशा का आधार श्रद्धा-विश्वास होता है, अतएव कालातर में मिलनेवाली, किन्तु जबर्दस्त फलवाली प्रवृत्तियो मे वे मग्न रहते हैं। 'समय गोयम मा पमा-यए' 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' अर्थात्—'कर्त्तव्य बजाने मे एक समय का भी प्रमाद न करना, काम करना ही मनुष्य के अधीन है, फल पाना मनुष्य के हाथ की बात नहीं है।' इस प्रकार के वचनों पर श्रद्धा रखकर ऐहिक लालसाओं को तिलाञ्जलि देकर बुद्धिमान पुरुष कठिनाई-भरे कार्यों को उठाते हैं। तत्काल फल चाहनेवाले लोग कभी महान् कार्य नहीं कर सकते और न उन्हे महान् पद ही प्राप्त हो सकता है; अतएव धर्म का फल क्या है ? यह प्रश्न करनेवाले को सिर्फ तात्कालिक फल तक ही विचार न करना चाहिए; वरन् कालान्तर में होनेवाले अदृश्य फल तक नज़र दौड़ानी चाहिए। दृश्य और अदृश्य उभय, परिणाम का अवलोकन करना ही निर्णय का तरीका है। धर्म का फल यद्यपि तात्कालिक भी

है, क्योंकि धर्म करनेवाले को तत्काल ही हृदय में जो शांति मिलती है, अशुभ कर्म की निवृत्ति होती है, वह धर्म का तात्कालिक फल है; पर वह दृश्य नहीं—चर्म-चक्षु से उसे देख नहीं सकते। वह सिर्फ ज्ञान-नेत्रों से या स्वानुभव से ही जानने योग्य है। धर्म का वास्तविक फल अदृश्य ही है। भविष्य में मिलनेवाला फल भी वर्त्तमान में अदृश्य ही है, फिर भी वह संकुचित या अल्प नहीं, किन्तु अत्यन्त विशाल है। धर्म जो फल देता है, वह फल किसी भी अन्य वस्तु मे नहीं मिल सकता। फूल, माला, वस्त्र, आभूषण, स्त्री, पुत्र, मित्र, द्रव्य, वैभव आदि साधारण पदार्थों से मिलनेवाले सुख की तो बात ही क्या है, कामधेनु, पारसमणि आदि असाधारण और अलौकिक वस्तुएं जो फल देती हैं, उन के साथ भी धर्म के महान् फल की तुलना नहीं हो सकती, क्योंकि ये पदार्थ जो फल देते हैं, वह पौद्गलिक, ऐहिक, दुःखगर्भित, अल्पकालीन और सातिशय होता है। मान लीजिए किसी को चिन्तामणि रत्न मिल गया। उसके प्रभाव से खान-पान, वस्त्र, आभूषण, महल, बगीचा आदि चिंतित पदार्थ मिल गये, परन्तु इस से क्या वह मौत से बच जायगा? उसका शरीर रोग और जरा से ग्रस्त न होगा? अशुभ कर्मों का नाश होकर चित्त पूर्ण प्रसन्न हो जायगा? कदापि नहीं। जरा, रोग, मृत्यु, अशांति आदि उपद्रव इन ऊपरी चीजों के साथ रह सकते हैं, जब कि धर्म के साथ नहीं रह सकते। धर्म कालान्तर मे जो फल देता है, वह आत्मिक आनन्द है, जो अनन्त और शाश्वत है। उस के साथ दुःख का मिश्रण नहीं होता। विविध

प्रकार के दु खों में से कोई भी रह नहीं सकता। धर्म से मोक्ष की प्राप्ति होने पर जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, आधि, व्याधि, परतन्त्रता, भय, आदि सब का विलय हो जाता है। यह फल सिर्फ धर्म से ही मिल सकता है। स्वर्गीय और मोक्षरूप फल धर्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु से नहीं मिल सकता, इसीलिए धर्म के फल के साथ किसी भी फल की तुलना नहीं होसकती। महान् और सपूर्ण फल देने वाले धर्म के लिए धन, माल, बाग, बगीचा, महल, चिंतामणि और कल्पवृक्ष—इन सब का त्याग करना पड़ता हो, तो बेहतर है कि सब को त्यागकर भी धर्म को स्वीकार करना चाहिए। धर्म का सच्ची भावना से पालन करना, नस-नस मे उसका प्रवाह वहने देना, हाड की मिजा में भी धर्म का रङ्ग लग जाय, इस प्रकार शरीर मन और आत्मा पर धर्म की छाप पडने देना चाहिए ॥८८-८९॥

धर्म-भावना का उपसंहार

दुर्गतिकूपेपतता-मालम्बनमस्ति किं विना धर्मम ?
तस्मात्कुरु प्रयत्न, समयेऽतीते प्रयास वैफल्यम ॥ ९० ॥

अर्थ—हे भद्र! दुर्गतिरूपी कुएँ मे पड़े हुए या पडनेवाले प्राणियो को ऊपर आने या दु ख से बचने का सहारा यदि कोई है, तो वह धर्म ही है। पैसा, सत्ता, राज्य, कुटुम्ब या और कोई वस्तु सद्गति में ले जाने वाली नहीं है। दुर्गति से निकाल कर सद्गति मे या मोक्ष में पहुँचाने वाला एक धर्म ही है। हे भव्य! इसलिए जब तक समय अनु-

कूल है, तब तक धर्म के लिए इच्छानुसार प्रयत्न कर ले। अवसर हाथ से निकल गया, तो सारा प्रयत्न निष्फल होगा और पश्चात्ताप करना पडेगा। फिर मौका मिलना कठिन है, इस लिए लम्बा विचार कर और बिना विलम्ब शुभ पुरुषार्थ करने मे जुट जा। ऐसी व्यवस्था कर कि पीछे पछताने का मौका न आये ॥ ६० ॥

विवेचन—धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है। इस का अर्थ है—धारण करना या सहारा देना 'दुर्गति प्रपतन् प्राणिधारणाद्धर्म उच्यते।' अर्थात्—दुर्गति में गिरने वाले प्राणियों को जो रख लेता है, इस लिए उसे धर्म कहते हैं। 'वत्थुसहावो धम्मो' वस्तु का स्वभाव ही वस्तु का धर्म है ऐसा शास्त्रकार ने बताया है। स्वभाव वस्तु को अपने स्वरूप मे स्थिर रखता है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से यदि च्युत हो जाय, तो बडा गडबड़झाला मच सकता है। पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि, वायु, नदी, समुद्र, आदि पदार्थ अपने अपने स्वभाव में रहते हैं, तभी संसार का ठीक-ठीक व्यवहार चलता है। यदि ये वस्तुए अपने-अपने स्वभाव का त्याग कर दें, तो एक घडी तो क्या क्षण-भर भी जगत् नहीं टिक सकता। पृथ्वी स्थिरता स्वभाव को छोड़ कर हिलने लगे, समुद्र अपनी जल-संग्रह की प्रकृति त्याग दे और पानी फैलाना प्रारम्भ कर दे, तो प्राणियों की कैसी दुर्दशा हो? इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव धर्म, स्थिरता शांति, समाधि, ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य-रूप है। इस स्वभाव मे आत्मा ऊर्ध्वगामी होती है, यही नहीं, वरन् जन्म मरण रहित होकर मोक्ष मे विराजमान होती है। इस के विपरीत

जब पुद्गल के चक्कर मे पड जाती है और अपने स्वभाव से पतित होती है, तब ऊर्ध्वगामी होने के बदले निम्नगामी बन जाती है। स्वर्ग-मोक्ष के बदले नरक-तिर्यञ्च रूप दुर्गति में पड़ती है। ऐसे अवसर दुर्गति में पड़ते हुए जीव को धर्म के सिवाय और कौन बचा सकता है ? संसार में सद्गति और सद्वस्तुए सिर्फ धर्म की छत्र-छाया का आश्रय लेने से ही मिल सकती हैं।

शार्दूल विक्रीड़ित

धर्माज्जन्म कुले शरीरपटुता सौभाग्यमायुर्बलं,
धर्मेणैव भवन्ति निर्मलयशो विद्यार्थसपत्तय ।
कान्ताराच्च महाभयाच्चसततं धर्म परित्रायते,
धर्म सम्यगुपासितो भवति हि स्वर्गापवर्गप्रद ॥

अर्थ—अच्छे कुल में जन्म, नीरोग शरीर, सौभाग्य, लम्बी आयु, बल—सामर्थ्य, निर्मल कीर्त्ति, विद्या, धन और सपत्ति, धर्म से ही मिलती है। जङ्गल के विषम प्रदेश मे बडी-बडी कठिनाइयों मे धर्म ही मनुष्य को बचाता है। धर्म की भली भांति आराधना करने से धर्म ही स्वर्ग और मोक्ष देता है।

विवेचन—बहुत से लोगो का कहना है कि नीति से वर्त्तना ही बस है। धर्म की आवश्यकता ही नहीं, परन्तु यह कथन अधूरा है। नीति की नींव धर्म पर ही अवलम्बित है। जैसे नींव के बिना इमारत नहीं टिक सकती, उसी प्रकार धर्म के बिना नीति नहीं टिक सकती, नीति एक प्रकार की व्यवस्था है, पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है, धर्म

के बिना व्यवस्था हो ही नहीं सकती। प्राणी अपने को जब सुस्वभाव मे नहीं रख पाते, तभी लडाई-झगडे, मार-काट, लूट-पाट आदि अमानुषिक कृत्य होते हैं और नीति भङ्ग होती है। यदि वे सुख-भाव मे स्थिर हो और धर्म की शान्तिदायिनी छाया के नीचे रहे, तो ऐसे कार्य कभी सम्भव ही नहीं हो सकते। नीति, केवल ऐहिक समाज व्यवस्था का रक्षण करती है, जब कि धर्म ऐहिक और पारलौकिक— उभय—व्यवस्थाको सुधारता है। धर्म, समाजको उच्छृङ्खलता, अन्याय और अधर्मके कार्यों से बचाता है और अशुभ कर्मो के आक्रमणों से रक्षा करता है। नीतिशास्त्र भी धर्म के नियमो की बराबरी नहीं कर सकता, तो जातीय और सामाजिक नियमो की तो बातही दूर है। धर्मका मुकाबिला कोई भी नहीं कर सकता। उत्तम-से-उत्तम वस्तु यदि कोई है, तो वह धर्म ही है। ऐसे उत्तम धर्मको प्राप्त करने और विकसित करने का मौका मिला है, सब प्रकारकी अनुकूल सामग्री प्राप्त हो गई है, फिर भी जो आलस्य, प्रमाद, विकथा, निन्दा, हिंसा, मृषा, चोरी, जारी, तृष्णा, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, असूया, क्लेश आदि पापो—दोषों के सेवन मे समय गवा देते हैं, वे बडी-से-बडी भूल करते हैं। ऐसी भूल से बचने के लिए उपसंहार मे कहा गया है कि 'तस्मात् कुरु प्रयत्नम्'—हे भद्र! इस लिए तू प्रयत्न कर। थके या झुंझलाये बिना मोक्ष के मार्ग मे धर्म के राज-मार्ग पर निरन्तर चलता चल। लोग क्या कहते हैं, इस बात की परवाह न करते हुए एक ही ओर अभिमुख होकर रास्ता काटता चल।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

इन वाक्यों के मर्म को हृदयगम करके, निर्भय होकर, धर्म के मैदान में कूदने के लिए कमर कस ले। धर्म किसी जाति या कौम के लिए रिज़र्व (सुरक्षित) नहीं है। 'मारे जिस की तलवार और पाले जिसका धर्म' इस कहावत के अनुसार धर्म प्रत्येक जाति और प्रत्येक कौम के लिए समान है। शर्त यही है कि ऊपर बताये हुए पापों दोषों से बचना चाहिए। भार देकर आदेश करने का कारण यह है कि समय बड़ी तेज़ी से गुज़रता जा रहा है, वह किसी के लिए थमता—रुकता नहीं है। इस के अतिरिक्त गया समय फिर हाथ नहीं आ सकता समय चूक जाने पर बेमौके मिहनत फलदायक नहीं होती। मौसिम की थोड़ी वर्षा भी बहुत फलप्रद होती है। तब बेमौसिम की ज्यादा वर्षा भी उलटी हानि पहुँचाती है। प्रत्येक को मन में इस बात का विचार करना चाहिए कि एक भी क्षण वृथा न चला जाय। प्राप्त हुए अवसर का प्रत्येक क्षण धर्म के उपयोग में आवे, तभी जीवन की सफलता है॥ ६७॥

उपसंहार और ग्रंथ प्रशस्ति.

ग्रन्थ का उपसंहार

एतद्द्वादशभावनाभिरसुमानेकान्ततो यो सक्त—
त्स्वात्मानं परिभावयेत्त्रिकरणै शुद्धै सदा सादरम् ।
शाम्यन्त्युग्रकषाय दोषनिचया नश्यन्त्युपाध्याधयो,
दु.ख तस्य विलीयते स्फुरति च ज्ञानप्रदीपो ध्रुवम् ॥६८॥

अर्थ—जो भव्य जिज्ञासु प्राणी एकान्त में दृढ आसन लगाकर मन, वचन और काय की शुद्धता के साथ उत्कट रुचि और प्रेमपूर्वक आदर सहित, इस ग्रन्थ में वर्णित बारह भावनाओं से सदा अनुकूल समय पर आत्मतत्व का विचार करेगा, उस के मन के कषाय-रूप उग्र-दोष शान्त हो जायँगे, आँधियाँ और उपाधियाँ मिट जयँगी, दु.ख दूर हो जायगा, ज्ञान रूपी दिया प्रकाशमान होने लगेगा और वह एक अपूर्व आनन्द का अनुभव करेगा ॥६८॥

विवेचन—जैन आगमो में जिज्ञासुओं और मुमुक्षुओं के सम्बन्ध म 'अप्पाण भावेमाणे विहरइ' यह वाक्य बारम्बार प्रयुक्त हुआ देखा जाता है । मुमुक्षुओं का समस्त जीवन आत्म-भावना आत्मिक विचार में ही व्यतीत होता है । इसी प्रकार गृहस्थ का जीवन भी उक्त भाव-

नाओं से ही उच्च बनता है। जीवन को कटुक और कलङ्कित बनाने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय हैं। ये चारों महादोष जीवन को दुःखमय कर डालते हैं। इन्हें शान्त करने की उत्तम औषधि भावना है। आधि और उपाधि को छिन्न भिन्न करने वाली भी यही भावना है। वास्तव में दुःख का मूल उपाधि है। उपाधि के हटने पर दुःख का भी नाश हो जाता है, अतएव दुःख का नाश भी भावना से ही होता है। मणि को घिसने से जैसे उस पर ओप आ जाता है, उसी प्रकार भावना भाते रहने से आत्मा पर ओप चढ़ता है—आत्मा उज्ज्वल होता है। इससे अज्ञान का नाश होता और ज्ञान का विकास होता है। काव्य के उत्तरार्द्ध में भावना भाने से होने वाला फल बतलाया गया है और पूर्वार्द्ध में भावना भाने की विधि बताई गई है।

भावना भाने में दो बातों की आवश्यकता है—एक तो आदरप्रेम और दूसरी त्रिकरण शुद्धि। दूसरों के देखा-देखी या बिना समझे-बूझे शब्द बोल लेने या सुन लेने से वास्तविक फल नहीं मिल सकता। सच्चा फल पाने के लिए तो आन्तरिक प्रेम की आवश्यकता है। भावना बोधक श्लोकों को एक बार या अनेक बार बिना प्रेम उच्चारण मात्र कर जाने से बताया हुआ फल नहीं मिल सकता, किन्तु प्रेम से, आदर से यदि पाठ किया या सुना जाय, अर्थात्—हृदय की सच्ची लगन से यदि भावना भाई जाय, तो कषाय की शान्ति आदि उल्लिखित फल अवश्य होता है। खेत में बीज बोने से पहले मन-वचन और कायरूप खेत की शुद्धि करना भी आवश्यक है।

अच्छी जोत अच्छी फसल पैदा करती है। इसी प्रकार मन-वचन और काय की विशुद्धि भी भावना को उत्तेजित कर के उत्तम फल देती है। तात्पर्य यह है कि, जो मनुष्य मन-वचन और काय की शुद्धता के साथ, सच्ची लगन से भावना भावे या इस ग्रन्थ में बताई हुई भावनाओं का श्रवण, मनन, विचरण, पाठ आदि करे, तो वह कषायों पर अवश्य विजय पा सकता है और आधि-व्याधि तथा उपाधि का दमन करके ज्ञान का प्रकाश फैला कर दुःख का नाश कर सकता है और इस प्रकार अन्त में मोक्ष का अक्षय सुख प्राप्त कर सकता है। भावना का साक्षात् फल शान्ति तथा समाधि है और परम्परा फल मोक्ष-प्राप्ति है ॥९८॥

ग्रन्थ-प्रशस्ति

ख्यातो मुख्यजरामरो मुनिवरो लोकाख्यगच्छे मणि—
स्तत्पट्टे मुनिदेवराजसुकृती श्रीमौनसिंहस्ततः।
तस्माद्देवजिनामको बुधवरो धर्माग्रणी शेखर—
स्तत्पट्टे नथुजिन्मुनिः श्रुतधरः सौजन्यसौभाग्यभूः ॥९९॥
तच्छिष्यो हि गुलाबचन्द्रविबुधः श्रीवीरचन्द्राऽग्रज—
स्तत्पादाम्बुजसेवनैकरसिकः श्रीरत्नचन्द्रो मुनिः।
ग्रामे थानगढाभिधे युगरसाङ्केलाब्दे (१९६२) दीपोत्सवे,
तेनेदं शतकं हिताय रचितं वृत्तैर्वरैः शोभितम् ॥१००॥

अर्थ—लोंका गच्छ में मणि समान, लींबडी सम्प्रदाय के नायक

मुनिगण में प्रधान और पृथ्वी पर प्रसिद्धि-प्राप्त पूज्य श्री अजरामर जी स्वामी हुए। उनके पाट पर उनके शिष्य पण्डित श्री देवराज जी स्वामी हुए। उनके पाट पर मुनि-गणों से शोभित महात्मा श्रीमौनसिंहजी स्वामी हुए। उनके पाट पर धर्म-नेताओं में शिरोमणि विद्वद्-वर्ग में माननीय, प्रतापी पुरुष देव जी स्वामी हुए। उनके पाट पर उनके शिष्य सौजन्य और सौभाग्य युक्त शास्त्रवेत्ता पूज्य श्रीनाथुजी स्वामी हुए। उनके शिष्य विबुधवर पण्डित श्रीगुलाबचन्द्रजी स्वामी, जिन्होंने अपने लघु-भ्राता महाराज श्रीवीरजी स्वामी के साथ दीक्षा धारण की थी, उनके चरण-सेवक मुनि श्रीरत्नचन्द्रजी महाराज ने सम्वत् १९६२ में दीपावली के दिन श्री थानगढ ग्राम में, विविध प्रकार के छन्दों से सुशोभित यह भावना-शतक नामक ग्रन्थ रच कर पूर्ण किया ॥९९-१००॥

परिशिष्ट

मैत्री भावना

राग—आसावरी। ताल—त्रिताल

मैत्र्या भूमिरतीव रम्या,
भव्य जनैरेव गम्या ॥ मैत्र्या—ध्रुवपदम्।
भ्रातृ भगिनी सुतजायाभि ।
स्वजनै सम्बन्धिवर्गै ॥
समानधर्म ज्ञातिजनैश्च ।
क्रमशो मैत्री कार्या ॥ मैत्र्या—(१)
कालेऽतीते भवेत्प्रवृद्ध ।
यथा च मैत्री प्रवाह ॥
ग्रामजना ये जानपदा या।
मैत्र्या तेऽन्तर भाव्या ॥ मैत्र्या—(२)
गवादयस्तिर्यञ्च सर्वे।
विकलेन्द्रियास्त्रयोपि ॥
भूता सत्वा ये जगति स्यु.।
सर्वे मैत्र्या साह्या. ॥ मैत्र्या—(३)

यथा यथा स्यादात्मविशुद्धि ।
तथा तथैतद् वृद्धि. ॥
पूर्णां विशुद्धौ मैत्री भावना ।
व्याप्ता स्यात्त्रिजगत्सु ॥ मैत्र्या—(४)
पितृसुतजायाबन्धुता ।
ज्ञाता न येन कदापि ॥
नास्ति तादृक् कोऽपि जनोऽत्र ।
कथमुचिता स्याद् मैत्री ॥ मैत्र्या—(५)
निन्दन्त्यपकुर्वन्ति ये वा ।
घ्नन्ति द्वेषाग्रग्री. ॥
मत्वा तेषां कर्म प्रकोपम् ।
तैरपि मैत्री न छेद्या ॥ मैत्र्या—(६)
शत्रु भावोद्भावनक्लेश-
द्वेषासूया प्रकटनम् ॥
एते सर्वे गुणा पशूनाम् ।
कथमुत्तमजनसेव्या ॥ मैत्र्या—(७)
समयनिभृतशमरसमरमित्व ।
विहर यथेष्टं स्वान्त ॥
कुरु कुरु मैत्री सर्वै. साकम् ।
कमपि नामित्रं चिन्तय ॥ मैत्र्या—(८)

मैत्री भावना

भावार्थ—मनुष्य का हृदय यदि मैत्री भावना की भूमि बन जाय तो वह अत्यन्त रमणीय दिखाई देने लगे—वह न केवल दिखाव में ही रमणीय हो किन्तु अच्छी से अच्छी धान्य उत्पन्न करने वाली उर्वरा भूमि की भाँति उत्तम फल देने वाली भी हो सकती है। ऐसी रमणीय भूमि प्राप्त करने का अधिकार केवल भव्य-भाग्यशाली जनों को ही मिलता है। चाहे जो उस भव्य प्रदेश में विचरने का अधिकार नहीं पा सकता।

मैत्री का क्रम

मैत्री के पहले पात्र एक ही उदर से जन्मे हुए भाई और बहन हैं। सहज सहवास होने और रक्त का सम्बन्ध होने से उन की मैत्री स्वाभाविक है। उसके अनन्तर मैत्री के पात्र पुत्र और पत्नी हैं। यद्यपि पुत्र प्रारम्भिक अवस्था में पालनीय है, अतएव वह मैत्री के योग्य नहीं गिना जा सकता, तो भी "प्राप्ते तु षोडशे वर्षे, पुत्र मित्रवदाचरेत्" इस नीति के पद्य में कहे अनुसार सोलह वर्ष की उम्र के बाद पुत्र को मित्र के समान गिनना चाहिए। पत्नी को भी अपनी गुलाम—पैर की जूती—न मान कर जीवन-सहचारिणी—मित्र ही मानना चाहिए। इस के अनन्तर कुटुम्बी और सगे सम्बन्धियों के साथ मैत्री स्थापित करनी चाहिए। इसी समय मैत्री की जड़ गहरी हो जाने पर स्वधर्मी और

स्वजाति के भाई का नम्बर आता है। अर्थात् फिर इनके साथ मैत्री-भाव से हृदय की एकता स्थापित करना चाहिए। (१)

मैत्री के मार्ग मे चलते-चलते जितना समय व्यतीत होगा, मैत्री का प्रवाह भी उतना ही बढता चला जायगा। ज्यों-ज्यों प्रवाह बढे, त्यों-त्यों जाति-भाइयों के बाद अपने गॉव मे बसने वाली अन्य जातियों और अन्य धर्मियो के साथ मैत्री दृढ करना चाहिए। एक भी ग्राम-बन्धु या देश-बन्धु को मैत्री की सीमा से बाहर नहीं रखना चाहिए। (२)

मनुष्य-जाति के साथ मैत्री का सम्बन्ध जुड जाने के पश्चात् गाय, भैंस आदि तिर्यञ्चों—पशु और पक्षियों की बात आती है। यद्यपि मनुष्य की भॉति पशुओं के साथ मित्रता का सब व्यवहार होना सम्भव नहीं है तो भी उन्हे दु ख न देना, उन के स्वाभाविक अधिकारों का अपहरण न करना, उन पर क्रोध न करना, परितापना न उपजाना, भूखो न मारना, शक्ति से अधिक बोझ न लादना, हर समय उन की सार-सॅभाल रखना, आदि ही यहॉ मैत्री का अर्थ है। पशु-पक्षियों के बाद विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरेन्द्रिय जीवों का मैत्री के क्षेत्र में प्रवेश होता है। विकलेन्द्रिय के अनन्तर भूत और सत्व अर्थात् वनस्पति और पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, इन पॉच स्थावरों पर मैत्री भावना का आरोपण करना चाहिए—उनका रक्षण करना चाहिए। मैत्री भावना घर मे आरम्भ होकर अखिल ससार में समाप्त होती है। (३)

मैत्री की वृद्धि का कारण

मैत्री का कारण आत्मा की विशुद्धि है। ज्यों ज्यों आत्मा विशुद्ध होती जाती है, त्यों-त्यों मैत्री बढ़ती जाती है। मैत्री की वृद्धि आत्मा का एक महान गुण है और वह आत्मा की विशुद्धि प्रयोज्य है। जब आत्मा का परिपूर्ण विकास होता है, समस्त आवरणों का क्षय हो जाता है, तब उसकी मैत्री तीनों लोकों को व्याप्त करके रहती है अर्थात् उस समय वह जगत् के समस्त प्राणियों को अपनी मैत्री भावना की कोटि में समावेश कर लेता है। (४)

मैत्री क्यों न तोड़ी जाय ?

इस संसार में कोई भी प्राणी पराया हो, आत्मीय न हो तो कदाचित् उस के साथ मैत्री न भी रखी जाय, किन्तु ऐसा तो एक भी प्राणी नहीं जिस के साथ कभी न कभी पुत्र पिता, स्त्री-पति, भाई-भाई का सम्बन्ध न हो चुका हो। प्रत्येक जीव के साथ प्रत्येक जीव ने अनन्त बार ये सम्बन्ध जोड़े हैं। अतएव संसार के समस्त प्राणी इस भव के न सही पूर्व भव के तो सगे-सम्बन्धी हैं ही। तब पूर्व-जन्म के सम्बन्धियों के साथ मैत्री न करना क्या किसी भी प्रकार उचित कहा जा सकता है ? कदापि नहीं। (५)

अपकारी के साथ मैत्री

जो लोग हमारी निन्दा करते हैं, समय-समय पर अपमान करते हैं, इतना ही नहीं, पर-द्वेष रख कर किसी समय डंडे मारने से भी नहीं

चूकते, उनकी ओर भी जाते हुए मैत्री के प्रवाह को रोकना नहीं चाहिए। उनकी निन्दक प्रकृति और अपमान करने की आदत उन के पूर्वकृत कर्मों पर आश्रित है। अर्थात उन्हें ऐसे अशुभ कर्मों का उदय हो रहा है कि सज्जनों पर भी वे दुश्मन की-सी नजर रखते हैं। उन के कर्मों का यह दोष यदि हमारी मैत्री भावना को धक्का पहुँचाता है, तो इतने अंशों मे हमारी भी दुर्बलता गिनी जायगी। मैत्री भावना का विकास चाहने वाले को यह दुर्बलता नहीं पोसा सकती। अतएव हमे दुश्मनो के साथ भी मैत्री भावना चालू रहने देना चाहिए। इस के प्रभाव से धोखा देने का समय आने पर दुष्टों की शत्रुता अपने आप ही मित्रता के रूप मे पलट जायगी। (६)

मैत्री मानवीय गुण

किसी के साथ शत्रुता रखना, क्लेश करना, द्वेष रखना, डाह करना, ये सब पशुओं के गुण हैं। एक गली का कुत्ता दूसरी गली के कुत्ते से शत्रुभाव रखता है, कलह करता है। जानवर आपस मे लड़ते हैं। तात्पर्य यह कि द्वेष, कलह, आदि दुर्गुण प्रायः पशुओं में पाये जाते हैं। अतएव ये मानवीय गुण न होकर पाशविक हैं। क्या उत्तम मनुष्य जाति को ऐसे निकृष्ट गुण धारण करना उचित है? नहीं। जब मनुष्य-जन्म पशु-जन्म से उत्तम माना जाता है, तो मनुष्य का कर्त्तव्य है कि जो भी पाशविक वृत्तियाँ या गुण अपने में नज़र आवें तो उन्हें तत्काल ही दूर कर दिया जाय। सब से हिलमिल कर रहें, प्रेम-

भाव और भ्रातृभाव रखे, दूसरे का भला देखकर प्रसन्न हों, दूसरों की सहायता करना, यही मानवीय गुण हैं। यदि ये मानवीय गुण मानव में न हुए और इन के बदले पाशव गुण हुए तो उसे मनुष्य के आकार का पशु ही समझना चाहिए जिसे मनुष्य की कोटि में अपनी गणना कराना हो वह परम मानवीय गुण मैत्री को धारण करे। (७)

मन को मैत्री रखने का उपदेश

हे मन ! तू इधर-उधर भटकना बन्द करके तथा क्लेश, द्वेष, या विष के बीज बिखेरना छोड कर, शास्त्ररूपी सरोवर में भरे हुए उपशम-रस में यथेष्ट अवगाहन कर। एक बार नहीं, बारम्बार तुझे प्रेरणा करता हूँ कि सब के साथ तू मित्रता का ही नाता रख, किसी के साथ द्वेष न रख और किसी भी मनुष्य को अपना शत्रु न समझ। तू सब से मैत्री रखेगा तो सब तेरे साथ मैत्री रखेंगे। तेरा दुश्मन भी एक बार तेरी परछाई के नीचे आकर दुश्मनी छोड मित्र बन जायगा और इतना ही नहीं वरन् जातीय-वैर भी सर्वथा भूल जायगा। अतएव तू अपने खजाने में मित्रता-मैत्री भावना—का ही संग्रह करता चला जा। (८)

प्रमोद भावना

राग भैरवी। ताल—त्रिताल

सद्गुणपाने सक्त मे मन ॥ ध्रुवपदम् ॥

धन्या भुवि भगवन्तोऽर्हन्त: ।

क्षीणसकल कर्माणः ॥

केवल ज्ञान विभूति वरिष्ठा ।

प्राप्ताखिलशर्माण ॥ सद्गुण—॥ १ ॥

धन्या धर्मधुरन्धर मुनय. ।

गृहीत महाव्रतभारा: ॥

ध्यान समाधिनिमग्नमानसा ।

त्यक्त जगद् व्यवहारा. ॥ सद्गुण—॥२॥

सेवाधर्मरता गतस्वार्था: ।

अभ्युदयं कुर्वन्त. ॥

धन्यास्तेऽपि समाज नायका ।

न्याय्यपथे विहरन्त: ॥ सद्गुण—॥ ३ ॥

श्रद्धातो न चलन्ति कदापि ।

गृहीत व्रता गुणगेहा ॥

धन्यास्ते गृहिणो धर्मिण: ।

त्यक्तान्याय धनेहा. ॥ सद्गुण— ॥ ४ ॥

सत्यवादिनो ब्रह्मचारिण ।

प्रकृत्या भद्रा सरला ॥

धन्यास्ते गृहिणोऽपि गुणाढ्या ॥

परोपकारे तरला ॥ सद्गुण—॥ ५ ॥

न्यायोपार्जितलक्ष्म्या पुण्यम ।

शुभ ये कुर्वन्ति ॥

घ्नन्ति दु ख दीनजनानाम ।

धन्यास्ते भुवि सन्ति ॥ सद्गुण—॥ ६ ॥

भजन्ति ये भ्रातृभावनाम ।

रक्षन्ति सत्प्रीतिम् ॥

धन्यास्ते मार्गानुसारिण ।

पालयन्ति कुलरीतिम ॥ सद्गुण—॥ ७ ॥

सुखिनो गुणिनो भवन्तु सर्वे ।

सुहृदो वा स्युरसुहृद ॥

नश्यन्तु जगतो दु खानि ।

सैष प्रमोदो मे हृद ॥ सद्गुण—॥ ८ ॥

भावार्थ—किसी भी व्यक्ति मे गुण देख कर प्रसन्न होना, प्रमोद भावना है। प्रमोद भावना का उम्मीदवार अपने उद्गार निकालता हुआ कहता है—मेरा मन सद्गुणो का पान करने के लिए आतुर है अर्थात् गुणी जनो का गुणगान करके उन गुणो का आस्वादन करने की मुझे उत्कठा हुई है।

सर्वगुण शिरोमणि अर्हन्त भगवान्

वे अर्हन्त भगवान धन्य हैं जिन्होंने चरित्र के मैदान में कूद कर कर्मों की सेना के साथ युद्ध किया और ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार घन घातिया कर्मों की समस्त प्रकृतियों का उच्छेद कर डाला और केवल ज्ञान (सम्पूर्ण ज्ञान) तथा केवल दर्शन (परिपूर्ण दर्शन) की विभूति प्राप्त की। भय शोक सुख, दुःख, सकल्प, विकल्प आदि द्वन्द्वों को दूर कर अखिल आत्मिक आनन्द का अनंत झरना बहाया। ऐसे सर्व-गुण-सम्पन्न महापुरुष वीतराग देव धन्य हैं। १।

सत्पुरुष

धन्य हैं वे सत जन, जिन्होंने अपने कंधे पर धर्म का धुरा धारण किया है जो अहिंसा सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पाँच महाव्रतों का भार वहन करते हैं रात दिन आत्मा या परमात्मा का ध्यान करते हुए—मन को एकाग्र करके समाधि में लीन रहते हैं, जिन्होंने जगत् के प्रपंच भर व्यवहारों को तिलाञ्जलि दे दी है, जो स्वयं संसार-समुद्र से तरते हैं और स्वयं शान्ति सुधा का पान करते तथा दूसरों को कराते हैं। ऐसे सत पुरुष—मुनिजन धन्य हैं। (२)

देश सेवक

जो निस्वार्थ भाव से अपने देश समाज, धर्म या आत्मा की सेवा में सदा तत्पर रहते हैं, किसी प्रकार की स्वार्थ-भावना को स्थान नहीं देते देश, समाज, धर्म और आत्मा की उन्नति के कारणों पर

विचार करते रहते हैं, न्याय और नीति के पथ पर अटल रह कर तन, मन और धन से उन्नति सदा रजा कर समाज के नायक बने हैं, ऐसे निस्वार्थ पुरुष धन्य हैं। (३)

श्रावक

धर्म के प्रति जिनकी निश्चय श्रद्धा है, जो समस्त वस्तुओं से धर्म को पहला पद देते हैं, धर्म में जिनकी इतनी दृढ़ता है कि कोई भी शक्ति उन्हें धर्म से विचलित नहीं कर सकती जिन्होंने श्रावक के बारह व्रत अंगीकार कर लिये हैं, कुटुम्ब का पोषण करने के लिये व्यवसाय करते हुए जो भी अन्याय के एक पैसे की भी चाहना नहीं रखते, इन गुणों के गेह इस थी-श्रावकों को धन्य है। (४)

परोपकारी पुरुष

जो किसी भी प्रसंग में असत्य वचन नहीं बोलते, सत्य के भोग-त्याग में लाखों की प्राप्ति हो तो भी ठुकरा देते हैं, किन्तु सत्य का कभी त्याग नहीं करते, पर-स्त्री को माता सदृश मानते हैं, प्रकृति के सरल और भद्रिक होते हैं, जो अहोरात्रि गुण-ग्रहण तथा परोपकार में कुशल होते हैं, ऐसे परोपकारी पुरुष भी धन्यावाद के पात्र हैं ॥ ५ ॥

दानी लोग

जो न्याय से प्राप्त लक्ष्मी को भण्डार में गुप्त न रख कर श्रेष्ठ मार्ग-कार्य में व्यय करते हैं, सम्पत्ति का व्यय लोक दिखावे के लिये नहीं करते, किन्तु गुप्तदान देकर पुण्य का सञ्चय करते हैं, दुःखी, दीन, और अपंग मनुष्यों की पूर्ति सहायता कर उनके दुःखों को विच्छेद

करते हैं, ऐसे उदार दाता भी इहलोक में धन्यवाद के पात्र हैं ॥ ६ ॥

मार्गानुसारी

जो सबके साथ भ्रातृभाव रखते हैं, सत्पुरुषों के नीति-मार्ग का कभी उल्लंघन—अतिक्रमण-नहीं करते अर्थात् व्यवसाय में पूर्णतया नीति की रक्षा करते हैं, अपने कुल के रीति-रिवाज, सदाचार और धर्म का पूर्ण रीति से पालन करते हैं, जिनके हृदय मे पद-पद पर अधर्म और अनीति का भय उपस्थित रहता है, ऐसे मार्गानुसारी पुरुषों और ग्रन्थ मे कहे हुए मार्गानुसारी के ३५ गुणों से युक्त पुरुषों को भी धन्य है।

उपसंहार

मेरे मित्र हों या शत्रु, चाहे कोई हों—समस्त जन सुखी हों, उनका प्रति दिन अभ्युदय हो, सद्बुद्धि की प्रेरणा से सन्मार्ग में प्रवृत्त हों, ऐसा होने पर कर्म की हानि के साथ जग से दु:ख का सर्वथा विलय हो। सर्वत्र सुख और गुण के प्रचार में ही मेरे हृदय की प्रसन्नता हो। इसमें ही मेरा अप्रतिम—अनुपम—आह्लाद है। इस श्रेणी से ही मेरी प्रमोद भावना विकसित होगी। किम्बहुना, ससार में सुख और गुण का ही साम्राज्य स्थापित हो।

इति प्रमोद भावना।

करुणा भावना

राग—आशावरी। ताल—त्रिताल

करुणे! एहि दादम्यवकाशं।
कुरु जनदुःखविनाशम्॥ करुणे॥ ध्रुवपदम्।

पितृवियुक्ता बहवो बाला।
लभन्ते न निवासम्॥
आश्रयहीनेभ्यस्तेभ्यस्त्वं।
देहि गृहं वाऽऽश्वासम्॥ करुणे॥ १॥

पुत्रवियुक्ता वृद्धा पितरौ।
निरन्तरं विलपन्ति॥
जीवननिर्वाहार्थमपि ते।
साहाय्यं वाञ्छन्ति॥ करुणे॥ २॥

बाल्येऽपि वैधव्यं प्राप्ता।
मुञ्चन्त्यश्रुधाराः॥
स्थापय विधवाश्रमं तदर्थम्।
रक्ष सुशिक्षयाद्वारा॥ करुणे॥ ३॥

जन्मान्धा बधिरा मूका वा ।
सीदन्त्यशनविहीनाः ॥
अन्धबधिर शाला संस्थाप्य ।
रक्ष्या एते दीनाः ॥ करुणे ॥ ४ ॥

रक्त पित्तकुष्ठादिरोगैं
ग्रस्ता केचिद्रंकाः ॥
तत्तद्भिषगालय द्वारा ता-
नवेहि कटुविपाकान् ॥ करुणे ॥ ५ ॥

धीमन्तोऽध्येतुमिच्छन्ति ।
कुलीना दीनसुता ये ।
परन्त्वशक्ता विना सहायं ।
पोष्या विद्यार्थिनस्ते ॥ करुणे ॥ ६ ॥

पीड्यन्ते पापैं पशवो ये ।
पतत्रिणो वा धरायाम् ॥
मोचय रक्षक शासनतस्तान् ।
निधेहि पशु शालायाम् ॥करुणे ॥ ७ ॥

पश्यसि यद्यत्करुणापात्रं ।
रक्ष रक्ष तत्सर्वं ॥
धनेन मनसा वचस तन्वा ।
विहाय विफलं गर्वम् ॥ करुणे ॥ ८ ॥

करुणा भावना

भावार्थ—करुणा भावना का इच्छुक कहता है कि हे करुणे ! तू मेरे पास आ। मै अपने हृदय मे तेरे योग्य कोमल जगह प्रदान करूगा। इस जगह मे निवास कर, उदारता की बाजू मे धर दु:खी, दीन और लाचार मनुष्यों के दु खों का विनाश कर।

अनाथ बालक

हे करुणे ! यदि तू सच्ची है तो कितने ही बालक अपने मां-बाप से वियुक्त होते हैं। रक्षक मां-बाप और निवास-स्थान के न होने पर इधर-उधर भटकते हैं। आश्रयहीन उन अनाथ बच्चों के लिये निवास-स्थान बना और आश्वासन प्रदान कर। ओर्फनेज वा अनाथाश्रम सदृश संस्थाओं का आविर्भाव कर। यदि हाथ से स्वयं कार्य न कर सके तो चालू संस्थाओं की मदद कर, उन्हें कुछ सहायता पहुँचा।

वृद्ध माँ-बाप

हे करुणे ! कितने ही वृद्ध मां-बाप जिनकी उम्र ६०—७०—८० अथवा ६० वर्ष की हो जाती है, जब उनके युवक पुत्र इहलोक छोड़कर परलोकवासी हो जाते हैं तब पुत्र वियोगी मां-बाप घर के कोने में बैठे महान् रुदन करते हैं। कितने ही वृद्ध आधार रूप पुत्र की मृत्यु होने से आजीविका के बिना दु खी दृष्टिगोचर होते हैं। भूख और दु:ख दोनों से पीडित वृद्ध जीवन-निर्वाह के लिये आर्थिक सहायता की आकांक्षा रखते हैं। हे करुणे! मेरे हृदय में निवास कर, वृद्ध पुरुषों की भी सहायता कर।

विधवायें

हे करुणे ! कितनी ही बालिकायें अल्पावस्था मे ही पति के सौभाग्य से वंचित होकर विधवा और निराधार हो पड़ी रहती हैं । कितनी ही सहायक पति बिना श्वश्रु, श्वसुर तथा अन्य समस्त मनुष्यों को अप्रिय मालूम पड़ती हैं । ननदों के मार्मिक वचन उनके हृदयों को वेध (विंध) देते हैं । पठन-पाठन का ज्ञान न होने से स्वाध्याय किये बिना केवल अफसोस करने में ही अपने दिन व्यतीत कर देती हैं और एकान्त मे बैठ अश्रुधारा बहाती हैं । उनके लिए विधवाश्रम स्थापित कर, जिनमें कि सुयोग्य शिक्षण प्राप्त करें । और वाचन—स्वाध्याय में ही दु ख विसर्जन करें तथा सतियों के चरित्रों को पढ़कर उनके पदानुसार चलें जिससे उनके इहलोक और परलोक सुधर जायँ ।

अपंग

हे करुणे ! कितने ही मनुष्य जन्म से ही अन्धे होते हैं, कितने ही जन्म से बहरे होते हैं, कितने ही मूक, लूले और पंगु होते हैं । एक तो बेचारे आँख, कान, जिह्वा, हाथ तथा पाँव की न्यूनता से शारीरिक दुःख भोगते हैं। फिर भी उन पर भोजन की तंगी और दरिद्रता का हमला होता है, अर्थात् दो प्रकार के दुःख से दुखित होते हैं। उनके रक्षण के लिये अंधशाला, बधिरशाला तथा मूकशाला जैसी संस्थायें स्थापित कर चालू संस्थाओं मे भाग ले—किसी भी तरह उनका रक्षण कर ।

रक्त पित्त रोगी

हे करुणे ! कोई कोई कोढ़ से गलितांग होते हैं अर्थात् जिनके

कोढ के घावों से पीप-रस्सी-निकला करती है। अथवा रक्त-पित्त सदृश चेंपीदर्द से दुखित होते है, जिससे कोई भी उनका स्पर्श नहीं करता और न कोई उन्हें पास बैठने देता है, ठीक तरह से उनसे कोई बात भी नहीं करता। इस तरह तिरस्कृत होकर भूख से सतत इधर उधर घूमते हैं। उनको आरोग्य प्रदान करने के लिए औषधालय अथवा आश्रम स्थापित कर, उनको तीक्ष्ण विपाक से बचा—जिस तरह उनका दु.ख दूर हो, ऐसे साधन प्रदान कर—उनको आश्रय दे।

विद्यार्थी और ज्ञानदान

हे करुणे! कितने ही उच्च खानदान—कुटुम्ब के बालक भी दरिद्रता के कारण बुद्धिमान और अध्ययन की उत्कट इच्छा होने पर भी स्कूल-फीस और पठन-सामग्री के अभाव से पढने की अभिलाषा पूर्ण करने मे अशक्त होते हैं। विद्या और भाग्य के चमकने सितारे उदय होने के पूर्व अस्त को प्राप्त हो जाते है। उन सितारों को जीवित रखने क लिए—चमकाने के लिए पोषण अथवा सहायता प्रदान करने की क्या कम आवश्यकता है। नहीं, उनकी भी अपनी शक्ति के अनुसार मदद कर।

पशु-पक्षी

हे करुणे! मानवी आवश्यकता पूर्ण करने के पश्चात्—सहायता देने के बाद अवशिष्ट शक्ति का सदुपयोग पशु-पक्षियों के बचाने में करना चाहिए। अहा! कितने ही क्रूर-पापी पुरुष बिना अपराध के ही पशुओं को पीड़ा पहुचाते हैं, शिकार करते हैं, माँस के लिये उन के गले काटते हैं, गोली अथवा पत्थर फेंक कर आकाश में उड़ते पक्षियों को नीचे गिरा

देते हैं; ऐसे नियम बना, जिस मे उन का रक्षण हो। पापियों को समझाने के लिये पुस्तकों का निर्माण कर अथवा उपदेश दे कर पीडित पशुपक्षियों को बचा और उनके रक्षण के लिये पिंजरापोल पशु-शालाए जैसी संस्थाए स्थापित कर—उन में अशक्त पशुओं का अच्छी तरह रक्षण कर।

उपसंहार

हे करुणे! इस जगत् में करुणा करने लायक अनेक प्राणी हैं। सम्पूर्ण प्राणियों के नाम नहीं लिख सकते। थोडे में इतना ही कहता हूँ कि जहाँ जहाँ जो कोई दु खी मनुष्य अथवा पशु-पक्षी, कोई प्राणी दृष्टिगोचर हो, वहा उन का रक्षण कर। धन हो तो, धन से, मनोबल हो तो मनोबल से, वाचालता हो तो वचन—उपदेश से। यदि पास कुछ न हो तो, अहत्व को त्याग कर शरीर से रक्षा कर।

इति करुणा भावना।

माध्यस्थ्य भावना

राग—भैरवी। ताल—त्रिताल

माध्यस्थ्येऽहो कोऽप्यपूर्वोरसः ॥ ध्रुवपदम् ॥

रागद्वेषान्दोलनजनका ।
प्रचुरा भुवि पदार्था. ॥
समय सौख्ये समय दुःखे ।
भ्रामयन्ति जनसार्थान् ॥ माध्यस्थ्ये ॥ १ ॥

स्याद्यदि किञ्चित्स्थायि वस्तु ।
तत्र रुचि. स्यादुचिता ॥
नास्ति स्थिरं किञ्चिदपि दृश्यम् ।
तस्मात्स्यात् साऽनुचिता ॥ माध्यस्थ्ये ॥ २ ॥

पुद्गलमात्रं परियाति शीलं ।
द्वेष्यं भवति रोच्यम् ॥
नातो द्वेषः कार्यः कदापि ।
नापि मनसा शोच्यम् ॥ माध्यस्थ्ये ॥ ३ ॥

पुरुषा अपि परिवर्तनशीलाः ।
नैक स्वभावाः सन्ति ॥
धर्मिणोऽपि भवन्त्यधर्मिणः ।
ते धर्मिणो भवन्ति ॥ माध्यस्थ्ये ॥ ४ ॥
क्रूरोपि प्रदेशी भूपतिः ।
जातो, न किं दृढधर्मा ॥
दृढधर्मापि जमालिरजायत ।
मिथ्यावादी, कुकर्मा ॥ माध्यस्थ्ये ॥ ५ ॥
अनुकूलं वा प्रतिकूलं वा ।
स्यादिष्टं वाऽनिष्टम् ॥
माध्यस्थ्येन भाव्यमुभयथा ।
मान्यं सर्वमभीष्टम् ॥ माध्यस्थ्ये ॥ ६ ॥
यद्यत्सम्यग् यद्यदसम्यक् ।
तत्तत्कर्मानुसारि ॥
व्यर्थो रागो द्वेषस्तत्र ।
कस्मात्कर्माकारि ? ॥ माध्यस्थ्ये ॥ ७ ॥
शिक्षा तावद्देयाऽघमानां ।
यावत्तेषामुपेक्षा ॥
क्लेषद्वेषधिक्कारसंभवः ।
कार्या तत्रह्युपेक्षा ॥ माध्यस्थ्ये ॥ ८ ॥

भावार्थ—माध्यस्थ्य भावना में वास्तविक कोई अलौकिक रस आनंद होता है। यदि मनुष्य को माध्यस्थ्य भावना का अवलंबन न हो तो उसको कहीं भी शांति का स्थान नहीं मिल सकता, क्योंकि इस जगत् में जहां दृष्टि डालते हैं वहां मन को रागद्वेष के आंदोलन भटकाने वाले अनेक पदार्थ हैं। ये मोहक पदार्थ मनुष्य को कभी सुख तो कभी दुःख में घुमाते हैं, क्योंकि पदार्थों का संयोग और वियोग होने का धर्म है। संयोग में सुख तो वियोग में दुःख उत्पन्न करते हैं। अर्थात् सुख-दुःख के सङ्कल्प-विकल्प में अस्थिरता होने से शांति नहीं मिलती। इसलिये माध्यस्थ्य भाव से रहना चाहिए कि जिसमें अशांति दूर हो ॥ १ ॥

क्यों राग-द्वेष करते हैं ?

इस जगत् में कोई भी वस्तु स्थायी-स्थिर हो—कायम रहने वाली हो तो उस पर राग करना या प्रेम करना किसी अपेक्षा से योग्य उचित है, किन्तु कोई वस्तु ऐसी है ही नहीं। दृश्य और भोग्य पदार्थ मात्र अस्थिर-विनश्वर हैं। अल्प समय पश्चात् वियोग अवस्था प्राप्त पदार्थ पर आसक्ति करना ही दुःख का कारण है, इसलिये सुखार्थी को ऐसा करना उचित नहीं। जिस प्रकार राग करने योग्य पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार द्वेष करने योग्य भी पदार्थ नहीं। जिस पदार्थ पर द्वेष किया जाता है, वह पदार्थ भी स्थिर नहीं। क्योंकि पुद्गलमात्र परिणति स्वभाव वाले हैं। जो एक वक्त अरोचक-द्वेष युक्त ज्ञात होता है वही कालान्तर रोचक बन जाता है। जो अप्रिय है, वही कालान्तर में प्रिय

हो जाता है। इसलिये किसी पर द्वेष धारण करना भी उचित नहीं और न पदार्थ के लाभालाभ में शोच करना ही उचित है। अति आसक्ति तथा द्वेष भी नहीं करना, किन्तु दोनों अवस्थाओं में माध्यस्थ्य भाव से रहना चाहिए॥ २ ॥ ३ ॥

वस्तु सदृश मनुष्य के साथ भी राग द्वेष न करना

मनुष्य भी हमेशा एक स्वभाव वाला नहीं रहता, वह भी परिवर्तन स्वभाव वाला है। जो अधर्मी होता है वह धर्मी बन जाता है और धर्मी अधर्मी, न्यायशील अन्यायी और अन्यायी न्यायशील बन जाता है। सुकर्मी कुकर्मी और कुकर्मी सुधर कर सुकर्मी बन जाता है। बुरा समझ कर जिस पर राग-द्वेष किया जाता है वही पुरुष कालान्तर में श्रेष्ठ बन जाय तो क्यों उस पर द्वेष किया जाय ॥४॥

दृष्टान्त

उपरोक्त वार्ता केवल मौखिक नहीं किन्तु शास्त्र भी उनकी पुष्टि में दृष्टान्त बतलाते हैं। देखो, रायपसेणी सूत्र में परदेशी राजा का अधिकार है। परदेशी राजा पूर्व कितना बुरा था ! हिंसक, क्रूर, घातक, जुल्मी, नास्तिक धर्म-द्रोही आदि समस्त अवगुणों से परिपूर्ण था किन्तु केशी मुनि का संग होते ही सुकर्मी बनने में कुछ भी समय न लगा। क्रूरता, नास्तिकता इत्यादि दोष एक क्षण में जाते रहे और उनके स्थान में सद्गुणों का निवास हुआ। इससे विपरीत जमाली मुनि जिन्होंने पूर्ण वैराग्य से दीक्षा ली, ग्यारह अंग (शास्त्रों) का अध्ययन किया, मुनियों के गुण में एक चमकते सितारे थे किन्तु श्रद्धा विपरीत हुई,

उपकारी के उपकार को भूल गये, विपरीत प्ररूपणा कर मिथ्यात्वकी भूमिका पर गिरे। तब अच्छे गुणों की क्या गणना रही? किसके ऊपर राग और किसके ऊपर द्वेष किया जाय? दोनों में से एक भी उचित नहीं गुण ग्रहण करना, दोष त्यागना तथा उपेक्षणीय पदार्थ पर उपेक्षा करना। किसी का तिरस्कार न करना, इसी प्रकार द्वेष भी न करना उचित है। सब को कर्मानुसार प्रकृति (स्वभाव) मिली है, दूसरों को सिर खपाने की जरूरत नहीं। जहां तक हो सके सच्ची सलाह देना अन्यथा तटस्थ रहना चाहिये ॥५॥

अच्छे और बुरे संयोगों में मध्यस्थता

बाह्य संयोग भी परिवर्तनशील हैं। घड़ी में अनुकूल तथा घड़ी में प्रतिकूल होते हैं। एक वक्त पुत्र की प्राप्ति होती है तो दूसरी वक्त मृत्यु होने से उसका वियोग। एक वक्त व्यापार में लाभ की प्राप्ति होती है तो दूसरी वक्त हानि। संयोग रूपी पवन से ध्वजा तुल्य इधर उधर घूमते हैं। जो मनुष्य एक बार इष्ट (प्रिय) होता है वही दूसरे वक्त अप्रिय (अनिष्ट) हो जाता है। इस परिस्थिति में मनुष्य को माध्यस्थ्य भाव का त्याग न करना चाहिए। एक ही सिद्धांत रखना चाहिए कि जो प्राप्त होवे अभीष्ट है। अच्छा और बुरा यह मन की मान्यता है। मान्यता अच्छी रखने से भला होता है ॥६॥

कर्मानुसारी फल

जो अच्छे संयोग और जो बुरे संयोग मिलते हैं वे किसी दूसरे के दिये हुए नहीं, उन में ईश्वर अथवा किसी का हाथ नहीं, किंतु वे सब अपने पूर्व कर्म के अनुसार मिले हैं। शुभ कर्म से शुभ संयोग और

अशुभ कर्मों से अशुभसयोग मिलते हैं। फिर उन में हाय, हाय करना अथवा राग द्वेष करके विलाप करना अनुचित है। कर्म का सचय करते वक्त क्यों नहीं किया ! यदि अशुभ संयोगों के साथ सम्बध नहीं होता तो पूर्व अशुभ कर्मों का सचय नहीं। किया, यदि कर्मों का संचय किया तो साम्य भाव रख कर कर्मों का परिणाम शांत हृदय से भोगना चाहिए। उस में हर्ष शोक करना मूर्खता है ॥७॥

परोपदेश

जो नीच और अधर्मी हों, उन्हें सुधारने के लिये सलाह अथवा उपदेश दो लेकिन तब तक, जब तक उसे सुनने की कुछ अपेक्षा हो। यदि सन्मुख रहे हुए मनुष्य को द्वेष पैदा हो और स्वयं भी उससे तिरस्कृत हो तथा उससे दोनों के मध्य में क्लेश वृद्धि की सभावना हो तो वहाँ उपदेश त्याग कर मौनव्रत धारण करना—यही उचित है।

इति माध्यस्थ्य भावना

॥ वसन्त तिलकावृत्तम् ॥

सद्भावना शतक शेखर रूपपद्यै-
र्येश्चतुर्भिरुपवर्णित मात्मशान्त्यै ॥
रत्नत्रयोच्छ्रयकरं शुभभावनाना-
मह चतुष्टयमहो जयताज्जगत्याम् ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः